प्रमाणादर्थससिद्धिस्तदाभासाद्विपर्यय ।
इतिवक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्प लघीयस ।
परीक्षामुखमादर्श हेयोपादेयतत्त्वयो ।
सविदे मादृशो वाल. परीक्षादक्षवद् व्यधाम् ॥

आद्य श्लोकमें ग्रन्थ प्रयोजन तथा उसकी रचनाकी प्रतिज्ञा की है । और प्रतिज्ञानुसार ग्रन्थ रचना की है । सूत्रकारने हेय–उपादेय तत्त्वका यथाय बोध कराने के लिए परीक्षकके समान दर्पण कृतिवत् बनाई ।

प्रतिपाद्य विषय —प्रथम परिच्छेदमें १३ सूत्रो द्वारा प्रमाणका स्वरूप तथा प्रमाणके प्रामाण्यके स्वतस्तत्व परतस्तत्वका निर्णय किया है द्वितीय परिच्छेदमें प्रमाण के प्रत्यक्ष परोक्ष दो भेद बताये हैं । प्रत्यक्षके साव्यवहारिक तथा मुख्य भेदोको १२ सूत्रोंसे प्रतिपादन किया है । तृतीय परिच्छेदमें परोक्ष प्रमाणके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगमका १०१ सूत्रोंमें कथन है । चतुर्थमें ६ सूत्रों द्वारा प्रमाणके विषय सामान्यविशेषात्मकको समझाया है । सामान्य विशेषके भेद भी दर्शायें हैं । पाचवें परिच्छेदमें ३ सूत्रों द्वारा प्रमाणका फल साक्षात्, अज्ञाननिवारण, परम्परा दान-उपादान उपेक्षा कहकर उसे प्रमाणसे कथचित् भिन्न अभिन्न सिद्ध किया है । छठे परिच्छेदोंमें प्रत्यक्षाभास परोक्षाभासका स्वरूप बताकर जय–पराजय व्यवस्था बताई है । इसमें ७४ सूत्र हैं । इस प्रकार इस ग्रन्थमें जैन न्यायके सभी मौलिक ग्राह्य विषयोका पूर्ण व्यवस्थित चयन हुआ है ।

न्याय विषयके ऐसे कठिन दार्शनिक विषयका आध्यात्मिक सम्बन्ध दिखाकर न्यायादि अनेक विषयके पारखी, मनीषी विद्वान् श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजने परीक्षामुखसूत्रप्रवचन द्वारा सरल सुबोध स्पष्ट किया है । समयसारादि अनेक ग्रन्थोपर प्रवचन करने वाले विद्वानके प्रौढ़ ज्ञानने इसे दुरूहतासे बचाया है जो कि न्याय विषयक गम्भीर अध्ययन चिन्तन एवं सुयोग्य विद्वत्ताका ही सुन्दर मधुर फल है । न्यायविषयक क्षेत्रमें तत्त्व निर्णयका आधार प्रमाण ही होता है । इसलिये प्रमाण और प्रामाण्यकी परीक्षा करना अत्यावश्यक है । इन प्रवचनों द्वारा लोकमें प्रमाणविषयक विपरीत धारणायें दूर होगी ।

मुझे इन प्रवचनोका प्रूफ शोधनका अवसर मिला है । मैं आशा करता हू कि आध्यात्मिक तत्त्वके विज्ञ रसिक जन इनके स्वाध्याय द्वारा लाभ उठायेंगे ।

—देवचन्द जैन, एम० ए०

परीक्षामुखसूत्रप्रवचन

[२४, २५, २६ भाग]

●

प्रवक्ता :

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक

श्री मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' जी महाराज

●

सम्पादक :

पं० देवचन्द जी शास्त्री, सहारनपुर

●

प्रबन्ध-सम्पादक :

बैजनाथ जैन, ट्रस्टी सदस्य सहजानन्द शास्त्रमाला

यादगार बड़तला, सहारनपुर

●

प्रकाशक :

मंत्री, सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ

●

मुद्रक :

पं० काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित'

साहित्य प्रेस, सहारनपुर

●

१९६६] [न्यौछावर ५ रु

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक महानुभाव—

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ संरक्षक, अध्यक्ष एवं प्रधान ट्रस्टी

(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी, धर्मपत्नी श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन बैंकर्स, सदर मेरठ, संरक्षिका

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके प्रवर्तक महानुभाव—

१	श्रीमान् लाला लालचन्द जी जैन सर्राफ		सहारनपुर
२	,,	सेठ भवरीलाल जी जैन पाण्ड्या	झूमरीतिलैया
३	,,	कृष्णचन्द जी रईस	देहरादून
४	,,	सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या	झूमरीतिलैया
५	,,	श्रीमती सोबती देवी जैन	गिरीडीह
६	,,	मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन	मुजफ्फरनगर
७	,,	प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन प्रेमपुरी	मेरठ
८	,,	सलेकचन्द लालचन्द जी जैन	मुजफ्फरनगर
९	,,	दीपचन्द जी जैन रईस	देहरादून
१०	,,	बारूमल प्रेमचन्द जी जैन	मसूरी
११	,,	बाबूराम मुरारीलाल जी जैन	ज्वालापुर
१२	,,	केवलराम उग्रसैन जी जैन	जगाधरी
१३	,,	गेंदामल दगडू शाह जी जैन	सनावद
१४	,,	मुकन्दलाल गुलशनराय जी जैन नई मण्डी	मुजफ्फरनगर
१५	,,	श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन	देहरादून
१६	,,	जयकुमार वीरसैन जी जैन सर्राफ	सदर मेरठ
१७	,,	मंत्री दिगम्बर जैन समाज	खण्डवा
१८	,,	बाबूराम अकलङ्कप्रसाद जी जैन	तिस्सा
१९	,,	विशालचन्द जी जैन रईस	सहारनपुर
२०	,,	हरीचन्द ज्योतिप्रसाद जी जैन ओवरसियर	इटावा
२१	,,	सौ० प्रेम देवीशाह सु० बा० फतेहलाल जी जैन संघी	जयपुर
२२	,,	मंत्राणी दिगम्बर जैन महिला समाज	खण्डवा
२३	,,	सागरमल जी जैन पाण्ड्या	गिरीडीह
२४	,,	गिरनारीलाल चिरञ्जीलाल जी जैन	गिरीडीह
२५	,,	राधेलाल कालूराम जी जैन मोदी	गिरीडीह
२६	,,	फूलचन्द बैजनाथ जी जैन नई मण्डी	मुजफ्फरनगर
२७	,,	सुखबीरसिंह हेमचन्द जी जैन सर्राफ	बड़ौत
२८	,,	गोकुलचन्द हरकचन्द जी जैन गोधा	लालगोला
२९	,,	दीपचन्द जी जैन-सुपरिन्टेन्डेण्ट इञ्जीनियर	कानपुर

३०	श्रीमान् लाला	मत्री दि० जैन समाज नाई की मण्डी	आगरा
३१	,,	सचालिका दि० जैन महिलामण्डल नमककी मण्डी	आगरा
३२	,,	नेमिचन्द जी जैन रुडकी प्रेस	रुडकी
३३	,,	झब्बनलाल शिवप्रसाद जी जैन चिलकाना वाले	सहारनपुर
३४	,,	रोशनलाल के० सी० जैन	सहारनपुर
३५	,,	मोल्हडमल श्रीपाल जी जैन, जैन वेस्ट	सहारनपुर
३६	,,	शीतलप्रसाद जी जैन	सदर मेरठ
३७	,,	ꕥ जीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छावडा	झूमरीतिलैया
३८	,,	ꕥ इन्द्रजीत जी जैन वकील स्वरूपनगर	कानपुर
३९	,,	ꕥ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बडजात्या	जयपुर
४०	,,	ꕥ दयाराम जी जैन आर ए डी ओ	सदर मेरठ
४१	,,	ꕥ मुन्नालाल यादवराम जी जैन	सदर मेरठ
४२	,,	+ जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन	सहारनपुर
४३	,,	+ जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन	शिमला
४४	,,	+ बनवारीलाल निरञ्जनलाल जी जैन	शिमला

नोट.—जिन नामोके पहिले ꕥ ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आये हैं शेष आने हैं। तथा जिनके पहिले + ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यताका रुपया अभी तक कुछ नही आया, सभी बाकी है।

सम्पादकीय

जैन न्यायके महान् प्रतिष्ठापक कुशाग्रबुद्धि तार्किकशिरोमणि वादीभकेशरी श्री समन्तभद्र श्री अकलङ्कदेव आदि महापुरुषोने जैन न्यायके मौलिक तत्त्वोकी समीचीन विवेचना आप्तमीमासा, प्रमाणसग्रह, न्यायविनिश्चयादि कारिकात्मक रचनाओंके द्वारा की। जैनदर्शनके प्रणेता भगवान उमास्वामीके दार्शनिक शास्त्र श्री तत्त्वार्थसूत्र के सदृश जैन न्यायका सूत्रबद्ध करने वाली "जैन न्याय सूत्र ग्रन्थ" जैन परम्परामें नही बन पाया था। इसी कमीके आचार्यप्रवर श्री माणिक्यनन्दीने आचार्य स्मृति-परम्परासे आये हुए जैन न्यायरूप सागरको परीक्षामुखसूत्ररूप गागरमे पूर्ण करके जैन न्यायका गौरव बढाया है। यह जैन न्यायका प्राथमिक सूत्रग्रन्थ है जो कि भारतीय न्याय विषयक कृतियोमे अद्वितीय है।

यह ग्रन्थ ६ परिच्छेदोमे विभाजित है। इसके सूत्रोकी सख्या २१२ है। ये सूत्र सरल, विशद एव नपे-तुले हैं। वस्तु विचारमे अति गम्भीर अन्तस्तलस्पर्शी तथा अर्थ-गौरवसे ओत प्रोत हैं। सभी सूत्र सस्कृत गद्यमे हैं, किन्तु उनके आदि अन्तमें एक २ श्लोक हैं —

प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः ।
इतिवक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्प लघीयसः ।
परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयोः ।
संविदे मादृशो बाल परीक्षादक्षवद् व्यधाम् ॥

आद्य श्लोकमे ग्रन्थ प्रयोजन तथा उसकी रचनाकी प्रतिज्ञा की है । और प्रतिज्ञानुसार ग्रन्थ रचना की है । सूत्रकारने हेय-उपादेय तत्त्वका यथार्थ बोध कराने के लिए परीक्षकके समान दर्पण कृतिवत् बनाई ।

प्रतिपाद्य विषय —प्रथम परिच्छेदमें १३ सूत्रो द्वारा प्रमाणका स्वरूप तथा प्रमाणके प्रामाण्यके स्वतस्तत्व परतस्तत्वका निर्णय किया है द्वितीय परिच्छेदमें प्रमाण के प्रत्यक्ष परोक्ष दो भेद बताये हैं । प्रत्यक्षके सांव्यवहारिक तथा मुख्य भेदोको १२ सूत्रोसे प्रतिपादन किया है । तृतीय परिच्छेदमें परोक्ष प्रमाणके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगमका १०१ सूत्रोंमें कथन है । चतुर्थमें ६ सूत्रों द्वारा प्रमाणके विषय सामान्यविशेषात्मकको समझाया है । सामान्य विशेषके भेद भी दर्शायें हैं । पाचवें परिच्छेदमें ३ सूत्रो द्वारा प्रमाणका फल साक्षात्, अज्ञाननिवारण, परम्परा हान-उपादान उपेक्षा कहकर उसे प्रमाणसे कथंचित् भिन्न अभिन्न सिद्ध किया है । छठे परिच्छेदोंमे प्रत्यक्षाभास परोक्षाभासका स्वरूप बताकर जय-पराजय व्यवस्था बताई है । इसमें ७४ सूत्र हैं । इस प्रकार इस ग्रन्थमें जैन न्यायके सभी मौलिक ग्राह्य विषयोका पूर्ण व्यवस्थित चयन हुआ है ।

न्याय विषयके ऐसे कठिन दार्शनिक विषयका आध्यात्मिक सम्बन्ध दिखाकर न्यायादि अनेक विषयके पारखी, मनीषी विद्वान् श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजने परीक्षामुखसूत्रप्रवचन द्वारा सरल सुबोध स्पष्ट किया है । समयसारादि अनेक ग्रन्थोपर प्रवचन करने वाले विद्वानके प्रौढ़ ज्ञानने इसे दुरूहतासे बचाया है जो कि न्याय विषयक गम्भीर अध्ययन चिन्तन एवं सुयोग्य विद्वत्ताका ही सुन्दर मधुर फल है । न्यायविषयक क्षेत्रमें तत्त्व निर्णयका आधार प्रमाण ही होता है । इसलिये प्रमाण और प्रामाण्यकी परीक्षा करना अत्यावश्यक है । इन प्रवचनो द्वारा लोकमें प्रमाणविषयक विपरीत धारणायें दूर होंगी ।

मुझे इन प्रवचनोंका प्रूफ शोधनका अवसर मिला है । मैं आशा करता हू कि आध्यात्मिक तत्त्वके विज्ञ रसिक जन इनके स्वाध्याय द्वारा लाभ उठायेंगे ।

—देवचन्द जैन, एम० ए०

●

परीक्षामुखसूत्रप्रवचन

[चतुर्विंश भाग]

प्रवक्ता— पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द महाराज'

प्रमाणके फलके निरूपणमे अज्ञाननिवृत्तिरूप फलका विवरण— प्रमाणका स्वरूप, प्रमाणके भेद और प्रमाणके विषयको बताकर अब प्रमाणके फलके सम्बन्धमे जो दार्शनिकोंका विवाद हो रहा है उसके निराकरणके लिए सूत्र कहते हैं।

अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ॥५-१॥

प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च ॥५-२॥

अज्ञाननिवृत्ति त्याग, ग्रहण, और उपेक्षा ये चार प्रमाणके फल हैं और ये प्रमाणके फल प्रमाणसे अभिन्न हैं और भिन्न भी हैं। अज्ञान निवृत्तिका अर्थ है अजानकारीसे हट जाना। त्यागका अर्थ है जानकारी होनेपर जिसमें अहित समझा गया उसका त्यागकर देना और जिसमें हित समझा गया उसको ग्रहण कर लेना, और, जो एक केवल जानन मात्रके लिए हुआ हित अहितका उनमें विशेष सम्बन्ध नहीं उसकी उपेक्षा करना, ये चार प्रमाणके फल हैं। अपनी यथार्थ जानकारी करने पर ज्ञाता पुरुषको क्या फल प्राप्त होता है, किस प्रयोजनके लिए वह जानकारी है उसका यह विवरण है। इन चार फलोंमें अज्ञाननिवृत्ति तो प्रमाणसे अभिन्न फल है, क्योंकि कुछ बाह्य विषयक इनमें प्रवृत्ति निवृत्ति नहीं है, केवल एक अज्ञान हट गया है। जब ज्ञानका उदय हुआ तो उस यथार्थ जानकारीके प्रकाशमें अज्ञान अंधेरा न रह सका। तो अज्ञान अंधेरा न रहना अथवा कहो अज्ञान निवृत्ति ये प्रमाणसे अभिन्न फल है।

प्रमाण फलमे अज्ञान निवृत्तिथी और शका उसका समाधान—शकाकार कहता है कि अज्ञान निवृत्ति तो प्रमाणभूत ज्ञान ही है, ज्ञान कहो या अज्ञान निवृत्ति कहो, ज्ञान हीका तो स्वरूप बताया गया है अज्ञान निवृत्ति कहकर अर्थात् जो अज्ञान भाव था उसकी निवृत्ति हो गई। तो यह तो प्रमाणभूत ज्ञान ही है। प्रमाणका ही स्वरूप हैं। प्रमाणकी बात प्रमाणका कार्य कैसे बन जायगा? कोई भी पदार्थ उस अपने ही पदार्थका कार्य है, यह कहना तो एक असगत सी बात है। फिर अज्ञान निवृत्ति प्रमाणका फल कैसे हो जायगा? समाधानमें कहते हैं कि यह शका असगत है, क्योंकि

अज्ञानके मायने हैं अज्ञप्ति । अर्थात् स्वरूप और परस्वरूपका व्यामोह होना । अपने सम्बन्ध मे और परके सम्बन्धमें व्यामुग्धता रहना, कुछ प्रकाश ही न हो सकना, बेहोशी होना, उस व्यामोहकी जो निवृत्ति है वही यथावत् स्वरूप और परस्वरूपकी ज्ञप्ति है । सो प्रमाण के धर्म होनेसे प्रमाणके साथ रूपसे माना जाय अज्ञान निवृत्ति, इसमे किसी प्रकारका विरोध नही होता । अज्ञान निवृत्ति प्रमाणका धर्म है । जब ज्ञान प्रमाण होता है तो अज्ञान निवृत्ति हो जाती है । तो ज्ञान प्रकाशका कार्य है अज्ञान निवृत्ति ।

दृष्टान्तपूर्वक अज्ञाननिवृत्तिमे प्रमाणकार्यत्वकी सिद्धि—जैसे कि प्रकाश होता है तो अंधकारकी निवृत्ति हो जाती है । अब उसमे कोई यह कहे कि अंधकारकी निवृत्ति प्रकाशके सद्भावरूप है । फिर प्रकाशका काम नहीं कह सकते अंधकारके हटनेको । इसे कौन मान लेगा ? सब व्यवहारी जनोको परिचय है कि प्रकाश कारण है और अन्धकारकी निवृत्ति कार्य है । वह प्रकाशका धर्म है कि अज्ञानकी निवृत्ति हो जाय, इस कारण प्रकाशका काय रूपसे जैसे अन्धकारकी निवृत्ति विरोधको प्राप्त नही होती इसी प्रकार प्रमाणका धर्म होनेसे अज्ञाननिवृत्ति प्रमाणके कार्यरूपसे विरोधको प्राप्त नहीं होती । यदि प्रमाणके अपने विषयमे अपने स्वरूपमे पदार्थोंके स्वरूप मे व्यामोह विच्छेद न हो । जैसे कि पहिलेसे प्रमाण और अर्थमें व्यामोह चल रहा था यदि उसका विच्छेद न हो तो वह तो निर्विकल्प दर्शन जैसी स्थिति है । और फिर सन्निकर्षमे कुछ विलक्षण स्थिति न रही तो उस प्रमाणमे प्रमाणता नहीं आ सकती प्रमाण और अज्ञाननिवृत्तिका भाव है ज्ञान होना और अज्ञानका हटना । यहाँ यह बतला रहे हैं कि ज्ञानका फल है अज्ञानका हटना और वह फल ज्ञानसे अभिन्न है । कुछ अलग नही बताया जा सकता कि ज्ञानसे जुदा यह है ला फल और यहाँ अलग पड़ा हुआ है । तो यद्यपि कुछ रूपमें ऐसा समझमे आता है कि ज्ञान होना और अज्ञानका हटना । बात तो एक ही कहा जा रही है और एक ही बातम फल कैसे माना जाय ? सत्वनका फल सत्व है इसका अर्थ क्या हुआ ? इसी तरह ज्ञानका फल अज्ञान निवृत्ति है । अज्ञाननिवृत्ति भी ज्ञानरूप ही तो है उसका अर्थ क्या हुआ ? यद्यपि ऐसा किसीके भी लगता होगा किन्तु कुछ विचार करनेपर जसे अन्धकार निवृत्ति ये दोनो भिन्न भिन्न से समें हैं इनका आशय जुदा–जुदा है । यहाँ कोई कहने लगे कि वाह प्रकाशका होना और अंधकारका मिटना, बात तो एक ही है, पर एक कहाँ है ? प्रकाश कारण है, अंधकारकी निवृत्ति कार्य है । और, भी यदि कुछ अभेदरूपसे देखो तो प्रकाश धर्मी है, अन्धकार निवृत्ति धर्म हो गया । तो ज्ञान धर्मी है, अज्ञाननिवृत्ति धर्म हो गया ।

धर्म धर्मीमे सर्वथा भेद व अभेदका प्रतिषेध—धर्म और धर्मीमे सर्वथा भेद अथवा अभेद नही बता सकते । सर्वथा अभेद कह दिया जाय तो शका ठीक है कि प्रमाणका फल अज्ञाननिवृत्ति न होना चाहिए, पर सर्वथा अभेद नही है । सर्वथा भेद कहा जाय तो यह अज्ञाननिवृत्ति प्रमाणका फल है यह भी नहीं कहा जा सकता ।

जैसे घट और पट । उनमे कहना कि पट घटका फल है तो इसका कोई अर्थ तो न रहा ? तो धर्म धर्मीमे सर्वथा भेद माननेपर भी बात नही बनती है । और सर्वथा अभेद माननेपर भी बात नही बनती । इस कारण कथञ्चित् भिन्न है कथंचित् अभिन्न धर्मी धर्म । और, वस्तुतः प्रमाणसे अभिन्न है अज्ञाननिवृत्ति । शंकाकार कहता है कि अज्ञाननिवृत्ति ज्ञान ही तो है इस कारण इन दोनोमे अभेद है क्योंकि अन्यथा अर्थात् अभेद न होता तो सामर्थ्य सिद्धता नही बन सकती । ज्ञान और अज्ञान निवृत्तिमे सामर्थ्य है । वह अभेदके बिना नहीं बन सकती है । इस कारण उन दोनोमे अभेद है । समाधानमे कहते हैं कि सर्वथा यह नहीं कह सकते क्योंकि भेदमे भी सामर्थ्य सिद्धत्वका होना अविरुद्ध है । आप भेद होनेपर भी सामर्थ्य सिद्धता देख लीजिये अथवा यो कहो कि भेद होनेपर ही सामर्थ्य सिद्धपना उपलब्ध होता है । जैसे कि निमन्त्रणमे किसीको आह्वान किया तो निमन्त्रयिता और निमन्त्र्य पुरुष वे दोनो भिन्न भिन्न हैं, तब ही सामर्थ्य समझा जा रहा है ।

भेद होनेपर सामर्थ्यसिद्धत्वकी सिद्धि - जो पुरुष ऐसा कहते हैं कि अभेद होनेपर ही सामर्थ्य सिद्धत्वकी बात जानी जाती है और इस कारण इसमें अभेद है तो ऐसा कहने वाले लोग हेतुके अन्वय और व्यतिरेकमें भेद कैसे सिद्ध कर सकते हैं ? अन्वय कहलाता है साध्यके होनेपर साधनका होना और व्यतिरेक कहलाता है साध्यके न होनेपर साधनका न होना । तो जिस समय अन्वयकी बात कही कि साध्यके न होनेपर साधनका होना बस यही कहलाता है साध्यके न होनेपर साधनका न होना । तो इन दोनोमे भी सामर्थ्य सिद्धपनेकी अविशेषता होनेसे अब भेद न रहा, अभेद हो गया । फिर अन्वय हेतु व्यतिरेक हेतु और उनके अलग अलग दृष्टान्त किस बातपर शोभा देंगे ? जब कोई बात ही न रही । अन्वयव्यतिरेकमे अभेद हो गया । सामान्य सिद्धपनेकी बात है तो फिर उन दो का वर्णन ही क्यो करते ? इससे सिद्ध है कि भेद होनेपर सामर्थ्य सिद्धपना बनता है । प्रमाण और अज्ञाननिवृत्तिका अभेद माननेपर कार्य कारण भावका विरोध भी नही होता । याने प्रमाण और अज्ञान-निवृत्ति ये वस्तुत. अभिन्न हैं । अर्थात् आधार इनका जुदा जुदा नही है, लेकिन कोई एक ही मान ले तो उस अभेदका यही निराकरण किया है । वैसे वस्तुत अभेद नहीं तो प्रमाण और अज्ञान निवृत्तिमे और इनको अभिन्न माननेपर प्रमाणका फल अज्ञान निवृत्ति है और वह अन्तरङ्ग फल है ऐसा जानना ।

प्रमाणसे अभिन्न होनेपर भी अज्ञाननिवृत्ति व प्रमाणमे कार्यकारण-भावका अविरोध—अज्ञाननिवृत्ति प्रमाणसे अभिन्न है ऐसा कहनेपर किसीको यह शंका न करना चाहिए कि इसमें कार्यकारणभावका विरोध आ जायगा याने जब अभेद हो गए तो उनमें कोई कार्य हो और कोई कारण हो यह भेद कैसे बनेगा ? सो यहाँ शंका यो न करना चाहिए कि अभेदमे भी कार्य कारण भावका विरोध नहीं है ।

जैसे जीव और सुख, जीव और दुःख, क्या ये भिन्न भिन्न जगह हैं ? लेकिन जीव कारण है और सुख कार्य है। अभेद होनेपर भी कार्य कारण भावका इसमें विरोध नहीं आता। इसी प्रकार प्रमाण अर्थात् ज्ञान और अज्ञाननिवृत्ति इन दोनोंमें विरोध नहीं आता। अभेद हैं तिसपर भी ज्ञान तो कारण और अज्ञाननिवृत्ति कार्य हैं। ज्ञान तो विधिरूप है और अज्ञाननिवृत्ति प्रतिषेध रूप है। हुआ ज्ञान और मिटा अज्ञान। लोग भी व्यवहार नहीं करते ऐसा कि अज्ञानके मिटनेपर ज्ञान हुआ या अज्ञान मिटनेसे ज्ञान हुआ। व्यवहारमें भी यही कहते हैं कि ज्ञान होनेसे अज्ञान मिट जाता है। तो ज्ञान है प्रमाण और अज्ञाननिवृत्ति है प्रमाणका फल। और, यह फल सबके साथ रहता है। शेष जो तीन फल बताते गए हैं कि हितका ग्रहण करे, अहितका परिहार करे और शेषकी उपेक्षा करे। इनमें चाहे कोई कुछ भेद अन्तर आ जाय अथवा हो या न हो वह काय लेकिन प्रमाण होनेपर अज्ञाननिवृत्ति तो अवश्य ही होता है। अज्ञाननिवृत्ति न होनेपर त्याग उपादान उपेक्षा ये यथावत् नहीं हो सकते। अज्ञान निवृत्ति होनेपर कोई हान उपादान, व उपेक्षा न रहे या कुछ हीनाधिकना हो, चाहे यह सम्भव हो जाय, किन्तु अज्ञाननिवृत्ति प्रथम अनिवार्य है। अज्ञाननिवृत्तिफल ज्ञानसे अभेद है। और, ज्ञानके होनेपर अनिवाय है कि अज्ञाननिवृत्ति हो ही जाती है।

परिच्छित्तिमें साधकतम और परिच्छित्तिमें अभेद होनेपर भी कार्य कारणभावका अविरोध—जो परिच्छित्ति क्रियामें साधकतम हो उसे प्रमाण कहते हैं। साधकतम स्वभाव वाला प्रमाण स्व और परव्यवसायकी शक्ति रूप अज्ञाननिवृत्ति को रचता है। वह रचना किसी अन्य सन्निकर्ष आदिकके द्वारा नहीं हो सकती है। साधकतम स्वभावपनेका अर्थ क्या है कि अपने और परके ग्रहणके व्यापारमें ही स्व और परके ग्रहणके अभिमुख होना इसका नाम है साधकतम और वह अपने ही कारण समूहसे उत्पन्न होता हुआ अपने और पर पदार्थके ग्रहणके व्यापार रूप उपयोगरूप होता हुआ स्व और अर्थके निश्चय रूपसे परिणमता है तब देखो कि अब यहां प्रमाण और अज्ञाननिवृत्ति अभेद रहे। लेकिन ऐसा अभेद रहनेपर भी प्रमाण और अज्ञान निवृत्तिमें कार्य कारणभावका विरोध नहीं है। प्रमाणका फल अज्ञान निवृत्ति है। सो प्रमाणसे अभिन्न होकर भी प्रमाण तो कारण है और अज्ञाननिवृत्ति कार्य है, यह भी बात सिद्ध हो जाती है।

प्रमाण और हानादिकमें व्यवधान होनेसे प्रमाणसे हानादिफलकी भिन्नताका अभाव—शंकाकार कहता है कि इस तरह फिर अज्ञाननिवृत्ति रूपताकी तरह हानि ग्रहण आदिकफलसे प्रमाणपना सम्भव हो जायगा। तो वह भी प्रमाणमें अभिन्न फल बना। प्रमाणके फल ४ बताये गए हैं—अज्ञाननिवृत्ति, अहितपरिहार, हितग्रहण और उपेक्षा। इनमेंसे अज्ञान निवृत्तिको तो प्रमाणसे भिन्न बताया है और शेष तीन फलोंको प्रमाणसे भिन्न बताया है। तो विचारणीय बात यह आ जाती है

कि जैसे प्रमाणकी अज्ञाननिवृत्तिरूपता प्रमाणसे अभिन्न है क्योंकि प्रमाण ही अज्ञान निवृत्तिका कर्ता होकर परिणमता है तो ऐसे ही प्रमाण अहित परिहारको हित ग्रहण और उपेक्षाको करता हुआ परिणमता है यह भी तो सम्भव हो जायगा। फिर शेष ३ फलोंको भी अभिन्न कह लीजिए ! समाधानमें कहते हैं कि यह बात भी आपकी असंगत है। अज्ञाननिवृत्तिरूप फलसे हानि उपादान आदिकमें व्यवधान सम्भव है। कैसे कि प्रमाणके द्वारा तो तुरन्त अज्ञाननिवृत्ति होती है और अज्ञाननिवृत्तिरूप फल पा लेनेके बाद फिर हानि उपादान और उपेक्षा ये तीन फल होते हैं। तब देखिये ! प्रमाणमें और हानि, उपादान उपेक्षा इन तीन फलोंमें व्यवधान आ गया। प्रमाणसे हुई अज्ञान निवृत्ति। अज्ञाननिवृत्तिके बाद हुए हैं ये तीन फल। इस कारण ये तीन फल प्रमाणसे भिन्न हैं, इसमें कोई विरोध नहीं आता। इसीलिये कहा गया है कि हानि उपादान और उपेक्षा ये तीन फल प्रमाणसे भिन्न हैं। लेकिन यहाँपर भी कथंचित् ही भिन्नता निरखना चाहिए, सर्वथा भिन्नता नहीं। यदि हानि उपादान उपेक्षारूप तीन फलोंको प्रमाणसे सर्वथा भिन्न मान लिया जाय तो ये प्रमाणके फल हैं, इतना भी व्यवहार कर सकनेकी गुञ्जाइश नहीं रहेगी। जैसे घट पट भिन्न हैं तो उनमें तो नहीं कह सकते कि ये प्रमाणके फल हैं। इसी तरह हानि उपादान उपेक्षा ये तीन तो प्रमाणसे सर्वथा भिन्न हो जाते हैं तब वहाँ इतना भी व्यवहार न बन सकेगा कि ये प्रमाणके फल हैं। अब इस ही अर्थको स्पष्ट करते हुए अगला सूत्र कहते हैं जिस में कि लौकिकजन और शास्त्रज्ञ लोग सभीको जैसा ज्ञान स्पष्ट है वह जाहिर होगा। सूत्र यह है—

य प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्त उपेक्षते ॥ ५–३ ॥

प्रमाणके चारों फलोंकी प्रमाणसे अभिन्नताका दर्शन—जो ज्ञाता पुरुष जानता है अर्थात् स्व और अर्थके ग्रहणरूप परिणामसे परिणमता है वह ही तो निवृत्ताज्ञान होता हुआ अर्थात् अज्ञानको हटाता हुआ अपने विषयमें व्यामोह रहित होकर हितके असाधकको याने अहितको छोड़ता है और अभिप्रेता प्रयोजनके साधकको ग्रहण करता है जिसमें न हितका प्रयोजन है न अहितका साधक है, ऐसे ज्ञेयकी उपेक्षा करता है यह बात प्रतीत होती है। इससे सिद्ध है कि प्रमाण और फलमें कथंचित् भेद है और फिर भी कथंचित् अभेद है। जिस ज्ञाताने जाना उसने क्या किया कि अपनेको और पर अर्थको जानले। इस परिणति रूपसे परिणमना। अब ज्ञाताके इस ढगके परिणमनमें हुआ क्या ? उसका अज्ञान हट गया। अज्ञान हटनेपर क्या हो गया कि अब यह प्रमाता पुरुष जाननहार पुरुष अपने विषयमें अर्थात् स्व और अर्थमें विषयमें व्यामोह रहित हो गया। जो पहिले जानकारी थी, बेहोशी थी। न समझी थी वह सब हट गयी। अब उस समय उसने जैसे जाना कि यह इष्ट प्रयोजनका असाधक है उसे तो छोड़ देता है और जो इष्ट प्रयोजनका साधक है उसको ग्रहण कर लेता है।

और जो ऐसा है कि न तो इष्ट प्रयोजनका साधक है न असाधक, उसे उपेक्षा कर देता है। तो अब यहाँ देख लीजिए कि सब फलोंका सम्बन्ध प्रमाणसे है इसलिए सर्वथा भिन्न नहीं कह सकते। लेकिन रीतिमें, पद्धतिमे, स्वरूपमें, व्यपदेशमे अन्तर है। इस कारण भिन्न कह दिया जाय तो यह प्रमाणका फल है इतना भी सम्बन्ध न बन सकेगा। इस कारण यह बात स्पष्ट निर्णीत हो गयी कि प्रमाणके फल चार हैं जिनमें अज्ञाननिवृत्तिका साक्षात् सम्बन्ध है और अज्ञाननिवृत्ति अभिन्नफल है। अब अज्ञान निवृत्ति होनेके बाद हानि उपादेय और उपेक्षा चलती है सो ये भिन्न फल हैं।

प्रमाता प्रमाण और फलोमे भेदका अभाव माननेपर उनकी व्यवस्था के लोपकी शका और उसका समाधान— शकाकार कहता है कि प्रमाता, प्रमाण और फल इन तीनमे भेदका अभाव होनेसे प्रतीति प्रसिद्ध जो इन तीनकी व्यवस्था है उसका लोप हो जायगा। यहां तो प्रमाता प्रमाण और फल इनको अभिन्न बताया है। प्रमाताके मायने प्रमाण करने वाला, ज्ञान, ज्ञान अथवा आत्मा जानो। प्रमाणका अर्थ है जिसके द्वारा जाना जा रहा है। जाननेमें साधकतम है प्रमाण और फल सो ये चार बताये ही जा रहे हैं और यहां इन फलोसे भी एकको तो अधिक रूप से भिन्न कह दिया और शेष तीनको भी किसी दृष्टिसे अभिन्न कह दिया तो इसका अर्थ यह हुआ कि ये तीनोके तीनो अभिन्न हुये। फिर प्रतीति सिद्ध जो कुछ इसकी व्यवस्था है उसका लोप हो जायगा। समाधानमें कहते हैं कि यह कहना असगत है। यहा जो भेद अभेद कहा जा रहा है वह कथचित् कहा जा रहा है। कथंचित् भेद होनेसे उनमें भेद है। देखो उसमें कि पदार्थ परिच्छित्ति काममें जो साधकतम रूपसे व्याप्रियमाण स्वरूप है वह तो है प्रमाण और वह प्रमाण है निर्व्यापार। व्यापार मायने क्रिया। वह है परिच्छित्तिरूप। आत्माका स्वतन्त्र है व्यापार। सो उसका सद्भाव आत्मामे है। साधकतम स्वरूप जो प्रमाण है वह निर्व्यापार है। अब यहाँ देखिये कि स्वतन्त्रतासे जो व्याप्रियमान हो वह तो है प्रमाता और जो साधकतम रूपसे व्याप्रियमान है वह है प्रमाण। तो अब देखिये—प्रमाता और प्रमाणमें कथचित् भेद हो गया ना। यह तो है भेदकी बात। अब अभेदको निरखो तो पहिली पर्याय विशिष्ट बोधकी जो कि कथचित् अवस्थिति है उसकी परिच्छित्ति विशेषरूपसे ही तो उसका फल हुआ, उस फलरूपसे जो उत्पत्ति हुई है सो उस ही बोधकी हुई है। इस कारण परिच्छित्तिमें और बोधमें अभेद हो गया।

साधनभेदसे प्रमाण और परिच्छित्तिमे भेदकी सिद्धि—साधन भेदसे भी प्रमाण और परिच्छित्तिमे भेद देखा जाता है। देखो! प्रमाण तो है करण साधन क्योंकि साधकतम स्वभाव वाला है जिसके द्वारा जाना जाता है, प्रमाण किया जाता है उसे कहते हैं प्रमाण। तो प्रमाणमें तो करणसाधनपन है, और प्रमातामें कर्तृ-साधनपना है, वह स्वतन्त्र है। जो जानता है सो प्रमाता है। व्याकरणका नियम है

कि कर्ता स्वतन्त्र होता है। तो करणसाधन हुआ प्रमाण, कर्तृसाधन हुआ प्रमाता और भावसाधन हु क्रिया। अपने अर्थका निर्णय करने वाला स्वभाव है क्रिया, वह है भावसाधन अर्थात् प्रमिति इति प्रमाण'। प्रमिति क्रिया है, जानन इस भावरूप क्रिया है। तो यो प्रमाता प्रमाण और प्रमेयमें भेद सिद्ध होता है। इस तरह कथचित् भेद मान लेनेसे कार्य कारणका भी विरोध खतम हो जाता है। कार्यकारणपना न तो सर्वथा भिन्नमे होता है और न अभिन्नमे। सो ही स्थिति यहा प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयकी है इस कारण कार्यकारणपना होनेमे किसी भी तरहका विरोध नही है।

प्रमाण और प्रमाणफलमे कथचित् भेद माननेमे सिद्धसाध्यता— अब शकाकार कहता है कि प्रमाण अपने स्वरूपसे भिन्न क्रियाका करने वाला होगा, क्योकि कारक होनेसे। जैसे वसूला आदिक। बढ़ईका वसूला जैसे कारण कारक है। वसूलेके द्वारा ही तो काठ छेदा जाता है, तो देखो! वह वसूला अपनेसे भिन्न क्रिया का करने वाला है। वसूला काम करता है काठके छेदनेका। तो छेदन हुआ काठका और वसूला है अपने स्वरूपमें तो देखो! वसूलेकी क्रिया वसूलेसे भिन्न रही ना, तो जितनी भी क्रियायें होती हैं उन क्रियावोका जो करण है उन करणोसे क्रिया भिन्न हुआ करती है। समाधानमें कहते हैं कि यहाँ जो यह कहा जारहा है कि प्रमाण अपने स्वरूपसे भिन्न क्रियाका करने वाला है सो यहाँ भिन्नसे प्रयोजन कथचित् भिन्नसे है या सर्वथा भिन्नसे है? यदि कहो कि प्रमाण अपने स्वरूपसे कथचित् भिन्न क्रियाको करन वाला है तो कथचित् भिन्न मानकर सिद्धसाध्यता आ जायगी, क्योंकि अज्ञाननिवृत्ति तो प्रमाणका धर्म है और हानि, उपादान, उपेक्षा ये प्रमाणके कार्य है। अत एव प्रमाणसे कथचित् भिन्न मान ही लिये गये। प्रमाण धर्मी है, अज्ञाननिवृत्ति धर्म है, प्रमाण करण है, हानि, उपादान, उपेक्षा फल है। इस प्रकार कथचित् प्रमाणसे भेद तो इन फलोको मान ही लियो गया, इसलिए कथचित् भेद माननेपर तो कोई दोष नही है, बिल्कुल इष्ट ही बात है।

प्रमाण और प्रमाणफलमे सर्वथा भेद माननेपर दृष्टान्तमे साध्यविकलताकी आपत्ति—यदि सर्वदा भेद मानोगे तो दृष्टान्त साध्यविकल हो जायगा अर्थात् अनुमान ऐसा है शकाकारका कि प्रमाण अपने स्वरूपसे भिन्न क्रियाका करने वाला है कारण होनेसे वसूला आदिककी तरह। तो यह सर्वथा भिन्न क्रियाका करने वाला है ऐसा यदि पक्ष ग्रहण करना है तो दृष्टान्तमे ही यह बात नही पायी जा रही वसूला अपनेसे सर्वथा भिन्न क्रियाका करने वाला नहीं है। क्योंकि वसूलेके द्वारा जो काठके छेदन रूप क्रिया हुई, छिदता है ना काठ और क्रिया हुआ भी दिखता है कि देखो वसूलेके द्वारा काठका छेदन भी हुआ, तो उस छेदनका अर्थ भी समझो क्या है? छेदका अर्थ क्या है उसमे प्रवेश हो जाना इसीका नाम छेदन क्रिया है। जैसे वसूलेने काठको छेद दिया तो इसका अर्थ यह है कि वसूला उस काठके भीतर प्रवेश

प्रवेश कर गया। तो वह जो प्रवेश कर गया। तो वह जो प्रवेश है वसूलेका आत्मगत ही धर्म है। कहीं अन्यका भ्रम नहीं है। काष्ठमें बसूलेका प्रवेश होना बसूलेमे ही पाया जाने वाला धर्म है। तो देखो—बसूला भी अपनेसे सर्वथा भिन्न क्रियाका करने वाला न हुआ। शंकाकार कहता है कि जो छेदन क्रिया है वह तो काठके अन्दर मौजूद है और वसूला देवदत्तमें मौजूद है। मानलो कोई देवदत्त नामका कारीगर वसूलेसे काठको छेद रहा है तो उस समय दिखता है कि छेदन क्रिया तो काठमे मौजूद होती है। और वसूला देवदत्तके हाथमें मौजूद है। तब इन दोनोंमें भेद हो गया ना ? फिर तो यह कहना युक्त नहीं कि साध्य विकल दृष्टान्त हो गया। क्योंकि यह वसूला भी कारक होनेसे अपने स्वरूपसे भिन्न छेदन क्रियाका करने वाला हुआ ? छेदन क्रिया तो है काठमें और वसूला है देवदत्तके हाथमें तो यह भेद हो गया। इसलिए वसूला और छेदन क्रियामे भेद ही मानना चाहिए और फिर जब दृष्टान्त पुष्ट हो गया तो प्रमाणमे भी यही बात मानना चाहिए कि प्रमाण अपने स्वरूपसे भिन्न क्रिया करने वाला है। समाधानमें कहते हैं कि यह बात भली नही है। क्योंकि इस प्रकार तो सर्वथा भेदकी सिद्धि भी न हो सकेगी। सत्त्वादिक धर्म जो सर्वसाधारण धर्म हैं उन धर्मोंकी दृष्टिसे तो सर्व पदार्थोंमें अभेदकी प्रतीति हो रही है सर्वथा भेद ही है यह पक्ष निभ नहीं सकता।

करण और फलमे सर्वथा भेदके नियमकी असिद्धि—प्रमाण और प्रमाणफलमें सर्वथा भेद माननेपर दूसरी बात यह है कि करणसे क्रिया सर्वथा भिन्न ही हो, यह नियम नही बन सकता अर्थात् क्रियाका जो साधकतम है, जिसके द्वारा क्रिया की गई है वह करण, वह साधकतम पदार्थ और क्रिया ये सर्वथा भिन्न ही होते हों यह नियम नही बन सकता याने करणसे क्रिया भिन्न ही होती है यह बात अयुक्त है क्योंकि देखिये ! दीपक अपने आपके स्वरूपके द्वारा अपने आपको प्रकाशित करता है तो दीपककी क्रिया भी प्रकाशन क्रिया है और वह प्रकाशन क्रिया दीपकसे अभिन्न है। तो अभेदरूपसे भी करणसे क्रियाका बोध देखा जा रहा है, इस कारण यह नियम नही बना सकते कि करणसे क्रिया सर्वथा भिन्न ही होती है। प्रदीपकी जो प्रदीपना है, प्रदीपन क्रिया है प्रदीपपना वह प्रदीपसे भिन्न नही है। यदि दीपकका दीपकपना दीपकसे भिन्न हो जाय तो दीपक अब दीपक ही न रहा वह अप्रदीप बन गया। तो देखो ! दीपकी क्रिया, दीपका कार्य जब दीपसे अभिन्न रहा, तो सर्वथा भिन्न होती है करणसे क्रिया, यह नियम न बना। शंकाकार कहता है कि प्रदीपपना प्रदीपसे अभिन्न है, तो उत्तर इसका स्पष्ट है कि प्रदीपका प्रदीपत्व यदि प्रदीपसे भिन्न है तो यह प्रदीप दीपक कहाँ रहा ? वह तो अप्रदीप हो गया। जैसे—पट। प्रदीपत्व पट है भिन्न है। तो पटमें प्रदीपता तो न रही। शंकाकार कहता है कि दीपकमे दीपकत्वका समवाय है। दीपकत्व है दीपसे भिन्न पदार्थ और उसका समवाय हो गया प्रदीपमें, तो भिन्न होनेपर भी प्रदीपत्वके समवायसे प्रदीपमें प्रदीप सिद्धि हो जायगी। उत्तरमें कहते

है कि वह बात अयुक्त है। अब जो प्रदीप नहीं हैं ऐसे घटपट आदिक पदार्थोंमे फिर तो प्रदीपत्वका समवाय हो बैठेगा। जब प्रदीपका प्रदीपत्व प्रदीपसे भिन्न है और उस भिन्न प्रदीपत्वका प्रदीपमें समवाय करके प्रदीपत्वका स्वरूप बना रहे हो तो जैसे प्रदीपत्वरहित प्रदीपमे प्रदीपत्वका समवाय करते हो इसी प्रकार प्रदीपत्वरहित घट-पट आदिकके प्रदीपत्वका समवाय बन बैठेगा। शंकाकार कहता है कि प्रत्यासत्तिविशेष होनेसे प्रदीपत्वका प्रदीपमें समवाय ही होता है, घट पट आदिक अन्य पदार्थोंमें नहीं। तो उत्तरमे कहा जा रहा कि वह प्रत्यासत्ति विशेष जिस हेतुसे प्रदीपमे ही प्रदीपत्वका समवाय नियमित करना चाहते हो सो वह प्रत्यासत्ति विशेष और है ही क्या ? सिवाय कथंचित् तादात्म्यके। याने प्रदीपत्वका प्रदीपमें ही समवाय बता रहे। शंकाकार घट आदिकमें प्रदीपत्वका समवाय नहीं कहते तो ऐसा क्यों होता है ? इसके उत्तरमे शंकाकारने कहा कि प्रदीपत्वका प्रदीपसे ही निकटपना है, इस कारण प्रदीपत्वका प्रदीपमे ही समवाय होता है, तो निकटपनेका अर्थ क्या है ? प्रदीपत्वका निकट पना प्रदीपसे ही है। इसका अर्थ है कि प्रदीपमे प्रदीपत्व तादात्मयरूपसे है। कथंचित् तादात्म्यको छोड़कर अन्य प्रत्यासत्ति विशेष है ही क्या ? तो इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रदीपत्व प्रदीपसे कथंचित् अभिन्न है कथंचित् तादात्म्य है।

प्रदीपका प्रकाशनक्रियासे कथंचित् अभेद—प्रदीप व प्रदीपत्वमें अभेद की तरह यह भी सिद्ध हो जाता कि प्रदीपकी प्रकाशन क्रिया भी प्रदीपसे अभिन्न है और प्रकाशन क्रिया भी प्रदीपात्मक है। जैसे—प्रदीप और प्रदीपत्वमें भेद नहीं। इसी प्रकार प्रकाशन क्रिया भी प्रदीपस्वरूप ही है। यदि प्रकाशन क्रियासे प्रदीपत्वका भेद मान लिया जाय तो प्रकाशन क्रिया तो प्रदीपत्वमे जुदी हो गई। अब प्रदीप अप्रकाशक द्रव्य बन गया, क्योंकि उसका काम जो प्रकाशन क्रिया होती है उसको तो मान लिया प्रदीपत्वसे अत्यन्त भिन्न, तब फिर प्रदीपमें प्रकाशन क्रिया न रही तो प्रदीप अप्रकाशित द्रव्य बन बैठा। शंकाकार कहता है कि हम प्रकाशन क्रियामें प्रदीपत्वका समवाय कर देंगे, फिर तो यह दोष न रहेगा कि प्रदीप अप्रकाशक बन जाय या अन्य अप्रकाशक पदार्थोंमें प्रदीपत्वका सम्बन्ध बन जाय ! तो क्रियाको प्रदीपत्वका समवाय मान लेनेसे यह दोष न आयगा। उत्तरमे कहते हैं कि यह बात भी समीचीन नहीं है, क्योंकि समवाय माननेपर वे ही समस्त दोष आयेंगे जिनका कि अभी वर्णन किया गया है। इस कारण यही निष्कर्ष मानना चाहिए कि प्रमाण और फलमें आत्यन्तिक भेद नहीं है। जैसे प्रदीपमें और प्रदीपत्वमें, प्रदीप और प्रदीपकी प्रकाशन क्रियामे आत्यन्तिक भेद नहीं माना जा सकता, इसी प्रकार प्रमाण और प्रमाणका फल हुआ अज्ञाननिवृत्ति, इनमे भी आत्यन्तिक भेद नहीं माना जा सकता। इस प्रकार यहाँ तक यह बात सिद्ध की गई कि प्रमाणसे प्रमाणका फल अत्यन्त भिन्न नहीं है। प्रमाणको प्रमाणफलसे अत्यन्त भिन्न भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि व्यपदेश धर्म क्रियादिकी अपेक्षा भी भेद न माना जाय तो प्रमाण और प्रमाणफलकी अव्यवस्था हो जायगी।

अब प्रमाण क्या रहा ? प्रमाणका फल क्या रहा ? जब प्रमाण और प्रमाणका फल एक हो गए तो उनमे यह व्यवस्था कैसे बन गई कि यह तो है प्रमाण और यह है प्रमाणका फल।

प्रमाण और फलमे अभेद होनेपर भी भेद व्यवस्था करनेका क्षणिक वादमे प्रयास और सम्यक सिद्धान्त क्षणिकवादी कहता है कि हम प्रमाण और प्रमाणफलके व्यपदेशकी व्यवस्था यों बना लेंगे कि जिस पदार्थको जानते हैं उस पदार्थ का आकार पूरा ज्ञानमें आता है और उस पदार्थके धर्म भी ज्ञानमें आते हैं। पदार्थके साथ जो सदृशता है वही है निर्विकल्प ज्ञानका प्रमाण स्वरूप। और जो अधिगम है, समझना है वह है फल। उत्तरमे कहते हैं कि यदि पदार्थके साथ जो सदृशता है उसे मान लिया जाय प्रमाण और अधिगतिको समझमे मान लिया जाय फल तो यह बात सर्वथा तादात्म्यमें तो नही स्वीकार की जा सकती है। जब प्रमाण और प्रमाणका फल सर्वथा अभिन्न हो गए तो उस अभिन्नतामें इतना बडा भेद कैसे डाला जा सकता है कि प्रमाण तो है अर्थके साथ सदृश इस कारण वह भिन्न हो गया और अधिगति फल भिन्न हो गया। कहाँ पदार्थ और कहाँ अधिगति। इनके भेदकी यह सर्वथा तादात्म्यमे व्यवस्था नही करायी जा सकती है, इससे प्रमाणने प्रमाणफल सर्वथा अभिन्न हो यह भी सही नही और भिन्न हो यह भी सही नही। कथचित भिन्न है और कथचित अभिन्न है। यह फल प्रमाणसे कथचित् भिन्न और कथचित् अभिन्न होनेपर भी तुलनात्मक दृष्टिसे अज्ञान निवृत्तिरूप फल तो प्रमाणसे अभिन्न है और हानि, उपादान, उपेक्षा रूप तीन फल प्रमाणसे भिन्न है।

व्यावृत्तिके कथनसे ज्ञानकी व भेदकी अव्यवस्था क्षणिकवादी शकाकार कह रहा है कि प्रमाण और फलका सर्वथा अभेद मान लेनेपर भी इन दोनोमें व्यावृत्तिके भेदसे प्रमाण और फलकी व्यवस्था घटित हो जाती है। जैसे कि अप्रमाण व्यावृत्तिसे होने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है। अफल व्यावृत्तिके द्वारा फलका बोध होता है अर्थात् वस्तु अन्यापोहात्मक है और अन्यापोहके द्वारा ही वाच्य है। तो जहाँ अप्रमाण व्यावृत्ति है वह तो है प्रमाण जहाँ अफल व्यावृत्ति है वह है फल। तो व्यावृत्तिकी पद्धतिसे देखो अब प्रमाणमें और फलमे अन्तर पड गया। समाधानमें कहते हैं कि यह भी बिना विचारे कहना है। परमार्थसे क्षणिकवादी शकाकारके ही इष्टकी सिद्धिका विरोध है। शकाकार चाह रहा था कि प्रमाण और फलमे भेद सिद्ध करदें लेकिन अन्य व्यावृत्तिसे जब भेद सिद्ध करने चले तो व्यावृत्तिसे भेद न रह सकेगा। क्योकि स्वभाव भेदके बिना अन्य व्यावृत्तिसे भी भेद नहीं बन पाता। और, इस विषयमें जब सारूप्य अन्यापोह आदिकका विचार चल रहा था तब वर्णन भी बहुत प्रकारसे कर दिया गया है तो प्रमाण और फलको सर्वथा अभेद माननेपर किसी प्रकार प्रमाणफलकी व्यवस्था नहीं बनती। प्रमाण और फलका सर्वथा भेद

माननेपर यह फल प्रमाणका है इतना भी सम्बन्ध नहीं माना जा सकता और फिर यह बतलावो कि जैसे यह रहे है ये अलङ्कार दो कि अप्रमाणकी व्यावृत्तिमे प्रमाणकी व्यावृत्तिमे प्रमाणकी व्यवस्था बनती है और अफलकी व्यावृत्तिसे फलकी व्यवस्था बनती है तो बजाय ऐसा कहनेके यदि यह कह दिया जाय कि प्रमाणकी व्यावृत्तिमें अप्रमाणकी व्यवस्था बनती है और फलोंकी व्यावृत्तिमे अफलकी व्यवस्था बनती है तो यह भी क्यो न सही हो जाय? निष्कर्ष यह है कि व्यावृत्तिके द्वारा वस्तुकी व्यवस्था नहीं घटित की जा सकती है इस कारण परमार्थिक प्रमाण और फल प्रतीतिसिद्ध मानना ही चाहिए और उन्हे कथंचित भिन्न समझना चाहिए। क्योंकि कथंचित भिन्न माने बिना प्रमाण और फलकी व्यवस्था नहीं बन सकती है।

प्रमाणफल विवरक परिच्छेद—इस परिच्छेदमे प्रमाणके फलका वर्णन किया गया है। प्रमाणके फल हैं चार— अज्ञाननिवृत्ति हानि, उपादान, और उपेक्षा, ये चारोंके ही चारों कथंचित् प्रमाणसे भिन्न हैं, कथंचित् प्रमाणसे अभिन्न हैं। फिर भी तुलनात्मक दृष्टिसे अज्ञाननिवृत्तिमे प्रमाणसे अभिन्नताका विचार विशेष चलता है और हानि उपादान उपेक्षामें प्रमाणमे भिन्नताका विचार विशेष चलता है उसका कारण यह है कि अज्ञाननिवृत्ति तो है प्रमाणका तुरन्त साक्षात् होने वाला फल और हानि उपादान उपेक्षा ये होते हैं अज्ञाननिवृत्तिरूप फल प्राप्त होनेके पश्चात्। इस कारण जो साक्षात् है उसे अभिन्न कहा है और जो व्यवधान सहित है उसे भिन्न कहा है। अब इस समय प्रमाण सख्या विषय और फल ये चार बातें अब तक इस ग्रन्थमे निरूपितकी हैं, उनसे विपरीत आभासके सम्बन्धमें निरूपण चलेगा। पहिले बताया था कि प्रमाण क्या है तो अब बतावेंगे कि प्रमाणाभास क्या है? पहिले कहा था कि सख्या क्या है। अब बतावेंगे कि सख्याभास क्या है। पहिले विषय बताया गया था। अब बतायेंगे विषयाभास। अभी फल बताया गया, अब बतायेंगे फलाभास। इस निरूपणके लिए निर्देशक सूत्र कहते हैं।

(षष्ठ परिच्छेद)

ततोऽन्यत्तदाभासम् ॥ ६-१ ॥

आभासोंका निर्देश— जो पहिले प्रमाण, सख्या, विषय, फल बताये गए हैं उनसे भिन्न जो कुछ है वह तदाभास है। अर्थात् प्रमाणाभास सख्याभास, विषयाभास और फलाभास। जिस प्रकारसे प्रमाणका वर्णन किया गया है स्व और अपूर्व अर्थका व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण होता है अब इस लक्षणसे हटा हुआ विपरीत या अन्य प्रकारके लक्षण किए जायेंगे वे सब प्रमाणाभास कहलाते हैं। सख्या जो कुछ प्रमाणकी बतायी गई है उसमें विपरीत हीनाधिकरूपसे जो भी सख्या बतायी जायगी वह है सख्याभास। विषय कहो अथवा प्रमेय कहो, उसका स्वरूप अभी बताया ही गया था

विषयका उपदर्शन नही होता। जैसे कि अस्वसम्विदित ज्ञानको प्रमाणाभास कहा गया है। यह ज्ञान जब स्वको ही नही ग्रहण कर पाता तब पदार्थोंकी प्रतिपत्तिका योग ही न हो सकेगा। जहाँ स्वको नही जाना, परका भी ज्ञान नही हो पाता तो प्रवृत्ति कहाँ करे ? तो प्रवृत्तिके विषयका उपदर्शकत्व नही है अस्वसम्विदित ज्ञानमे, इस कारण यह प्रमाणाभास है। गृहीतार्थज्ञान, जिसको जान लिया भली त ह अब और होन प्रवृत्ति उस ज्ञानसे हो जाती है, लेकिन उसके बाद बराबर उतने ही अशोमे उसी पद्धतिमे उस ही ज्ञानको दुहराना, तो यह गृहीतार्थ ज्ञान है। उसमे प्रवृत्तिके विषयके उपदर्शनका लक्ष्य ही नही है, अतएव वह प्रमाणाभास है। निर्विकल्प दर्शनसे प्रवृत्तिके विषयका उपदर्शन है ही नही, क्योकि क्षणिकवादमें निर्विकल्प दर्शनसे उत्पन्न होने वाले विकल्पको ही पदार्थका उपदर्शकत्व माना है। तो प्रकृतिके विषयमे उपदर्शन न होनेसे, समझ न पानेसे निर्विकल्प दर्शन भी प्रमाणाभास है। सशयज्ञानमे और विपर्यय अनध्यवसाय ज्ञानमे जो स्पष्ट मिथ्याज्ञान माने गये है उनमे प्रवृत्तिके विषयका उपदर्शन है ही कहाँ ? तो ये सब बोध प्रमाणाभास इस कारण कहलाते, कि, इनसे हित प्राप्ति अहित परिहारका कार्य नही बन पाता। हिताहित विषयका जब उपदर्शन ही न हो सका तो प्रमाणता कहासे आयगी ? अब इन्ही प्रमाणाभासोंका स्पष्टीकरण करनेके लिए दृष्टान्त देते हैं --

पुरुषान्तरपूर्वार्थगच्छत्तृणस्पर्शस्थाणुपुरुषादिज्ञानवत् ॥६–४॥

प्रमाणाभासोके दृष्टान्त —अस्वसम्विदितज्ञान प्रमाणाभास है, क्योकि यह प्रवृत्तिके विषयका उपदशन नही करता है। जैसे देवदत्तका ज्ञान यज्ञदत्तके द्वारा गृहीत तो नही है। यज्ञदत्तका ज्ञान यज्ञदत्तमे है। तो जब यज्ञदत्तका ज्ञान देवदत्तके ज्ञानका सम्वेदन ही नही कर पा रहा तो देवदत्तज्ञान विषयक चीजमे प्रवृत्ति तो नही हो सकती यज्ञदत्तकी, क्योकि वह अस्वसवेदी ज्ञान है। गृहीतार्थ ग्राहक ज्ञान भी अपनी प्रवृत्तिके विषयका उपदर्शन नही करता। जैसे कि पूर्व अर्थका ज्ञान जिसको पहिले बराबर जाना समझा उस पदार्थका ज्ञान पदार्थ प्रवृत्तिके विषयका उपदर्शन नही करता यो गृहीतार्थज्ञान भी प्रमाणाभास है। निर्विकल्प दर्शन इस तरहका अनिश्चयात्मक है जैसे कि चलते हुए पुरुषके पैरमे तृणस्पर्श हो जाय तो उस का कुछ भी निश्चय नही रहता है इसी प्रकार वह भी प्रमाणाभास है। सशय ज्ञान भी प्रमाणाभास है। जैसे कि स्थाणु है अथवा पुरुष है इस ज्ञानमें निश्चयात्मकता नहीं है ऐसे ही सशयज्ञानमे भी निश्चयात्मकता नहीं है। तो ये सब ज्ञान प्रवृत्तिके विषयका उपदर्शन न करनेके कारण प्रमाणाभास कहलाते हैं।

चक्षूरसयोर्द्रव्ये संयुक्तसमवायवच्च ॥ ६–५ ॥

सन्निकर्षकी प्रमाणाभासताका दृष्टान्त—सन्निकर्ष भी अप्रमाण है। जैसे

कि चक्षु और रसका द्रव्यसे संयुक्त समवाय है और जब उस द्रव्यसे सन्निकर्षको जाना तो रसका ज्ञान तो नहीं हो पाता है। तो जैसे चक्षु और रसका संयुक्त समवाय होनेपर सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है उसी प्रकार चक्षु और रूपका भी संयुक्त समवाय होनेपर भी प्रमाणाभास है। ऊपर कहे गए जितने भी प्रतिभास कहे गए हैं उनका सही-सही प्रमाण संख्या आदिकका वर्णन पहिले कर दिया गया है और उनको निहारकर उसकी तुलना करके इन आभासोंको जाननेसे उनका अन्तर और स्वरूप भी स्पष्ट जाना जाता है। अब उन सब प्रमाणाभासोंका क्रमसे वर्णन करते हैं।

अवैशद्ये प्रत्यक्षं तदाभासं बौद्धस्या कस्माद्धूम दर्शनाद् वह्निविज्ञानवत् ॥ ६–३ ॥

प्रत्यक्षाभासका वर्णन—इसमें प्रत्यक्षाभासका लक्षण किया गया है। प्रत्यक्ष उसे कहते हैं जो विशद हो, स्पष्ट हो, और जो विशद न हो, जिसमें अविशदता हो और फिर भी प्रत्यक्ष कहा जाय तो वह प्रत्यक्षाभास कहलाता है। जैसे क्षणिक-वादियोंका अकस्माद् धूम दर्शन होनेसे जो अग्निका ज्ञान माना है आभासरूप जैसे कि धूम और भापका विवेक निश्चय न होनेसे व्याप्तिके भी ग्रहणका अभाव होनेसे आकस्मिक धूम दर्शनसे उत्पन्न हुआ जो अग्निका ज्ञान है उसे आभास ज्ञान बताया गया है, क्योंकि निश्चय नहीं हो रहा है। तो इसी तरहसे क्षणिकवादियोंके यहाँ परिकल्पित जो निर्विकल्प प्रत्यक्ष है वह भी प्रत्यक्षाभास है, क्योंकि निर्विकल्प प्रत्यक्षमें पदार्थका निर्णय नहीं हो पाता। प्रत्यक्ष तो उसीको कहते हैं जहाँ विशद परिज्ञान हो, लेकिन निर्विकल्प ज्ञानमें विशद परिज्ञान तो होता नहीं और उसे मान रहे हैं प्रत्यक्ष तो वह प्रत्यक्षाभास कहलायेगा। प्रमाणके मूलमें दो भेद किए गए थे प्रत्यक्ष और परोक्ष। तो प्रत्यक्षकी तुलनामें प्रत्यक्षाभासका तो वर्णन कर दिया गया है, अब परोक्षकी तुलनामें परोक्षाभासका वर्णन करते हैं।

वैशद्येऽपि परोक्षं तदाभासं मीमांसकस्य करणज्ञानवत् ॥ ६–७ ॥

परोक्षाभासका वर्णन—परोक्ष कहते हैं अविशद ज्ञानको। जिसके ज्ञानमें स्पष्टता न हो उस ज्ञानको परोक्ष कहते हैं, लेकिन जिस ज्ञानमें निर्मलता हो और फिर भी उसे परोक्ष कहा जाय तो वह परोक्षाभास है। जैसे मीमांसक सिद्धान्तमें इन्द्रियजन्य ज्ञानको सर्वथा परोक्ष माना है। उस करणज्ञानमें स्पष्टता है एक देश, तिसपर भी उसे सर्वथा परोक्ष मान लेना सो परोक्षाभास है। इन्द्रियज्ञानमें अव्यवधान से प्रतिभास होनेका नाम विशदता है ना, वह बराबर है। विशदता उसे कहते हैं कि अव्यवधानसे प्रतिभास हो जाना। जैसे—आँखों देखा और तुरन्त अर्थ प्रतिभास हुआ कि एकके व्यापार करनेके बाद फिर कुछ पदार्थोंके प्रतिभासित होनेमें बीचमें कोई विघ्न न आये तो उसे कहेंगे विशदज्ञान और, जब बीचमें कोई व्यवधान होता है उसे कहते हैं परोक्षज्ञान जैसे–स्मरण किया किसीने तो उस स्मरण ज्ञानके होनेमें बीचमें व्यवधान

पड़ता है, प्रत्यक्षका, अनुभवका, क्योंकि स्मृतिज्ञान होता है प्रत्यक्षज्ञान पूर्वक । जैसे किसी चीजका कोई भी प्रत्यक्ष न किया गया हो, अनुभव न किया गया हो तो स्मरण नही होता अथवा किसी भी प्रमाणको न जाना गया हो तो उसका स्मरण- तो नही होता । यो स्मरण ज्ञान होनेके लिए अन्य ज्ञानके सहयोगकी आवश्यकता होती है इस कारण किया जा रहा है, उस ज्ञानके होनेके लिए अन्य ज्ञानके सहयोगकी आवश्यकता नही है । अन्य ज्ञानका व्यवधान नही है इस कारण इन्द्रियजन्यज्ञान प्रत्यक्ष है, विशद है फिर भी उसे सर्वथा परोक्ष कहना सो यह परोक्षाभास है । देखो ! इन्द्रियजन्य ज्ञान मे अपने आपका भी प्रतिभास होता है और पदार्थका भी प्रतिभास होता है और वह भी अन्य ज्ञानोकी अपेक्षा लिए विना । तो वैशद्यका जो लक्षण है वह इन्द्रियज्ञानमे प्रसिद्ध होता है फिर भी उस इन्द्रियज्ञानको सर्वथा परोक्ष मानना सो परोक्षाभास है । अब परोक्षके भेदोमेसे सभी भेदोका आभास क्रम- बता रहे हैं ।

अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं स्मरणाभासं जिनदत्ते स देवदत्तो यथेति ॥६-८॥

स्मरणाभासका वर्णन—स्मरणज्ञान कहते हैं अनुभव किए गए पदार्थमे वह है इस प्रकारका आकार किए हुए जो परिच्छित्ति होती है उसे कहते हैं स्मरण । लेकिन अनुभूत पदार्थ तो हुआ ना और चीज वह हुई ना । और उसमे वह है ऐसा करे तो वह स्मरणाभास है । जैसे—था तो कोई पुरुष जिनदत्त और उसके बारेमे ऐसा स्मरण किया जा रहा है कि वह देवदत्त है । तो जो पदार्थ नही है उसका स्मरण किया जा रहा है कि वह देवदत्त है । तो जो पदार्थ नही है उसका स्मरण किया जाय मायने विपरीत अर्थका स्मरण किया जाय तो उसे कहते हैं स्मरणाभास । अब प्रत्यभिज्ञानाभासका वर्णन करते हैं ।

सदृशे तदेवेदं तस्मिन्नेव तेन सदृशं यमलकवदित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासम् ॥६-९॥

एकत्वप्रत्यभिज्ञानाभासका वर्णन—एकत्व प्रत्यभिज्ञानका लक्षण किया गया है कि जिसको पहिले देखा था, अनुभव किया था । उसके सामने आनेपर, प्रत्यक्षभूत होनेपर उसको एकताका ज्ञान करना, यह वही पुरुष है जिसे हमने पहिले देखा था । इस प्रकारके एकत्वका जो ज्ञान है वह कहलाता है एकत्व प्रत्यभिज्ञान । लेकिन वह तो हो नही और उसके बारेमे यह वही है ऐसा एकत्वका ज्ञान किया जाय तो उसे कहेगे एकत्व प्रत्यभिज्ञानाभास, स्मरणाभास तो जो नही है उसका स्मरण करना कहा गया था लेकिन एकत्व प्रत्यभिज्ञानाभासका वर्णन स्मरणाभास है और साथ ही प्रत्यक्ष करके उनमे एकत्व जोडा जा रहा है । जैसे — सामने तो हो जिनदत्त और उसके बारेमे ऐसा ज्ञान बनायें कि यह वही देवदत्त है जो पहिले मिला था तो यहां एकत्व प्रत्यभिज्ञानाभास हो गया । अथवा जो हो उसके ही समान और उसमें यह वही है इस प्रकारका ज्ञान किया जाय तो यह है एकत्व प्रत्यभिज्ञानाभास ।

सादृश्य प्रत्यभिज्ञानाभासका वर्णन सादृश्य प्रत्यभिज्ञानाभास किसे कहते हैं, इस लक्षणके जाननेके लिये पहिले सादृश्य प्रत्यभिज्ञानका लक्षण सोचिये । सामने कोई सदृश पदार्थ है और उसी समय उसके सदृश पदार्थका स्मरण हो जाय और तब कहे कि यह उसके समान है यह कहलाता है सादृश्य प्रत्यभिज्ञान । जैसे वन में जाते हुए पुरुषको रोझ दीखा उस रोझको देखकर ऐसा ज्ञान करे कि यह रोझ गायके समान है तो यह हुआ सादृश्य प्रत्यभिज्ञान । लेकिन जगलमे गाय ही तो दिख गई और उसे देखकर कहा कि यह गायके समान है तो यह है सादृश्य प्रत्यभिज्ञानाभास थी ना वही एक चीज और उसमे सदृशताका प्रत्यभिज्ञान किया जा रहा है। तो सदृश पदार्थमें यह वही है ऐसा एकत्व जाने यह तो है एकत्व प्रत्यभिज्ञानाभास । और उस ही पदार्थमें यह उसके समान है ऐसा बोध करें तो वह है सादृश्य प्रत्यभिज्ञानाभास । जैसे कि दो जुगलिया लडके थे । मान लो उन दोनोंकी एक सी शकल थी । मानो एकका नाम था जिनदत्त और एकका नाम था देवदत्त । अब देवदत्तको देख कर कोई ऐसा सोचे कि यह देवदत्तके समान है तो यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञानाभास हुआ । और, जिनदत्तको देखकर यह देवदत्त ही है ऐसा ज्ञान बने तो एकत्व प्रत्यभिज्ञानाभास है । निष्कर्ष यह है कि समान पदार्थोंमें एकत्वका बोध करे वह तो है एकत्वप्रत्यभिज्ञानाभास और उस ही एक पदार्थमें सदृशताका ज्ञान करे तो वह कहलाता है सादृश्यप्रत्यभिज्ञानाभास । इसी प्रकार वैलक्षण्य प्रतियोगी आदिक प्रत्यभिज्ञानोंके विरुद्ध वैलक्षण्यप्रत्यभिज्ञानाभास प्रतियोगि प्रत्यभिज्ञानाभासका भी स्वरूप समझना चाहिए । अब तर्काभासका स्वरूप कहते हैं ।

असम्बन्धे तज्ज्ञानम् तर्काभासम् यावांस्तत्पुत्र स श्याम इति यथा ॥६-१०॥

तर्काभासका वर्णन—तर्क कहते हैं व्याप्तिके ज्ञानको । और व्याप्ति उसे कहते हैं जहाँ साध्य साधनका सम्बन्ध घटित किया जाय । जहाँ साध्य नहीं होता वहा साधन भी नहीं होता । इस प्रकार साध्य साधनके सम्बन्धको घटित करे, वह तो है व्याप्ति और व्याप्तिके ज्ञानको तर्क कहते हैं । तो यहा उस तर्काभासमे यह बात सिद्ध होती है कि साध्यसाधनका सम्बन्ध तो है नहीं, व्याप्ति तो बन नहीं रही और उसमें ज्ञान किया जा रहा है तो वह तर्काभास है । तो जहाँ व्याप्ति तो बनती नहीं और फिर भी व्याप्तिका ज्ञान करना । जैसे कि किसीने अनुमान किया कि देवदत्तका छोटा पुत्र भी श्याम है क्योंकि देवदत्तके सारे पुत्र श्याम हैं । तो अब यहा व्याप्ति न बन जायगी कि जितने भी देवदत्तके पुत्र हो वे सब श्याम ही हों । व्याप्ति घटित न होनेपर भी व्याप्ति मान लेना वह तर्काभास कहलाता है । अब अनुमानाभास का प्रकरण बतलाते हैं ।

इदमनुमानाभासम् ॥६-११॥

अनुमानाभासका वर्णन—यहाँ अनुमानाभासके सूत्रमे अनुमानाभासका

लक्षण तो कहा नहीं, किन्तु यह अनुमानाभास है, इतना कहा गया तो इससे यह मानना चाहिए कि यह अधिकारसूत्र है। चूँकि अनुमानका वर्णन बहुत है अनुमानके अंग बहुत हैं साधन, साध्य, प्रतिज्ञा, दृष्टान्त आदिक अनेक बातें हैं। तो जितने ही अनुमानके अंग हैं उतने ही अनुमानाभासके अंग हैं। तो अनुमानकी तरह अनुमानाभासका प्रकरण भी अधिक है। तो उन समस्त आभासोंका ज्ञान कर लेनेपर अनुमानाभासोंका ज्ञान होता है, तो उन समस्त अनुमानोंके अंगका, साधनोंका आभास दिखाया जायगा, तब उन अंगोके आभासका वर्णन करनेके सिवाय और को ऐसी युक्ति नहीं है कि अनुमानाभासका स्वरूप बतादे, इस कारण यह अनुमानाभास है अर्थात् अब जो कुछ आगे कहेंगे वह सब अनुमानाभास है। अनुमान कहते हैं साधनसे साध्यके विज्ञान होनेको और ऐसा तो ज्ञान हो नहीं, उससे विपरीत हो, जिसका कि वर्णन अभी करेंगे तो वह सब अनुमानाभास है। अनुमानके सम्बन्धमे पक्ष हेतु दृष्टान्तादिक बताकर अनुमानका प्रयोग किया गया है। तो इतनी ही बातें आभासमे होंगी। जैसे—पक्षाभास, हेत्वाभास, दृष्टान्ताभास आदि। तो उन सब आभासोंमेसे सबका क्रमसे वर्णन करना है तो पहिले ही पक्षाभासका वर्णन किया जायगा। चूँकि अनुमानाभास पहिलेसे कुछ बताया जाना शक्य नहीं है। जिन अंगोसे दोष आता है उनकी सदोषता बतानेपर अनुमानाभास होगा ऐसे अनुमानाभासके उन अंगोमे सबसे पहिले पक्षाभासका वर्णन किया जा रहा है कि जो वास्तविक तो पक्ष न हो और पक्षकी तरह मान लिया जाय उसे पक्षाभास कहते हैं। सभी आभासोंका यही लक्षण है। जिसका आभास हो उसका तो लक्षण पाया न जाय और अन्यमे उसीको माना जाय तो वह आभास कहलाने लगता है। तब अनुमानके आभासत्वके वर्णनमें अब पक्षाभासका वर्णन करते हैं।

तत्रानिष्टादि पक्षाभास ॥ ६-१२ ॥

पक्षाभासका निर्देश—अनिष्ट, सिद्ध और बाधित ये तीन तरहके पक्षाभास होते हैं। चूँकि पक्ष अथवा इस प्रसगमे कहो प्रतिज्ञा इष्ट होना चाहिए अबाधित होना चाहिए और असिद्धको सिद्ध करनेके लिए होना चाहिए, लेकिन यदि प्रतिज्ञा ही अनिष्ट है जो स्वयके मतव्यका निराकरण करदे तो वह पक्षाभास है, प्रतिज्ञा सिद्ध ही है और फिर उसे सिद्ध करनेके लिए अनुमान आदिक बनानेका व्यर्थका श्रम किया जाय तो वह पक्षाभास है। इस प्रकार जो प्रतिज्ञा अन्य प्रमाणसे बाधित हो और बाधित होनेपर भी उस प्रतिज्ञाको सिद्ध करनेका अनुमान बनाया जाय तो वह पक्षाभास है। उन तीन प्रकारके पक्षाभासोमेसे अब अनिष्ट नामक पक्षाभासको कहते हैं।

अनिष्टो मीमांसकस्यानित्य शब्द इति ॥ ६-१३ ॥

अनिष्टनामक पक्षाभास—कभी-कभी कोई वादी-प्रतिवादी आदिकके देखनेपर अथवा बडे समुदाय सभासदोसे लगा हुआ क्षेत्र हो उसको या उस सभाका

निर्णायक बड़ा प्रभावशाली हो उसको देखकर कभी बुद्धि आकुलित हो जाय तो वह अपना ही मतव्य कुछ भूल सा जाता है, तब इस सम्बन्धमें कभी अनिष्ट पक्षको भी कर देता है। जैसे कि यदि मीमांसक सिद्धान्तके अनुयायी ऐसा अनुमान कर बैठें कि शब्द अनित्य है तो यह उनके लिए अनिष्ट नामक पक्षाभास है, क्योंकि इस सिद्धान्तमें शब्दको आकाशका गुण माना है और नित्य माना है, तो अपने मतव्यके विरुद्ध अनिष्ट बात स्वयं कहनी पड़ी, यह अनिष्ट नामका पक्षाभास हुआ।

तथा शब्द श्रावण सिद्ध ॥६-१४॥

सिद्धनामक पक्षाभास– असिद्ध कोई बात हो तो उसकी ही सिद्धि करने के लिये अनुमान दिया जाता है। लेकिन जो प्रत्यक्षसे भी सिद्ध है और उसे फिर सिद्ध करनेके लिए कोई अनुमान बनाये तो वह सिद्ध नामका पक्षाभास है। जैसे यह अनुमान बताये कोई कि शब्द श्रावण है। श्रावण मायने श्रोत्र इन्द्रियके द्वारा जाना जाने वाला है। तो यह सिद्ध नामक पक्षाभास है। वादी हो, प्रतिवादी हो, सबको इससे निर्विवाद दृष्ट है कि शब्द श्रावण इन्द्रियसे जाना जाता है। तो जो एकदम सबको अबाधित है, प्रत्यक्ष है, सिद्ध है उसको सिद्ध करनेके लिए अनुमान देवे तो वह सिद्ध नामका पक्षाभास है।

बाधित प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनै ॥६-१५॥

बाधित पक्षाभास और उसके प्रकार—बाधित नामके पक्षाभास ५ प्रकारके होते हैं। प्रत्यक्षबाधित, अनुमानबाधित आगमबाधित, लोकबाधित, स्व सुवचनबाधित। जो प्रतीज्ञा प्रत्यक्षसे ही बाधा हो तो वह प्रत्यक्षबाधित नामका पक्षाभास है। जिस प्रतिज्ञामें अन्य अनुमानसे बाधा आती है और फिर उस प्रतिज्ञाको सिद्ध करनेके लिये अपने अनुमानकी हठ की जाय तो अनुमान बाधित प्रत्यक्षाभास हो गया इसी प्रकार जो प्रतिज्ञा सिद्धान्त शास्त्रके विपरीत है और उसे अनुमानसे सिद्ध करे तो वह आगमबाधित नामक पक्षाभास होगा। इसी प्रकार जो बात लोकमें और प्रकारसे मानी जाती है लेकिन लोकमान्यताके विरुद्ध कोई बात सिद्ध की जाय तो वह लोकबाधित पक्षाभास है। कोई पुरुष ऐसी ही बात कह डाले जो अपने ही वचनसे अपनी ही बातमें बाधा आती हो तो उस अनुमानमें यह स्ववचनबाधित नामक पक्षाभास दोष होगा। इन ५ प्रकारके पक्षाभासोंमेंसे प्रत्यक्षबाधितनामक पक्षाभासको कहते हैं।

अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत् ॥६-१६॥

प्रत्यक्षबाधित पक्षाभास—जैसे कोई पुरुष अनुमानसे यह सिद्ध करना चाहे कि अग्नि ठंडी होती है, द्रव्य होनेसे, जलकी तरह। तो सर्वलोकको विदित है

कि अग्नि ठंडी नहीं हुआ करती। अग्नि गर्म ही होती है। सभी लोगोंने स्पर्शन इन्द्रियसे इसको भली प्रकार समझ लिया है तो प्रत्यक्षसे अग्नि गर्म है तो भी अग्निको ठंडी सिद्ध करना और उसके अनुमान अङ्ग आदिकके प्रयोग करना। तो ऐसे अनुमान में जो प्रतिज्ञा की जाती है वह प्रतीज्ञा प्रत्यक्षबाधित नामका पक्षाभास बोली है। अब अनुगत बाधित पक्षाभासको देखिये—

अपरिणामी शब्द: कृतकत्वाद्घटवत् ॥६-१७॥

अनुमानबाधित पक्षाभास – किसीने यह अनुमान किया कि शब्द अपरिणामी है। अर्थात् अपरिणमनशील नहीं है क्योंकि कृतक होनेसे घटकी तरह। तो देखिये। यहाँ इस अनुमानसे बाधा आयगी कि शब्द परिणामी है अर्थक्रियाकारी होनेसे अथवा कृतक होनेसे घटकी तरह। वादीने जो पहिले मिथ्या अनुमान पेश किया है उसका हेतु ही इतना निबल है कि उसी हेतुसे उनके अनुमानमे बाधा आती है। जो कृतक होगा वह अपरिणामी होगा क्या? कृतक सब परिणामी होते हैं। तो देखो! घट परिणामी है तब ही उसमे कृतकृत्व और अर्थ क्रियाकारित्व हेतु पाये जा रहे हैं तब शब्दमें भी कृतकत्व व अर्थक्रियाकारित्व होनेसे परिणामीपना सिद्ध होता है शब्द अर्थक्रियाकारी है—शब्द सुनकर बड़ी बड़ी व्यवहार वृत्तियाँ होती है। शब्द कृतक है उच्चारण किये जानेसे पहले शब्दोंकी उपलब्धि नहीं है। तो यह हेतु तो परिणामीपना सिद्ध करता है। तब यह अनुमान बनाना कि शब्द अपरिणामी है कृतक होनेसे। इससे शब्द अपरिणामी है यह जो प्रतिज्ञा की है इस पक्षमे अनुमानसे बाधा आती है इसलिये यह अनुमानबाधित नामका पक्षाभास हुआ। अब आगमबाधित पक्षाभासको कहते हैं।

प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत् ॥६-१८॥

आगमबाधित पक्षाभास—अनुमान बनाया गया है कि धर्म परभावमे दुःख को देने वाला है क्योंकि पुरुषोंके आश्रित होनेसे अधर्मकी तरह। जो जो पुरुषोंके आश्रित होते हैं वे दुःखको ही देने वाले होते हैं। जैसे कि अधर्म। यह पुरुषके द्वारा किया जाता है तो वह दुःखका ही देने वाला है। अनुमान तो यो बनाया गया, लेकिन आगममें तो धर्मको स्वर्ग और मोक्षका कारण बताया गया है। और अधर्मको ससार नारकादिक दुर्गतियोंका कारण बताया गया है। और, आगमके इन वाक्योंमे प्रमाणता भी है। ऐसा नहीं है कि केवल वाक्य रचना शास्त्रोंमें लिख दी है और वह अप्रमाणभूत है ऐसा नहीं है। आगम प्रमाण है यह बात पहिले बहुत विवेचनसे सिद्ध कर दी गई है। तो ऐसे प्रमाणभूत आगमसे यहाँ बाधा आ रही है। याने आगम तो कहता है यह कि धर्म स्वर्ग मोक्षका हेतुभूत है और अनुमान बताया जा रहा है यह कि धर्म परभवमे दुःखका ही देने वाला है पराश्रित होनेसे अधर्मकी तरह। तो यह अनु

मान अथवा पक्ष आगमसे बाधित है। अतएव अनुमानबाधिक नामका यह पक्षाभास होता है। जो प्रतिज्ञा की है कि धर्म दु खका देने वाला है यह आगम बाधितपक्षाभास है। अब लोकबाधित पक्षाभासको कहते हैं।

शुचि नरशिर कपाल प्राण्यङ्गत्वाच्छङ्खशुक्तिवदिति ॥६-१६॥

लोकबाधित पक्षाभास—मनुष्यके शिरकी हड्डी पवित्र है पुरुषोंका अग होनेसे शख शुक्तिकी तरह। इस अनुमानमे शखशुक्तिका दृष्टान्त देकर और चू कि वह भी प्राणियोका अग हैं और देखो लोकमे पवित्र माना जाता है। सो यों ही मनुष्यकी मृत खोपडीको भी पवित्र पवित्र शखको लोग बजाते हैं, शुक्तिसे आम वगैरहेको छीलते हैं। शुक्तिके छोटे छोटे कणोको घरोंमें लोग लगाते हैं तो देखो जैसे प्राणीका अग होनेसे शख शुक्ति पवित्र होती है इसी प्रकार मनुष्यके शिर कपाल भी प्राणियोके अग होनेसे पवित्र है। ऐसा अनुमान बनाया गया है। लेकिन, लोकमे प्राणियोंके अगपनेकी अविशेषता होनेपर भी कोई चीजें पवित्र मानी गई हैं वस्तुस्वभावके कारण, तो उसमें वस्तुस्वभावकी अवहेलना करके किसी भी जगह देखा गया कुछ तो दूसरी जगहके लिए भी वही सिद्ध करनेमें अड जाना सो यह लोकबाधित नामका पक्षाभास है। जैसे कि गोपिण्डसे उत्पन्न हुआ दूध भी है, दही भी है और गोपिण्डसे मास और मूत्रकी उत्पत्ति होती है, लेकिन गायसे ये सब कुछ निकलनेपर भी दूध दही आदिक तो शुद्ध माने गए हैं। तो जैसे गायसे निकलनेकी समानता होनेपर भी दूध पवित्र है मांस मूत्र आदिक अपवित्र है। इसी तरह प्राणियोके अग होनेपर भी शखशुक्ति पवित्र हैं और मनुष्यके कपाल शिर आदि अपवित्र हैं। अथवा जैसे मणि–मणि अनेक होनेपर भी कोई मणि विषापहार आदिक प्रयोजनको रचने वाले हैं तो वह मणि महामणि हो जाती है और अन्य मणि बहुमूल्य नहीं हो पाते हैं। तो यह तो वस्तुवो का खुदका अपने अपने स्वभावकी बात है। और, फिर शख शुक्तिके इस अवयवमें और मनुष्यकी हड्डीके अवयवमे भी अन्तर है। मनुष्यका शिरकपाल तो चाम मांसके भीतर होता है और शखशुक्ति यह जीवके ऊपर होती है अथवा स्थूलरूपसे यह कह सकते हैं कि शखशुक्ति शख और शुक्तिके कीडोंके रहनेका घर है। ऐसी ही विलक्षण बात होनेसे लोकमे शख शुक्तिको पवित्र माना गया है और मनुष्यके शिरकपालको अपवित्र माना गया है। सो लोकमें तो ऐसी व्यवस्था है और उसके विरुद्ध शख शुक्ति आदिककी तरह मनुष्यके शिरकपालको भी पवित्र सिद्ध करनेका अनुमान बना दिया जाय तो उसमें जो पक्ष दिया गया, प्रतिज्ञा की गई वह लोकबाधित पक्षाभास होता है। अब स्ववचनबाधित पक्षाभास सुनो—

माता मे वन्ध्या पुरुषसयोगेऽप्यगर्भत्वात् प्रसिद्धवन्ध्यावत् ॥६-२०॥

हेतु दृष्टान्तका एक दृष्टान्त कोई पुरुष अपने मु हसे अपने आप यह

अनुमान बनाये कि मेरी माता वन्ध्या है पुरुषका संयोग होनेपर भी गर्भ न रहनेसे प्रसिद्ध वन्ध्याकी तरह। तो हेतु दृष्टान्त यह अविचारितरम्य होनेपर भी, और सुननेमें बड़ा भला लगनेपर भी बात तो स्ववचनबाधित है। जो पुरुष बोल रहा है वह तो अपनी माताका पुत्र है। तब उसकी माता वन्ध्या किस तरह होगी ? तो अपने वचनसे अपने आपके कहनेमें बाधा होनेपर भी यह कहना कि मेरी माता वन्ध्या है पुरुषका संयोग होनेपर भी गर्भ न होनेसे। इस अनुमानमें जो प्रतिज्ञा की है वह स्ववचन-बाधित नामका पक्षाभास है। इस तरह पक्ष अथवा प्रतिज्ञा कहो याने साध्य सहित पक्षके ये आभास बताये गए हैं। यद्यपि इष्ट अबाधित असिद्ध ये साध्यके विशेषण हैं, किन्तु साध्यसहित पक्षके बोलनेका नाम भी पक्ष कहलाता है जिसको प्रतिज्ञा शब्द से कहते हैं। तो ऐसी दृष्टि रखकर पक्षाभासके नामसे यह दोष दिया गया। इस प्रकार अनुमानाभासके महान प्रकरणमें पक्षाभासका वर्णन हुआ। अब पक्षाभासका वर्णन करनेके बाद हेत्वाभासोंका वर्णन किया जा रहा है।

हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाऽकिञ्चित्कराः ॥ ६-२१ ॥

हेत्वाभासके प्रकार—असिद्ध विरुद्ध अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर ये चार प्रकारके हेत्वाभास होते हैं। अनुमानके प्रकरणमें हेतुका लक्षण कहा गया था कि जो साध्यके साथ अविनाभावी रूपसे निश्चित हो उसे हेतु कहते हैं। यह लक्षण बहुत निर्दोष और व्यापक है और हेतुकी हेतुताके लिए जो बातें सम्भव हैं वे सब इसमें आ जाती हैं, और, हेतुमें दोष रखने वाले जितने भी विकल्प हैं वे सब दूर हो जाते हैं। जो हेतु साध्यके बिना कभी होता न हो और वह हेतु उपस्थित हो तो उससे यह निर्णय होता है कि यहाँ यह साध्य अवश्य है। जैसे अग्निके बिना धूम नहीं होता। और धूम पाया तो उससे यह निश्चय होता है कि अग्नि अवश्य है, तो हेतुका लक्षण साध्यका अविनाभावीपना बताया गया है। उस लक्षणके विपरीत जितने भी प्रकार के हेतु होंगे वे सब कमी वाले हेतु हैं, अतएव वे हेत्वाभास हैं। वे हेत्वाभास ४ प्रकारके हैं असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर। उन चार भेदोंमेंसे सर्वप्रथम असिद्धके स्वरूपका निरूपण करते हैं।

असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्ध ॥ ६-२२ ॥

असिद्ध हेत्वाभास और उसके प्रकार—जिसकी सत्ता न हो अथवा जिसका निश्चय न हो उस हेतुको असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। इस लक्षणके करनेमें असिद्ध हेत्वाभासके भेद भी सिद्ध हो जाते हैं अर्थात् असिद्ध हेत्वाभास दो प्रकारका है एक अविद्यमान सत्ताक और दूसरा अविद्यमान निश्चय। जिस हेतुकी सत्ता ही न हो और यों ही अटपट कह दिया है, और जिस हेतुका सत्त्व तो है, कहीं न कहीं हुआ करता है, पर प्रसंगमें उसका निश्चय नहीं है, ऐसे हेतुको कहते हैं अविद्यमान निश्चय।

अविद्यमान निश्चय हेतुको हेत्वाभास कहते हैं। अब अविद्यमानसत्ताक नामके हेत्वाभासका लक्षण और दृष्टान्त कहते हैं।

अविद्यमानसत्ताक परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात् ॥ ६-२३ ॥

अविद्यमान सत्ताक हेत्वाभासका दृष्टान्त सहित वर्णन—जिस हेतुकी सत्ता विद्यमान ही न हो उस हेतुको अविद्यमान सत्ताक कहते हैं। जहाँ हेतु ही नही है तो उस हेतुसे साध्यकी सिद्धि क्या हो सकती है ? वह तो स्वरूपसे ही असिद्ध है अतएव वह हेत्वाभास है। जैसे कोई अनुमान प्रयोग करे कि परिणामी शब्द चाक्षुषत्वात् शब्द परिणामी है चाक्षुष होनेसे, इस अनुमानमे सिद्ध किया जा रहा है कि शब्द अनित्य है, विनाशीक है, परिणमने वाला है। क्योकि चक्षुइन्द्रियसे जाना जाता है। तो यहाँ हेतु दिया गया चाक्षुषत्वात्। लेकिन बताओ क्या शब्द चाक्षुष है, क्या चक्षुइन्द्रियके द्वारा शब्दकी जानकारी हुआ करती है ? वह तो श्रावण है, कर्ण इन्द्रियसे जाना जाता है, तो हेतुकी यहाँ सत्ता ही नही है। चाक्षुष कोई शब्द ही नही हुआ करता तो इस अनुमानमें जो चाक्षुषपनेका हेतु दिया गया है वह हेतु अविद्यमानसत्ताक नामका हेत्वाभास है, इस अविद्यमानसत्ताक हेतुको असिद्ध क्यों कहा गया है ? उसके उत्तरमें कहते हैं।

स्वरूपेणासिद्धत्वात् इति ॥ ६-२४ ॥

अविद्यमानसत्ताक हेतुके हेत्वाभासत्व होनेका कारण—चाक्षुषपना यह जो हेतु दिया गया है वह स्वरूपसे ही असिद्ध है। चक्षुइन्द्रियजन्य ज्ञानके द्वारा ग्राह्य होनेका नाम है चाक्षुषत्व। और, चाक्षुषपना शब्दमे स्वरूपसे ही नही है इसलिए असिद्ध है। शंकाकार कहता है कि शब्दकी तो सिद्धि है, सो पौद्गलिक होनेसे शब्दमें चाक्षुषत्वकी भी सिद्धि हो जायगी, क्योकि जो जो भी वस्तु पौद्गलिक हैं अतएव चाक्षुषपना उसमें है फिर इसको असिद्ध क्यो करते हो ? उत्तरमें कहते हैं कि भाई बहुतसे पदार्थ जो आँखो दिखते हैं वे पौद्गलिक हैं और चाक्षुष हैं यह बात ठीक है, और शब्द भी पौद्गलिक हैं, लेकिन पौद्गलिकताकी बात चाक्षुष और अचाक्षुषमें समान होनेपर भी यह देखिये कि यह शब्द अनुद्भूत रूपस्वभाव है अर्थात् शब्दोमें रूप स्वभाव प्रकट नही है, उसकी उपलब्धि नही सम्भव है। जैसे कि गरम जलमें जो कि अग्निके सम्बन्धसे गर्म हुआ गया है और जलमे गर्मी की गई है तो जलमें अग्निका गुण भासुररूप आना चाहिये ना। जैसे अलग रखी हुई अग्निमे भासुर रूप है इसी प्रकार उस जलमें भी भासुर रूप है लेकिन उसका स्वभाव उद्भूत कहाँ है ? देखिये ! उत्तर जिसके लिए दिया जा रहा है उसके ही सिद्धान्तको दृष्टान्तमें लेकर कहा जा रहा है, अथवा जैसे स्वर्णमे अग्निका सयोग है। जब स्वर्ण एकदम गर्म हो गया अग्निमें तपानेसे तो उसमें भासुर रूप तो होना चाहिए, क्योंकि अग्निका सयोग है स्वर्णमें,

लेकिन जैसा अग्निका भासुर रूप नजर आता है चमकदार, प्रकाशमय, ऐसा रूप तो स्वर्णमें नही आता। तो उसे अनुद्भूत स्वभावी माना है, अर्थात् अग्निका जो भासुर रूप है उसका आविर्भाव नही है उस जलमे और स्वर्णमे, इसी प्रकार शब्द पौद्गलिक हैं, पौद्गलिक होनेपर भी उसके रूपका आविर्भाव नही है, अतएव शब्दको चाक्षुप कहना असिद्ध है। तब जो उक्त अनुमान बनाया गया था कि शब्द परिणामी है चाक्षुष होनेसे, उसम जो चाक्षुष हेतु है वह अविद्यमानसत्ताक नामका असिद्ध हेत्वाभास है।

अनेको हेत्वाभास माननेकी शका व उसका समाधान—यहाँ शंकाकार कहता है कि असिद्ध हेत्वाभासके दो लक्षण बताये गए हैं लेकिन असिद्ध हेत्वाभास तो नाना प्रकारके होते हैं—जैसे विशेष्यासिद्ध, विशेषणासिद्ध, आश्रयासिद्ध, आश्रयैकदेश असिद्ध व्यर्थविशेष्यासिद्ध, व्यर्थविशेषणासिद्ध, व्यधिकरणासिद्ध, भागासिद्ध आदिक नाना प्रकारके असिद्ध हेत्वाभास हो सकते हैं, फिर दो ही प्रकारोंमे उन्हें क्यों बाँधा गया है ? उत्तरमे कहते हैं कि वे सभी तरहके असिद्ध हेत्वाभास इस अविद्यमानसत्ताक नामक असिद्ध हेत्वाभाससे जुदे नही हैं क्योंकि उन सभी असिद्धमे असिद्ध हेत्वाभासका लक्षण घटित होता है। जैसे कि स्वरूपासिद्ध नामका हेत्वाभास स्वरूपसे असत् होनेके कारण असत्सत्ताक कहलाता है। सी तरह विशेष्यासिद्ध आदिक अनेक हेत्वाभासो का उस–उस रूपसे असत् होनेके कारण असत्सत्ताक नामक असिद्ध हेत्वाभास ही कहलाता है।

विशेष्यासिद्ध व विशेषाणसिद्धका अविद्यमानसत्ताक असिद्ध हेत्वाभास मे अन्तर्भाव–जैसे विशेषसिद्धका दृष्टान्त दिया जाता है कि शब्द अनित्य है, क्योंकि सामान्यवान होकर चाक्षुष होनेसे। तो यहाँ हेतु तो दिया गया है चाक्षुप होनेसे। और उसका विशेषण दिया गया है सामान्यवान होनेपर, तो इस हेतुमे विशेषण विशेष्य दो सम्मिलित करके कहे गए हैं। इनमेसे चाक्षुपत्व नामक जो विशेष्य है वह असिद्ध है। तो विशेष्यासिद्धमे विशेष्यकी असिद्धि है। तो अर्थ उसका यह हुआ कि चाक्षुपत्व नामक जो विशेष्य है उसकी सत्ता ही नही है। तो यो यह विशेष्यासिद्ध अविद्यमानसत्ताक ही कहलाया। अतएव इसका अविद्यमानसत्ताक नामक हेत्वाभास मे अन्तर्भाव हो जाता है। दूसरा असिद्ध हेत्वाभास प्रकाकारका ही विशेषणासिद्ध है। जिस हेतुका विशेषण असिद्ध हो उसे कहते हैं विशेषणासिद्ध हेत्वाभास। जिस का उदाहरण है शब्द अनित्य है, चाक्षुष होनेपर सामान्यवान होनेसे। तो यहा हेतु मे चाक्षुपपनेको तो बता दिया विशेषण और हेतुकी मुख्यता दी है 'सामान्यवान होनेसे तो इस हेतुका चाक्षुपत्व विशेषण असिद्ध है। तो उसका निष्कर्ष यही तो निकला कि शब्दमे चाक्षुपत्व नही पाया जाता है। तो यह विशेषणासिद्ध नामक हेत्वाभास अविद्यमानसत्ताक ही तो कहलाया। इस कारण इसका इस प्रथम असिद्धहेत्वाभास में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

आश्रयासिद्ध व आश्रयैकदेशासिद्धका अविद्यमानसत्ताक असिद्धि हेत्वाभासमें अन्तर्भाव—तीसरा असिद्ध हेत्वाभास कहा गया था आश्रयासिद्ध। जिसका कि उदाहरण है कि 'प्रधान है विश्वका परिणामी होनेसे।' सांख्यसिद्धान्तमें दो तत्त्व मुख्य माने गए हैं—प्रधान और पुरुष। इनमें पुरुषको तो अपरिणामी अविकृत चैतन्यमात्र माना है और जितना भी दृष्टिसे सम्बन्ध है, और जो जो कुछ भी परिणमनशील है वह सब प्रधानका ही विकार बताया गया है। उसके अनुसार यहाँ यह अनुमान किया गया कि प्रधान नामक तत्त्व है, क्योंकि विश्वका परिणामी होनेसे। अर्थात् वह सारे विश्वको रच रहा है। तो अब हेतुका आश्रय है प्रधान याने हेतुने कहते हैं कि रच रहा है प्रधान, तो प्रधान ही सिद्ध नहीं है, आश्रय उसका असिद्ध है, क्योंकि परमार्थसे प्रधान नामका कोई तत्त्व नहीं है। तो इस अनुमानमें हेतुका आश्रय असिद्ध है, यही तो कहा गया। जिसका निष्कर्ष यह निकला कि फिर हेतुकी सत्ता ही नहीं है, प्रधान ही नहीं है, विश्वका परिणामी कौन हो फिर ! तो हेतुको यह आश्रयासिद्धपना अविद्यमानसत्ताकमें ही अन्तर्निहित हो जाता है। शंकाकारने चौथा असिद्ध हेत्वाभास कहा था—'आश्रयैकदेशासिद्ध' अर्थात् जिस हेतुमें आश्रयका एक देश असिद्ध हो। उदाहरणमें शंकाकार कहता है कि परमाणु प्रधान आत्मा और ईश्वर ये नित्य हैं अकृतक होनेसे। तो इस अनुमानमें आश्रय बनाये गए हैं, चार। परमाणु प्रधान आत्मा और ईश्वर। और, हेतु दिया गया है अकृतक होनेसे याने किये गए नहीं हैं। तो इस हेतुके जो आश्रय हैं उनमें कुछमें अकृतपना है कुछमें नहीं है। अथवा कुछ तो सिद्ध है और कुछ सिद्ध नहीं है। जैसे परमाणु सिद्ध है आत्मा सिद्ध है, प्रमाणसिद्ध नहीं है तो इस हेतुके जितने आश्रय दिए गए हैं उनमेंसे कुछ आश्रयासिद्ध हैं, इस कारण यह हेतु आश्रयैकदेशासिद्ध है। इस कथनमें निष्कर्ष यह निकला कि हेतुकी सत्ता नहीं पायी गई उनमें जो आश्रयासिद्ध है। तो उनमें हेतु कहा रहा ? तो यों यह भी अविद्यमानसत्ताक नामके हेत्वाभासमें ही गर्भित हो जाता है।

व्यर्थविशेष्यासिद्ध व व्यर्थ विशेषणासिद्धका अविद्यमानसत्ताक असिद्ध हेत्वाभास अन्तर्भाव – ५ वाँ असिद्ध हेत्वाभास शंकाकारने कहा है व्यर्थ विशेष्यासिद्ध और उसका उदाहरण वह कहता है कि परमाणु अनित्य है कृतक होनेपर सामान्यवान होनेसे। तो इसमें जो हेतु दिया गया है वह व्यर्थ विशेष्य है, अर्थात् जिस का विशेष्य व्यर्थ है ऐसा यह असिद्ध हेतु है। इस हेतुमें कृतकत्वे सति (किया गया होकर) इतना अंश है विशेष्य। तो इस हेतुमें अगर इतना ही कहते—कृतक होनेसे तो भी यह अपना मन्तव्य सिद्ध करनेका यत्न रख सकते थे। तो इसमें सामान्यवान होनेसे यह विशेष्य व्यर्थ हुआ और व्यर्थ तो हुआ लेकिन साथ ही साथ असिद्ध भी है। तो यों यह व्यर्थ विशेष्यासिद्ध हेत्वाभास मानता है शंकाकार, लेकिन इसका भी निष्कर्ष यह है कि उस हेतुकी सत्ता नहीं है पक्षमें अतएव यह भी अविद्यमानसत्ताक नामके

हेत्वाभासमे ही गर्भित हो जाता है। छठवा ६वाँ व्यर्थविशेषणासिद्ध नामका हेत्वाभास, जिसका उदाहरण है कि परमाणु अनित्य है सामान्यवान होकर मृतक होनेसे। इस अनुमानमें 'कृतक होनेसे' यह है विशेष्य और सामान्यवान होकर' यह है विशेषण। तो परमाणुवोको अनित्य साबित करनेके लिए कृतकपना इतना ही हेतु पर्याप्त है। इतना होनेपर फिर 'सामान्यवान होकर' इस विशेषणके देनेकी कोई आवश्यकता नही है, यह विशेषण व्यर्थ है। तो इस व्यथ विशेषणासिद्ध नामके हेत्वाभास मे निष्कप यह निकलेः कि सय विशेषणके जो हेतु दिया गया है वह अविद्यमानसत्ताक है। विशेष्य और विशेषण ये व्यर्थ हो जाते हैं ऐसे हेतुको अविद्यमानसत्ताकमे ही अन्तर्निहित कर लेना चाहिए।

व्यधिकरणासिद्ध यदि साध्यविनाभावित्वसे रहित है तो उसका अविद्यमानसत्ताक असिद्ध हेत्वाभासमे अन्तर्भाव ७ वाँ असिद्ध हेतु बताया है व्यधिकरणासिद्ध जिसका अधिकरण भिन्न हो ऐसे हेतुको व्यधिकरण कहते हैं और इसी कारण असिद्ध है उस व्यधिकरणासिद्ध कहते है। इसका उदाहरण दिया गया है शब्द अनित्य है क्योंकि कपडा कृतक है। तो इस अनुमानमे जो हेतु दिया गया है पट का कृतकपना, सो पटका कृतकपना पटमे है और शब्दका अनित्यपना शब्दमे बताते हैं, तो अब यहाँ यह व्यधिकरण हो गया। हेतुका अधिकरण अन्य है और साध्यका अधिकरण अन्य कहा जा रहा है, इसलिए कृतकत्व हेतु असिद्ध हो गया। सो यह अविद्यमानसत्ताक नामक असिद्ध हेत्वाभासमे ही आ गया। शङ्काकार कहता है कि शब्दमे कृतकपना तो है ही फिर कृतकत्व हेतुको असिद्ध क्यो कहा जा रहा है? उत्तरमे कहते हैं कि यह बात अयुक्त है क्योंकि यहाँ यह कृतकपना पटमे बताया जा रहा, तो पटका कृतकपना शब्दोमे असिद्ध है। शब्दमें रहने वाले कृतकपनेको तो हेतु रूपमे नही कहा किन्तु पटमे रहने वाले कृतकपनेको हेतुरूपसे कहा गया है, इसलिए पटकी कृतकता शब्दमे असिद्ध है तब यह अविद्यमानसत्ताक नामका ही हेत्वाभास हुआ। अन्य आधारमें बताया गया हेतु अन्य आधारमें सिद्ध कर दिया जाय सो नही, पटमे बताई गई कृतकता शब्दमें साध्यको सिद्ध करदे ऐसा नही हो सकता, अन्यथा इसमें तो बडी विडम्बना बन जायगी। किसी भी जगह कुछ भी हेतु बताकर सभी जगह कुछ भी साध्य सिद्ध कर दिया जायगा। इससे व्यधिकरणासिद्धमें व्यधिकरणत्व है और इसी कारण असिद्धत्व है, लेकिन अन्यमें बताया गया हेतु पक्षमे तो असिद्ध है, सत्ता है ही नही इस कारण यह व्यधिकरणासिद्ध अविद्यमानसत्ताक असिद्ध हेत्वाभास ही कहलायेगा।

भागासिद्ध यदि साध्याविनाभावित्वसे रहित है तो उसका अविद्यमानसत्ताक असिद्ध हेत्वाभासमे अन्तर्भाव—अब ८ वाँ हेत्वाभास शङ्काकारने बताया भागासिद्ध। पक्षके एक भागमें हेतु असिद्ध सो उसे भागासिद्ध कहते हैं। एक

हेत्वाभास बताया गया था आश्रयैकदेशासिद्ध, लेकिन आश्रयैकदेशासिद्धमें यह अन्तर है कि आश्रयैकदेशमें आश्रयका एक देश असिद्ध है और हेतु सिद्ध ही है किन्तु भागासिद्धमें आश्रयके एक देशमें हेतु असिद्ध है और आश्रयका एक देश सिद्ध है भागासिद्धमें उदाहरण दिया गया है कि शब्द अनित्य है, क्योंकि पुरुषके प्रयत्नके बाद उत्पन्न होता है। तो यहाँ जो हेतु दिया गया है कि प्रयत्नके बाद उत्पन्न हुआ तो यह हेतु सब पदार्थोंमें घटित नहीं होता। बतलावो मेघ आदिकके जो शब्द होते हैं वे क्या पुरुषके व्यापारसे उत्पन्न हुए हैं? तब देखिये कि आश्रयका एक देश यहाँ असिद्ध हुआ ना, इस सम्बन्धमें यह निरखिये कि व्यधिकरणासिद्धत्व और भागासिद्धत्व ये यौग आदिक दर्शनोंमें प्रक्रियाका दिखाना मात्र है। वास्तवमें तो यह हेतुका दोष नहीं है, अन्यथा व्यधिकरणमें भी जैसे कि 'शकट नक्षत्र उदित होगा कृत्तिकाका उदय होनेसे" तो अब यह हेतु तो सही है मगर अधिकरण भिन्न–भिन्न हैं। कृत्तिकाका उदय कृत्तिकामें है, रोहणीका उदय रोहणीमें होगा, तो एक व्यधिकरण होनेसे हेतु झूठा हो जाता है नियम न बना। देखो यह उत्तर पूर्वचर अनुमान सही है और अधिकरण भिन्न भिन्न हैं। अथवा जैसे अनुमान बनाया गया कि ऊपर वर्षा हुई है क्योंकि पूर देखा जा रहा है। तो यहाँ हेतु तो पूर दर्शन है, सो पूर दर्शन तो है नीचे भागमें और साध्य बताया है ऊपर भागमें। वर्षाके समयका तो अधिकरण भिन्न भाग है, तो इतने मात्रसे क्या यह अनुमान गलत हो जायगा? ये दोनों अनुमान सही हैं इसलिए व्यधिकरणासिद्धत्व दोषके लिए नहीं और भागासिद्धत्व भी दोषके लिए नहीं। देखो! ऊपर वर्षा हुई है नीचे पूर दिखनेसे, इसमें भागासिद्धकी झलक है लेकिन अनुमान सही है।

साध्याविनाभावित्वसे गम्यगमकभाव होनेके कारण व्यधिकरणतासे हेतुके सदोषत्व व निर्दोषत्वका अनिर्णय—बात असलमें यह है कि गम्यगमक भाव अविनाभावके कारण हुआ करता है व्यधिकरण या अव्यधिकरणताके कारण नहीं। वह श्याम है देवदत्तका पुत्र होनेसे, यह भी अनुमान सही बन जाय, क्योंकि व्यधिकरण दोष इसमें नहीं है, लेकिन अविनाभाव तो नहीं है, इस कारण अनुमान सही नहीं है। और कोई अनुमान बनाये कि मकान सफेद है कौवाके काला होनेसे। तो अब इसमें भागासिद्धकी कोई बात नहीं है। पर क्या अनुमान बन जायगा? यहाँ व्यधिकरणता या अव्यधिकरणताका होना गम्यगमक भावका कारण नहीं, किन्तु अविनाभाव होना ही गम्यगमक भाव होनेके कारण है। व्यधिकरण होकर भी अनेक जगह हेतु साध्यका गमक हो जाता है। व्यधिकरण भी साध्यका गमक होता है, ऐसा माननेपर अविद्यमानसत्ताकरूप असिद्धपना विरोधको प्राप्त नहीं होता, क्योंकि गुरुवोंका यह अभिप्राय नहीं है कि जिसकी सत्ता ही न हो पक्षमें वह असिद्ध कहलाता है। फिर क्या अभिप्राय है? यह अभिप्राय है कि साध्यके साथ अथवा दृष्टान्तके साथ या दोनोंके साथ जिस हेतुकी अविनाभावी सत्ता नहीं है उसे असिद्ध कहते हैं। तो इस प्रकार व्यधिकरण नामका जो अनगमें असिद्ध हेत्वाभासकी बात शंकाकार कह रहा

था वह सिद्ध न हुई, क्योंकि कहीं कहीं व्यधिकरण होकर भी हेतु साध्यका गमक होता है।

साध्याविनाभावित्वसे गम्यगमकभाव होनेके कारण भागासिद्धता से भी हेतुके सदोषत्व व निर्दोषत्वका अनिर्णय— भागासिद्ध भी जहाँ कहीं हेतु का साध्यके साथ अविनाभाव मिल जाय तो वहाँ गमक होता है इसलिए भागासिद्ध भी एकान्ततः हेत्वाभास हो सो बात नहीं है। भागासिद्ध होनेपर भी यदि हेतुका साध्यके साथ अविनाभाव न हो तो वह गमक नहीं होता। भागासिद्धमें जो यह दृष्टान्त दिया था कि शब्द अनित्य है, क्योंकि प्रयत्नके अनन्तर उत्पन्न होता है, तो इसमें दोष यों भी नहीं है कि प्रयत्नके अनन्तर होना अनित्यत्वके बिना कहीं भी नहीं देखा जाता अर्थात् जो बात प्रयत्नके बाद होती है वह तो अनित्य होती ही है इस कारण यह हेतु दूषित नहीं है। अब रहा शब्दोंके बारेमें कि शब्द प्रयत्नके बिना ही हुआ करते हैं। तो जितनेमें भी प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु पाया जाय उतने शब्द का अनित्यत्व तो इस हेतुसे सिद्ध हो ही जाता है। अब उसके अलावा जो भी शब्द है, जो पुरुषके प्रयत्नके बिना मेघ आदिकमें हो रहे हैं वे कृतकत्वात् इस हेतुसे सिद्ध हो जावेंगे। अथवा प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतुके ग्रहणकी सामर्थ्यमें यहाँ ऐसे ही शब्दोंको पक्षमें लिया गया है जो प्रयत्नके अनन्तर उत्पन्न हुआ करते हैं। तो प्रयत्नसे उत्पन्न हुए शब्दोंमें ही प्रयत्नसे उत्पन्न हुए हेतुसे अनित्यपना सिद्ध किया जा रहा है तो भागासिद्ध दोष हीके लिए वहाँ कोई अवकाश नहीं। क्योंकि जितने भी पुरुषप्रयत्नके द्वारा उत्पन्न हुए शब्द हैं उन सबमें प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु पाया जा रहा है। तो भागासिद्धपनेका दोष उसमें कहा जा सकता है। इस प्रकार असिद्ध हेत्वाभासके प्रसंगमें प्रथम भेदका वर्णन किया जा रहा है कि जिसकी सत्ता विद्यमान न हो वह अविद्यमानसत्ताक नामका हेत्वाभास है। वह व्यापक रूपसे अनेक असिद्धोंको अपनेमें गर्भित करता हुआ सिद्ध हो जाता है। अब इस समय असिद्ध हेत्वाभासका जो द्वितीय प्रकार है उसका वर्णन करते हैं —

अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धिं प्रत्यग्निरत्र धूमादिति ॥६–२५॥

अविद्यमाननिश्चयनामक असिद्ध हेत्वाभास—जिसका निश्चय विद्यमान नहीं उसे अविद्यमान निश्चया नामक हेत्वाभास कहते हैं। जैसे मुग्ध बुद्धियों के प्रति ऐसा कहना कि यहाँ अग्नि है, धूम होनेसे तो उसके लिये यह अनुमान अविद्यमान निश्चय नामक हेत्वाभास कहलाये ? तो उसके उत्तरमें सूत्र कहते हैं।

तस्य वाष्पादिभावेन भूतसंघाते संदेहात् ॥६–२६॥

अविद्यमाननिश्चयताका कारण—मुग्धबुद्धिके प्रति उक्त हेतुमें अविद्यमान

निश्चयता यों है कि मुग्ध बुद्धिवाले पुरुषको वाष्प भाव आदिकके भावसे धूममें संदेह हो सकता है अर्थात् धुवां हो वहां यह भाप समझले। कहीं भाप हो तो उसे धूम समझले। यहांपर साध्य साधनमें जिसकी बुद्धि व्युत्पन्न नहीं है वह पुरुष धूम तो इस प्रकारका हुआ करता, भाप इस तरह हुआ करता इस तरहका विवेक करनेमें समर्थ नहीं है। तो ऐसे पुरुषके प्रति जिसका हेतुके विद्यमान होनेका निश्चय नहीं है कभी धूमको भाप समझले, कभी भापको धूम समझले भाप और धूममें विवेक करने की जहाँ ताकत नहीं है क्योंकि धूम और भापमें स्थूल विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। अन्तर तो विदित हो जाता है, पर समझदार लोग इस पहिचान पाते हैं। तो मुग्ध बुद्धिजनोंके लिये यह अनुमान किया जाता सो इससे यह हेतु उनको हेत्वाभास बन जाता है अथवा अविद्यमान निश्चय नामक असिद्ध हेत्वाभासका दार्शनिक दृष्टिमें भी एक दृष्टान्त सुनो—

सांख्यं प्रति परिणामी शब्द कृतकत्वादिति ॥६–२७॥

अविद्यमाननिश्चयत असिद्ध हेत्वाभासका एक दार्शनिक दृष्टान्त— सांख्यसिद्धान्तानुयायियोंके प्रति यह अनुमान कहा जाय कि शब्द परिणामी होता है कृतक होनेसे। चूंकि यह किया गया है अतएव शब्द परिणामी है। सो यद्यपि यह अनुमान सही है। जो जो कृतक होता है वह वह परिणमनशील होता ही है। परिणमनशील तो सभी पदार्थ हैं लेकिन जो कृतक हैं वे स्पष्ट परिणामी विदित होते हैं। तो अनुमानका सही होनेपर भी सांख्यसिद्धान्तानुयायीके प्रति यह अनुमान जो सो उनके प्रसंगसे कृतकत्व तु यह हेतु अविद्यमान निश्चय नामक हेत्वाभास बनता है। क्यों बनता है यह हेतु सांख्यसिद्धान्तानुयियोंको अविद्यमान निश्चय नामक हेत्वाभास, उसका कारण बताते हैं।

तेनाज्ञातत्वात् ॥६–२८॥

उक्त दार्शनिक दृष्टान्तमे हेतुकी अविद्यमाननिश्चयताका कारण— सांख्यसिद्धान्तानुयायियों द्वारा यह कृतकत्व हेतु अज्ञात है, इसका कारण यह है कि सिद्धान्तमें प्रत्येक कार्योंका कारणमें प्रतिसमय सद्भाव माना गया है। आविर्भावको छोड़कर और कुछ कृतकत्व वहां प्रसिद्ध है नहीं, किसी कारणके व्यापारसे ऐसे स्वरूपका लाभ हो जो पहिले न हो, यह सिद्धान्तमे माना नहीं गया है। क्योंकि सब कुछ सब जगह सबमे रहता है। केवल कारणोंके द्वारा कार्यका आविर्भाव किया जाता है। तो ऐसे सिद्धान्तकी कल्पनामे कृतकत्व हेतु कहा ज्ञात है? वह अज्ञानकी तरह है। तब हेतुका निश्चय न बन सका, अतएव यह हेतु अविद्यमान निश्चय नामक असिद्ध हेत्वाभास हो जाता है।

अन्याभिमत अन्य असिद्धोंका अविद्यमाननिश्चय हेत्वाभासमे अन्तर्भाव

कुछ और भी असिद्ध हेत्वाभास हैं जिनका कि अविद्यमान निश्चय नामक असिद्धहेत्वाभासमें अन्तर्भाव होता है । जैसे सदिग्धविशेष्य—सदिग्धविशेष्यासिद्धका एक यह उदाहरण है कि आज तक भी कपिल रागादिकयुक्त है क्योंकि पुरुषपना होनेपर भी अब तक भी तत्त्वज्ञान उत्पन्न न होनेसे । इसी प्रकार सदिग्ध विशेषणासिद्ध बतलाते हैं कि आज तक भी रागादिकयुक्त कपिल है क्योंकि सर्वदा तत्त्वज्ञानसे रहित होनेपर पुरुषपना होनेसे । तो ये सब असिद्धके भेद कोई अन्यतरासिद्ध हैं, कोई उभयासिद्ध हैं अर्थात् किन्हींको वादी और प्रतिवादीमेंसे कोई एक नहीं मान रहा और किसीको वादी प्रतिवादी दोनों नहीं मान रहे, तो वे सब अविद्यमाननिश्चय नामक असिद्ध हेत्वाभासमें गर्भित हो जाते हैं । शकाकार कहता है कि अन्यतरासिद्ध नामका हेत्वाभास कोई होता ही नहीं है, वह किस प्रकार ? सो देखिये । दूसरेके द्वारा असिद्ध है ऐसा कहा जानेपर यदि वादी उस मतव्यके साधक प्रमाणको नहीं कहते हैं तो प्रमाणाभासकी तरह दोनोंके ही असिद्ध हो गया । और, यदि वादीके साधक प्रमाणको कहता है तो प्रमाण पक्षमें न रह सका तो दोनोंके लिए भी यह असिद्ध बन गया अन्यथा साध्य भी अन्यतरासिद्ध कभी नहीं सिद्ध हो सकेगा । तब तो प्रमाणका वर्णन करना, कोई युक्ति प्रमाण देना ये सब व्यर्थ हो जायेंगे । उत्तरमें कहते हैं कि ऐसी शका करना सही नहीं है क्योंकि वादी अथवा प्रतिवादीके द्वारा सभ्योंके समक्ष अपने द्वारा दिया गया हेतु प्रमाणसे जब तक दूसरेके प्रति सिद्ध नहीं कर लिया जाता तब तक उसके प्रति इसकी प्रसिद्धि न होनेसे अन्यतरासिद्ध रहेगा ही । शकाकार कहता है कि इस तरह तो इसकी असिद्धता भी गौण हो जायगी । उत्तरमें कहते हैं कि हाँ ऐसी ही बात है । प्रमाणसे सिद्धिका अभाव होनेसे यह असिद्ध है पर स्वरूपसे असिद्ध नहीं है । एक होता है प्रमाणसे असिद्ध और एक होता है स्वरूपसे असिद्ध । तो जो वादी कह रहा है जिसे समझा है वह स्वरूपमें असिद्ध नहीं है किन्तु प्रमाणसे सिद्ध नहीं हो पा रहा है अभी अर्थात् प्रतिवादी द्वारा सम्मत नहीं हो सका है तो उसे प्रमाणसे ही असिद्ध कह सकते हैं । ऐसा तो नहीं होता कि रत्नादिक पदार्थ यदि वास्तविक रूपसे कोई न जान पाये तो उतने काल तक वह मुख्यतया रत्नाभास बन जाय । न जाना जाय कुछ तो यह लोगोंकी बात है, मगर रत्न आदिक पदार्थ तो जिस स्वरूपसे हैं उस ही स्वरूप वाले हैं । तो प्रमाणसमर्थमें वह असिद्ध है और ऐसे ही यह अविद्यमाननिश्चय नामका हेत्वाभास बन जाता है । इस तरह असिद्ध नामक हेत्वाभासके दो प्रकार बताये हैं । अब विरुद्ध हेत्वाभासका स्वरूप बतला रहे हैं ।

विपरीतनिश्चिताविनाभावोविरुद्ध अपरिणामी शब्दकृतकत्वात् ॥६-२९॥

विरुद्धहेत्वाभासका वर्णन—विरुद्धहेत्वाभास उसे कहते हैं कि साध्यके विपरीत धर्मके साथ जिस हेतुका अविनाभाव निश्चित हो । अर्थात् हेतुसे सिद्ध करना चाहते थे कुछ और उसी हेतुसे हो जाय विपरीत सिद्ध । तो जिस हेतुका विपरीत

के साथ अविनाभाव निश्चित होता है उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं। जैसे कि कोई यह अनुमान बनाये कि शब्द अपरिणामी है कृतक होनेसे तो यहाँ देखिये कृतकत्वकी व्याप्ति अपरिणामी साध्यसे विपरीत परिणामीके साथ है। अर्थात् जो कृतक होता है वह परिणामी हुआ करता है। तो विपरीतके साथ अविनाभाव होनेसे यह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास कहलाया। जो हेतु साध्यस्वरूपसे विपरीतके साथ है, जिसका अविनाभाव विपरीतके साथ निश्चित् हो वह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास कहलाता है। जो पूर्व आकारको तो छोडे और उत्तर आकारको ग्रहण करे और तिसपर भी वस्तुत्व रहा आया तो ऐसे परिणामके साथ ही तो कृतकत्वका अविनाभाव है। सो ऐसा अन्दरमें, बहिरङ्गमें सब जगह सबको प्रतीति होती है कि हा जो कृतक होता है उसमे ऐसी व्यवस्था बनती है। तो कृतक होता है उसमे ऐसी व्यवस्था बनती है। तो कृतकपना न तो सर्वथा नित्यमे बन सकता और न सर्वथा क्षणिकमे बन सकता। इसी कारण कृतकत्वके साथ परिणामित्वकी व्याप्ति है। सर्वथा नित्य और सर्वथा क्षणिकमे कृतकत्व धर्म नही रहता। तो कृतकत्व हेतुसे सिद्ध करने तो चले थे कि वस्तु अपरिणामी सिद्ध हो जाय, ध्रुव सिद्ध हो जाय, लेकिन कृतकत्वकी व्याप्ति ध्रुवसे विपरीत परिणामीके साथ है। अतएव यह हेतु विरुद्धहेत्वाभास कहलायेगा।

यौगाभिमत आठ विरुद्धभेदोमेसे पक्षविपक्षव्यापक सपक्षावृत्ति नामक प्रथम विरुद्धभेदका विरुद्धहेत्वाभासमे अन्तर्भाव—नैयायिक आदिकने जो विरुद्धके भेद कहे हैं वे भी विरुद्धके इस ही लक्षणसे लक्षित हैं, इस कारण विरुद्धके इस ही लक्षणमें उनका अन्तर्भाव होता है। वे ८ विरुद्ध भेद कौनसे हैं कि सपक्षके होनेपर तो विरुद्ध चार प्रकारके माने हैं और सपक्षके न होने पर विरुद्ध चार प्रकारके माने हैं, इस तरह ८ प्रकारके विरुद्ध हेतु कहे हैं। वे सब इस ही लक्षणमें गर्भित होते हैं इसका ही वर्णन अब करते हैं। पहिले उन चार विरुद्धोंको बहलाते हैं जो सपक्षके होनेपर हुआ करते हैं। जैसे पहिला है पक्ष—विपक्षव्यापकसपक्षावृत्ति याने पक्ष और विपक्षमें रहने वाला और सपक्षमे न रहने वाला और सपक्षमे न रहने वाला जैसे कि शब्द नित्य है। उत्पत्तिधर्मवाला होनेसे। अब यहा जो हेतु दिया गया है उत्पन्न व धर्म वाला होनेसे तो उत्पन्नत्व धर्मपना पक्ष किए गए शब्दमे रहता है। और नित्यसे विपरीत जो अनित्य हैं घट आदिक उनमें भी उत्पन्नत्वधर्म रहता है अर्थात् पक्षकी भांति यह हेतु विपक्षमें भी रहता है किन्तु नित्य साध्यका सपक्ष हैं आकाश आदिक सो उन सपक्षोंके होनेपर भी सपक्षमें यह हेतु नही रह रहा सो यह जो प्रथम विरुद्ध भेद है कि जो पक्ष विपक्षमें व्यापक हो और सपक्षमें न रहता हो, उसे परख लीजिये कि विरुद्ध नामका जो हेत्वाभास कहा गया उस हीमें इसका अन्तर्भाव जानना याने विपक्षमें चूकि यह हेतु गया है, तो इस हेतु का विपरीतके साथ अविनाभाव होनेके कारण विरुद्ध हेत्वाभासमें ही इसको अन्तर्भूत समझना चाहिए।

विपक्षैकदेशवृत्तिपक्षव्यापक सपक्षावृत्ति नामक विरुद्ध भेदका विरुद्ध हेत्वाभासमे अन्तर्भाव – दूसरा विरुद्ध भेद कहा है विपक्षैकदेशवृत्ति पक्षव्यापक सपक्षावृत्ति अर्थात् जो विपक्षके एक देशमे रहे और पक्षमे रहे तथा सपक्षमे न रहे–जैसे कि शब्द नित्य है, सामान्यवान होकर हम लोगोके द्वारा प्रत्यक्षभूत होनेसे, तो यहाँ हेतु बताया गया है सामान्यवान होकर हम लोगोके बाह्य इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होनेसे, तो तुम्हारा यह विशेषण हेतु पक्षमे चला गया। पक्ष है शब्द और शब्द सामान्यवान है और हम लोगोके द्वारा बाह्य इन्द्रिय याने श्रवण इन्द्रियके द्वारा प्रत्यक्षभूत है। बाह्य इन्द्रियके द्वारा ग्रहणमें आ जाय ऐसी योग्यता मात्र यह बाह्य इन्द्रिय प्रत्यक्षपना विवक्षित है। तो अब देखिये कि यह हेतु पक्षमे तो आ गया और विपक्षके एक देशमे भी आ गया। साध्य है नित्यपना, उसका विपक्ष है अनित्य। तो अनित्य घट आदिक हैं, उनमें भी यह हेतु पाया गया है कि सामान्यवान होकर हम लोगोके बाह्य इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होनेसे। घट भी सामान्यवान है। घटमे घटत्व माना गया है, और हम लोगोको नेत्रादिक इन्द्रियके द्वारा ग्राह्य हैं, और, सुखादिकमे यह हेतु पाया नही जाता; तो नित्यके विपक्ष अनित्य हुए ना, तो उन अनित्यमेस कुछ अनित्यमे हेतु पाया जाय, कुछ अनित्यमें हेतु न पाया जाय इसीको कहेंगे विपक्षके एक देशमे रहना। सो विपक्ष घट भी है और सुख भी है, किन्तु हेतु घटमे पाया गया और सुखमे पाया नही गया। तो यह हेतु विपक्षके एक देशमे भी रहा, पक्षमे भी रहा। मगर सपक्षमें नही रहता। साध्य बताया गया है यहाँ नित्य और जो जो नित्य माना गया हो वह कहलायेगा सपक्ष। तो आकाश भी नित्य माना गया है तो सपक्ष भी हेतु रहना चाहिए। तो सपक्षमे हेतु रहता नही। आकाश हम लोगोके बाह्य इन्द्रियके द्वारा प्रत्यक्षभूत कहाँ हो रहा ? और, सामान्यमे तो यह हेतु पाया ही न जा सकेगा, क्योकि विशेषण दिया गया है कि सामान्यवान होकर। सामान्य तो सामान्यवान नही है, वह तो स्वय सामान्य है। तो सामान्यवान होकर इस विशेषणके कहे जानेसे हेतु सामान्यसे भी हट गया। तो यो यह हेतु विपक्षके एक देशमे रहा, पक्षमे रहा और सपक्षमे न रहा। इस प्रकारका यह दूसरा विरुद्ध भेद बताया गया है। लेकिन इसमे भी तो यही ध्वनित हुआ कि हेतुकी साध्य विरुद्धके साथ व्याप्ति है। विपक्षके साथ, विपरीत साध्यके साथ व्याप्ति होनेके कारण यह विरुद्ध हेत्वाभासमे ही गर्भित होता है।

पक्षविपक्षैकदेशवृत्ति सपक्षावृत्ति नामक विरुद्ध भेदका विरुद्धहेत्वाभासमे अन्तर्भाव – तीसरा विरुद्ध भेद बताया है पक्षविपक्षैकदेशवृत्ति और सपक्षावृत्ति अर्थात् जो पक्षके एक देशमे रहे, विपक्षके एक देशमे रहे और सपक्षमे न रहे। जैसे कि अनुमान बनाया गया कि वचन और मन सामान्य विशेषवान हैं और हम लोगोके बाह्य इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष हैं क्योंकि नित्य होनेसे। तो इस अनुमानमे हेतु तो दिया है नित्यत्व, पक्ष बनाया है वचन और मन। साध्य बनाया है सामान्य विशेषवान है और हम लोगोंके बाह्य इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष है। तब यहाँ देखिये ! नित्यत्व हेतु पक्षके एक

देशमे रह रहा है। यहाँ पक्ष बताये गए हैं दो—वचन और मन। सो नित्यत्व हेतु मनमे तो है पर वचनमे नही है। तो यह हेतु पक्षके एक देशमें रहा और विपक्षके एक देशमे भी रह रहा। यहाँ साध्य बताया गया है सामान्यविशेष्यवान और हम लोगोके बाह्य इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष। तो उसके विपरीत कुछ होगा ना! जो सामान्य विशेषवान हो और हम लोगोके द्वारा बाह्य इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष न हो ऐसे पदार्थ माने गए हैं आकाश आदिक शंकाकारके सिद्धान्तमे। तो देखिये! कि आकाश आदिकमे हेतु तो पाया गया किन्तु साध्य नही पाया जा रहा। हम लोगोके बाह्य इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष तो नही हो रहा आकाश, सो एक जगह तो विपक्षमें हेतु पाया गया, किन्तु किसी और विपक्षमे यह हेतु भी नही पाया जाता। साध्य बताया गया है हम लोगोको बाह्य इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष है। तो विपक्ष है जो बाह्येन्द्रियके द्वारा प्रत्यक्ष न हो, ऐसे सुखादिक हैं उसमे नित्यत्व हेतु नही पाया जाता। तो यह हेतु किसी विपक्षमे पाया जाता, किसी विपक्षमे नहीं पाया जाता, इस कारण विपक्षके एक देशमें रहने वाला सिद्ध हुआ है और सपक्षमें रहता नही। सपक्ष कहलाया वह शब्द जो हम लोगोके बाह्येन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्षभूत है तथा घट आदिक पदार्थ ये सभी हम लोगोके बाह्येन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्षभूत है, लेकिन इसमे नित्यत्व धर्म नही पाया जा रहा, इस कारण सपक्षमे न रहा, हेतु और साध्यकी समक्षता तो सामान्य विशेषवान होनेपर इस विशेषणसे ही कट गया है, अर्थात् सामान्य सामान्यविशेषवान कहाँ है? वह तो केवल सामान्यरूप है और योगी पुरुषोके बाह्य इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष हैं आकाश आदिक, लेकिन वे हम लोगोके द्वारा ग्रहणमें तो नही आ रहे। अतएव वे सपक्षमें ही नही माने जाते। इतनी बहुत-बहुत छोटी-छोटी बातोका विस्तार बनाकर कहा जाने वाला यह विरुद्ध भेद भी इस विरुद्ध हेत्वाभासके लक्षणसे लक्षित है। अतएव यह पक्षविपक्षैकदेशवृत्ति सपक्षावृत्तिनामक विरुद्धभेद हेत्वाभासमें ही गर्भित होता है।

पक्षैकदेशवृत्तिविपक्षसपक्षावृत्ति विपक्षव्यापक नामके विरुद्धभेदका विरुद्धहेत्वाभासमे अन्तर्भाव—सपक्षके होनेपर जो चार प्रकारके विरुद्ध हेतु बताये जा रहे हैं उनमेंसे यह अन्तिम विरुद्ध हेतु है—पक्षैकदेशवृत्ति सपक्षावृत्ति, विपक्ष व्यापक जैसे कि अनुमान बनाया गया कि वचन और मन नित्य है उत्पत्ति धर्म वाला होनेसे तो यहा हेतु है उत्पत्ति धर्मवाला होना। वह पक्षके एक देशमें रह रहा है। इस अनुमानमें पक्ष बनाये गये हैं वचन और मन। सो उनमेसे वचन तो उत्पत्ति धर्मवाला है किन्तु मनमें उत्पत्ति धर्म नही पाया जाता। मनको विशेषवादियो ने नित्य माना है और उत्पत्ति धर्म वाला नही माना। यहाँ साध्य बनाया गया है नित्य होना। तो उसके सपक्ष हैं आकाश आदिक, जो नित्य हो वे सपक्ष कहलायेंगे। तो आकाश आदिक जो सपक्ष हैं, नित्य हैं उनमें हेतु नही रह रहा है। आकाश तो उत्पत्ति धर्म वाला नही है, और, साध्यसे जो विपरीत होता है विपक्ष। साध्य बनाया गया है यहा नित्य, नित्यसे उल्टा हुआ अनित्य जो जो अनित्य पदार्थ होंगे वे सब

विपक्ष कहलायेंगे। तो घट पट आदिक पदार्थ विपक्ष हुए सो विपक्षमें यह हेतु सब जगह रह रहा है। इस प्रकार इस अनुमानमें जो हेतु कहा गया है वह विरुद्ध भेद वाला है किन्तु यह कुछ अलगसे हेत्वाभास नहीं है। इसका अन्तर्भाव विरुद्ध हेत्वाभासमें ही हो जाता है क्योंकि हेतुका नित्यसे विरुद्ध अनित्यमें व्याप्ति पायी जाती है। जो जो उत्पत्ति धर्मवाले होंगे वे अनित्य ही तो होंगे

पक्षविपक्षव्यापक अविद्यमान सपक्ष विरुद्ध भेदका विरुद्धहेत्वाभासमे अन्तर्भाव अब चार विरुद्ध ऐसे बताये जा रहे हैं शंकाकारके द्वारा जो सपक्षके होनेपर हुआ करते हैं। उनमेंसे प्रथम भेद है पक्षविपक्षव्यापक व अविद्यमान सपक्ष अर्थात् जो हेतु पक्ष और विपक्षमें रहे और जिसका विद्यमान न हो याने सपक्ष हो ही नहीं। जैसे अनुमान बनाया गया कि शब्द आकाशका विशेष गुण है क्योंकि प्रमेय होनेसे, तो यहाँ हेतु रहा प्रमेयत्व सो यह प्रमेयत्व हेतु पक्षभूत शब्दमें तो चला गया अर्थात् शब्द भी प्रमेय है, साथ ही साथ यह हेतु विपक्षमें आ जाता है। विपक्ष कौन होगा ? जिसमें साध्य न हो। साध्य यहाँ बताया गया है आकाश विशेष गुणका। अब जो आकाशका विशेष गुण न हो वह कहलायेगा विपक्ष, तो ऐसे घट पट आदिक अनेक पदार्थ जो आकाशके विशेषगुण रूप नहीं हैं, तो विपक्ष घट आदिकमें भी प्रमेयत्व हेतु पहुँचता है तो हेतु विपक्षमें ही चला गया और सपक्षमें हेतु यों नहीं जाता कि उसका सपक्ष कुछ है नहीं, साध्य जहाँ जहाँ पाये जायें वह सपक्ष कहलाता है। और जिस स्थलमें साध्य घटाया जाय उसे पक्ष कहते हैं। तो इस अनुमानमें पक्ष तो है शब्द और साध्य है आकाशका विशेषगुण, तो आकाश विशेषगुण रूप साध्य यह और और जगह पाया जाय, ऐसा कोई सपक्ष ही नहीं है, तो सपक्षमें रहेगा ही क्या ? इस प्रकार यह विरुद्ध हेतु पक्ष और विपक्षमें तो रहा और इस हेतुका सपक्ष है ही नहीं, क्योंकि आकाशमें शब्दसे तो अन्य कोई विशेष गुण नहीं है जिससे कि वह भी सपक्ष बन जाय। कोई यहाँ ऐसी शंका करे कि आकाशमें परम महापरिमाण गुण तो है अर्थात् आकाशका विस्तार आकार बहुत है तो परम महापरिमाण नामका गुण होनेसे सपक्ष मिल जाया करेगा। तो उत्तरमें कहते हैं कि परम महापरिमाण गुण तो अन्य पदार्थोंमें भी पाया जाता है। जैसे आत्माको भी परम महापरिमाण वाला विशेषवादमें माना है। तो परम महापरिमाण गुण साधारण गुण रह गया। आकाशका विशेष गुण तो नहीं कहलाया। आकाशके विशेषगुणका कोई सपक्ष नहीं मिल सकता है। तो इस तरह यह पक्षविपक्षव्यापक अविद्यमान सपक्ष हेतु बताया तो गया है लेकिन विरुद्ध हेत्वाभासका जो लक्षण किया गया है उस लक्षणसे यह भी लक्षित है इस कारण इसका भी विरुद्ध हेत्वाभासमें अन्तर्भाव होता है।

पक्षविपक्षैकदेशवृत्ति अविद्यमानसपक्ष नामक विरुद्ध भेदका विरुद्ध हेत्वाभासमे अन्तर्भाव—अब सपक्षके न होनेपर विरुद्ध होने वाला दूसरा भेद कहते

हैं। पक्षविपक्षैकदेशवृत्ति अविद्यमान सपक्ष जैसे कि अनुमान बनाया गया कि ६ पदार्थ सत्ता सम्बन्धी हैं उत्पत्तिमान होनेसे तो यहाँ हेतु दिया गया है उत्पत्तिमत्व सो यह हेतु पक्षके एक देशमे रह रहा है पक्ष बनाये हैं ६ पदार्थ द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय। तो इन ६ पदार्थोंमेंसे जो अनित्य द्रव्य है, अनित्य गुण है अनित्य कर्म है उनमे ही यह हेतु घटित होगा जो नित्य द्रव्य आदिक हैं उनमें यह हेतु घटित न होगा। इस तरह यहाँ हेतु पक्षके एक देशमे रहा, साथ ही विपक्षके एक देशमें भी रहता है। यहाँ साध्य बताया गया है सत्ता सम्बन्धी है अर्थात् जिसमें सत्ताका सम्बध होता है ऐसा है तो सत्ता सम्बन्धीका विपक्ष हुआ यह जिसमें सत्ताका सम्बन्ध न हो वह विपक्ष कहलायेगा तो ऐसे विपक्ष हुए प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव। इनके सत्ताका सम्बन्ध नहीं है। ये अभावरूप हैं, तो विपक्ष कहलाये ये चार प्रकारके अभाव। सो इन विपक्षोमेंसे कुछमे तो हेतु घटित होता है और कुछमें नहीं। हेतु है उत्पत्ति वाला होनेसे? तो प्रध्वसाभाव तो उत्पत्ति वाला है। जैसे घट रखा और डंडा मार दिया खपरिया बन गयी घटका प्रध्वसाभाव होगया तो प्रध्वसाभावकी उत्पत्ति हुई है, किन्तु प्रागभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभावकी तो उत्पत्ति नहीं होती है। तो उत्पत्ति वाला होनेसे यह हेतु विपक्षके एक देशमे घटित हुआ। सपक्ष तो इसका कोई है ही नहीं। सपक्ष उसे कहते हैं कि साध्य जहाँ जहाँ पाया जाय। यहा साध्य बनाया गया है सत्ता सम्बन्धी और पक्ष बना दिया है ६ पदार्थ। अब पक्षके अलावा और कौन सी चीज रह गयी जिसमें हम सत्ता सम्बन्धी यह साध्य घटित करें। सब कुछ तो ६ में कह डाला। तो सपक्षका अभाव है इसलिए सपक्षमे इस हेतुकी वृत्ति नही है। इस तरह यह भी एक विरुद्ध भेद हुआ। लेकिन यह विरुद्ध हेत्वाभासके लक्षणमे ही लक्षित है, यह अलगसे कोई भेद नही है, इसका भी विरुद्ध हेत्वाभासमे अन्तर्भाव होता है।

पक्षव्यापक विपक्षैकदेशवृत्ति अविद्यमानसपक्षनामक विरुद्धभेदका विरुद्ध हेत्वाभासमे अन्तर्भाव—अब सपक्षके न होनेपर विरुद्ध नामका तीसरा भेद कहते हैं। पक्षव्यापक विपक्षैकदेशवृत्ति और अविद्यमान सपक्ष अर्थात् जो हेतु पक्षमें तो रहे और विपक्षके एक देशमे रहे, किन्तु जिसका सपक्ष विद्यमान ही न हो, इस भेदका उदाहरण एक यह है कि शब्द आकाशका विशेष गुण है, क्योंकि बाह्य इन्द्रियके द्वारा ग्राह्य होनेसे. तो यहाँ हेतु है बाह्येन्द्रियग्राह्यत्व। वह हेतु पक्ष बनाये गये शब्दमे पाया जाता है इस कारण पक्षव्यापक है और विपक्षके एक देशमे ही रहता है, सो विपक्षैकदेशवृत्ति है। विपक्ष उसे कहते हैं जो स्थल साध्यके विपरीत हो। इस अनुमानमें साध्य बनाया गया है आकाशका विशेष गुण है। तो विपक्ष वह होगा जो आकाशका विशेष गुण नही है। तो आकाशका जो विशेषगुण नही, अन्य जितने भी गुण हैं उन सब गुणोमें सबमें यह हेतु नही पाया जाता, किन्तु कुछमे पाया जाता कुछ में नही। जैसे रूप आदिकमें बाह्य इन्द्रियग्राह्यपना पाया जारहा है किन्तु सुख आदिक

में बाह्य इन्द्रियग्राह्यपना नहीं पाया जाता। रूप भी आकाशके विशेषगुणसे अलग है। इसलिए विपक्ष तो ये दोनों ही हैं, लेकिन बाह्य इन्द्रियग्राह्यपना हेतुरूप आदिकमें तो है और सुख आदिकमें नहीं है, तब हेतु रहा विपक्षके एक देशमें। और, यहाँपर सपक्ष कोई है ही नहीं, इस कारण सपक्षकी प्रवृत्ति वैसे ही सिद्ध है। सपक्ष उसे कहते हैं जो पक्षसे अतिरिक्त ऐसा स्थल हो जिसमें साध्य पाया जाता हो। साध्य बताया गया है आकाशका विशेष गुण। तो आकाशका विशेषगुण अन्यत्र कहीं पाया जाता हो ऐसा कुछ है ही नहीं, इस कारणसे इसका सपक्ष विद्यमान ही नहीं है। यों यह विरुद्ध भेद यद्यपि अनुमानको सिद्ध करनेमें असमर्थ है और इसी कारण दोषरूप है लेकिन विरुद्ध हेत्वाभासका जो लक्षण किया गया है उस लक्षणसे यह लक्षित है, उससे बहिर्भूत नहीं है इस कारण इसका भी अन्तर्भाव विरुद्ध हेत्वाभासमें हो जाता है।

पक्षैकदेशवृत्ति विपक्षव्यापक अविद्यमानसपक्ष नामक विरुद्धभेदका विरुद्ध हेत्वाभासमें अन्तर्भाव — अब सपक्षके न होनेपर होने वाले विरुद्धभेदमें एक यह अन्तिम भेद है—पक्षैकदेशवृत्ति विपक्षव्यापक अविद्यमान सपक्ष अर्थात् जो हेतु पक्षके एक देशमें रहे और विपक्षमें रहे तथा जिसका सपक्ष कोई हो ही नहीं, जैसे कि अनुमान बनाया गया कि वचन और मन नित्य हैं कार्य होनेसे। तो इस अनुमानमें हेतु तो हुआ कार्यत्व, और पक्ष हुआ वचन और मन। साध्य हुआ नित्य। तो कार्यपना पक्षके एक देशमें रह रहा है अर्थात् वचन तो कार्य है किन्तु मन कार्य नहीं है। इस प्रकार यह हेतु पक्षके एक देशमें रहा। और, विपक्ष हैं अनित्य घट आदिक जो साध्यसे याने नित्यसे विपरीत धर्म वाला हो वह सब विपक्ष कहलाया। यहां साध्य बनाया गया है नित्यका जो विपरीत हो, अनित्य हो वह सब विपक्ष है। तो विपक्ष जो नित्य घट आदिक हैं उन सबमें यह कार्यपना रह रहा है याने कार्यत्व हेतु समस्त विपक्षमें रहता है और सपक्षमें प्रवृत्ति है इस हेतुकी, क्योंकि इसका कोई सपक्ष ही नहीं है। पक्षके अतिरिक्त वे स्थल जिसमें साध्य रहता हो उन्हें सपक्ष माना गया यहाँ साध्य है नित्य सो नित्यमें अन्य किसीमें कार्यत्व पाया ही नहीं जाता तो इस तरह यह विरुद्धभेद दूषित है लेकिन इसका भी अन्तर्भाव विरुद्ध हेत्वाभासमें है। क्योंकि विरुद्ध हेत्वाभासमें जो लक्षण किया गया है उस लक्षणसे ही यह हेतु लक्षित है। इस प्रकार विरुद्ध हेत्वाभासका वर्णन समाप्त हुआ। अब अनेकान्तिक हेत्वाभास किस प्रकारसे होता है इसका वर्णन करते हैं।

विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनेकान्त ॥ ६-३० ॥

अनैकान्तिक हेत्वाभासका स्वरूप—विपक्षमें भी जिस हेतुकी वृत्ति अविरुद्ध है अर्थात् जो हेतु विपक्षमें भी चला जाता है उसे अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं इस सूत्रमें अपि शब्द देनेसे यह ध्वनित हुआ कि वह हेतु पक्ष और सपक्षमें तो रहता ही है पर केवल पक्ष और सपक्षमें ही रहकर विपक्षमें भी हेतु चला गया सो

उस हेतुको अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं। अनैकान्तिकका शब्दार्थ क्या है कि इसमें तीन शब्द पडे हुए हैं न, एक, अन्त। न का समास होनेपर अ आदेश हो जाता है। तब इसका व्युत्पत्ति अर्थ हुआ एक ही धर्ममें जो नियत हो उसे तो कहते हैं ऐकान्तिक और उससे जो विपरीत हो उसे कहते हैं अनैकान्तिक। अर्थात् सव्यभिचार याने व्यभिचार सहित जो हेतु होता है उसे अनैकान्तिक कहते हैं व्यभिचारका अर्थ क्या है ? पक्ष और सपक्षसे अन्यमें रहनेको व्यभिचार कहते हैं। जो पक्ष और सपक्षमें रह कर भी पक्ष सपक्षसे अन्यत्र अर्थात् विपक्षमें भी रहता है उसे व्यभिचारी कहते हैं, ऐसी बात प्रसिद्ध है। जैसे कि कोई पुरुष अपने पक्षमें भी रह रहा है और सपक्षमें भी रह रहा है और विपक्षमे भी रहा करते हैं। जो अपने घरमें भी प्रेमसे रहता है। मित्रजनोमे भी रहता है और शत्रुओमें भी मिला रहता है याने जो कुटुम्बके और मित्रके शत्रु हैं उनमे भी मिला रहता है तो उस पुरुषको व्यभिचारी कहेंगे इसी प्रकार यह हेतु भी जो अनैकान्तिक रूपसे माना गया है उसे व्यभिचारी कहते हैं। यह अनैकान्तिक नामका हेत्वाभास दो प्रकारका है एक निश्चित वृत्ति रूप अनैकान्तिक हेत्वाभास दूसरा शकित वृत्तिरूप अनैकान्तिक हेत्वाभास। उनमेसे अब निश्चित वृत्ति नामक अनैकान्तिक हेत्वाभासका वर्णन करते हैं।

निश्चितवृत्तिर्यथाऽनित्य शब्द प्रमेयत्वात् घटवदिति ॥६–३१॥

निश्चितवृत्तिनामक अनैकान्तिक हेत्वाभास निश्चित वृत्ति नामका अनैकान्तिक हेत्वाभास उसे कहते हैं कि जिस हेतुकी वृत्ति विपक्षमें निश्चित है अर्थात् जो हेतु विपक्षमें अर्थात् साध्यसे विपरीत स्थलमे नियमसे रहा करे उस हेतुको निश्चित् वृत्ति अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं। उदाहरण इस प्रकार है। जैसे कि अनुमान बनाया गया कि शब्द अनित्य है प्रमेय होनेसे, घटकी तरह। जो जो प्रमेय होते हैं वे वे अनित्य होते हैं। जैसे कि घट। शब्द भी प्रमेय है इस कारण शब्द भी अनित्य होना चाहिए। इस प्रकारका एक अनुमान बनाया गया तो इस अनुमानमे जो प्रमेयत्व हेतु है वह निश्चितवृत्ति नामक अनैकान्तिक हेत्वाभास है। यह प्रमेयत्व हेतु निश्चित वृत्ति नामक अनैकान्तिक हेत्वाभास किस प्रकार है, इसका वर्णन करते हैं।

आकाशे नित्येप्यस्य संभवादिति ॥ ६–३२ ॥

निश्चितवृत्ति कुहेतुकी अनैकान्तिकहेत्वाभासताका कारण—निश्चित वृत्ति अनैकान्तिक हेत्वाभास उसे कहते हैं कि जो हेतु विपक्षमें नियमसे रहे। उक्त अनुमानमें हेतु दिया गया है प्रमेयत्व और साध्य बताया है अनित्य। और, अनित्यरूप साध्यसे विपरीत है नित्य पदार्थ जैसे कि आकाश, तो आकाश विपक्ष हुआ ऐसा नित्य आकाश विपक्षमें भी प्रमेयत्व हेतु रह रहा है। आकाश भी तो प्रमेय है, वह भी तो ज्ञानके द्वारा जाना जा रहा है। आगममें भी उसका बहुत वर्णन किया गया है औ-

सभी लोग मानते हैं तो आकाश प्रमेय होनेपर भी अनित्य नही है । अनुमान यह बनाया गया था कि जो जो प्रमेय होते हैं वे सब अनित्य होते हैं लेकिन यहाँ व्यभिचार आ गया। आकाश प्रमेय होनेपर भी अनित्य नही माना गया है इस कारण यह निश्चित वृत्ति नामका अनेकान्तिक हेत्वाभास है। विशेषवादमें निश्चितरूपसे आकाश को नित्य माना है और प्रमेयपना इस आकाशमे निश्चितरूपसे रह रहा है, सन्देह भी नही है कि आकाश प्रमेय है या नही। तो निश्चितरूपसे विपक्षमे हेतुके रहनेके कारण इस हेतुको निश्चितवृत्ति नामका अनेकान्तिक हेत्वाभास कहा गया हैं। अब शंकितवृत्ति नामक द्वितीय अनेकान्तिक हेत्वाभासका वर्णन करते हैं।

शंकितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वादिति ॥ ६-३३ ॥

शंकितवृत्ति नामक अनेकान्तिक हेत्वाभास—शंकितवृत्ति अनेकान्तिक हेत्वाभास उसे कहते हैं जो हेतु विपक्षमे शंकित रहे अर्थात् जिस हेतुको विपक्षमे सदेह पाया जाय। रहता है या नही रहता है ? कुछ शकाके ढगसे अथवा रह भी सकता है रहनेकी सम्भावनाके ढगसे, यह शंकितवृत्ति नामक अनेकान्तिक हेत्वाभास होता है। इसका एक यह उदाहरण है कि अनुमान बनाया गया कि सर्वज्ञ नही है वक्ता होनेसे, जो जो वक्ता होता है वह सर्वज्ञ नही होता। इस प्रकारके अनुमानसे वक्तृत्व हेतुके द्वारा सर्वज्ञत्वका निषेध किया गया तो इसमें जो वक्तृत्व हेतु है वह शंकितवृत्ति नामका अनेकान्तिक हेत्वाभास है । इस अनुमानमे वक्तृत्व हेतु शंकितवृत्ति नामका हेत्वाभास किस प्रकारसे है ? उसका वर्णन करते हैं।

सर्वज्ञेन वक्तृत्वाविरोधात् ॥ ६-३४ ॥

शंकितवृत्तिरूप कुहेतुकी अनैकान्तिक रूपताका कारण—शंकितवृत्ति उसे कहते हैं कि जिस हेतुका विपक्षमें रहनेकी भी सम्भावना है उसे शंकित वृत्ति कहते हैं। जो उक्त अनुमानमे हेतु तो बताया है वक्तृत्व और साध्य कहा गया है सर्वज्ञ नही है। सर्वज्ञका प्रतिषेध साध्य कहा गया है। तो सर्वज्ञ अभावका विपरीत क्या हुआ ? सर्वज्ञका सद्भाव। तो जैसे वक्तृत्व हेतुका सर्वज्ञमें भी विरोध नही है। वक्ता भी हो और सर्वज्ञ भी हो। ये दोनो बातें सम्भव हैं। और इसका तो समर्थन सर्वज्ञ सिद्धिके प्रकरणमें बहुत विस्तारसे वर्णन किया है। जो सर्वज्ञ होता है वह रागपूर्वक, इच्छा पूर्वक तो वक्ता नही होता किन्तु जीवोके पुण्योदयसे और उस सकल परमात्माके वचन योगके कारण सहज ही जैसे मेघ गर्जना करते हैं इसी प्रकार सकल परमात्माकी भी दिव्यध्वनि खिरती है। इस तरह वे वक्ता तो हो गए। लेकिन सर्वज्ञका अभाव उनमे नही है। तो वक्तृत्व हेतुका सर्वज्ञके सद्भावमे विरोध नही है इस कारण उक्त अनुमानमें दिया गया वक्तृत्व हेतु शंकित वृत्ति नामका अनेकान्तिक हेत्वाभास हो

जाता है । यो निर्दिष्टवृत्ति व शंकितवृत्ति नामके दो भेद अनैकान्तिक हेत्वाभासके किए गए ।

विविध विपक्षवृत्तिवाले कुहेतुओंका अनैकान्तिक हेत्वाभासमें अंतर्भाव—इस प्रसंगमें योग आदिक किन्हीं सिद्धान्तोंमें अनेक प्रकारके हेत्वाभास माने हैं। जैसे पक्षत्रय व्यापक आदिक ८ प्रकारके अनैकान्तिक हेत्वाभास माने हैं, वे सब यहाँ कहे गए । अनैकान्तिकके लक्षणसे लक्षित हैं इस कारण इन दो प्रकारके अनैकान्तिक हेत्वाभासोंसे भिन्न नहीं हैं वे भेद अर्थात् उन सब अनैकान्तिक हेत्वाभासोंका इन अनेकान्तिक दो हेत्वाभासोंमें अन्तर्भाव हो जाता है । क्योंकि सब जगह विपक्षमें पूरे रूपसे अथवा एक देशरूपसे विपक्षमें रहनेके कारण विपक्षमें उनकी वृत्ति अविरुद्ध है । यह बात तो आ ही गई और अनैकान्तिक हेत्वाभासका लक्षण यह कहा गया है कि विपक्षमें अविरुद्ध वृत्ति हुआ रूप लक्षणमें सब भेद घटित होते हैं अतएव वे अन्य सिद्धान्तके द्वारा प्रतिपादित ८ प्रकारके हेत्वाभास इस अनैकान्तिक हेत्वाभासमें ही गर्भित हो जाते हैं । अब उदाहरणके रूपमें उन सबपर दृष्टिपात कीजिए ।

पक्षत्रयव्यापककुहेतुका अनैकान्तिक हेत्वाभासमें अंतर्भाव—योगाभिमत अनैकान्तिकोंमें प्रथम हेतु बताया है पक्षत्रय व्यापक याने जो पक्ष सपक्ष और विपक्ष तीनोंमें रहे ऐसे हेतुको हेत्वाभास कहा है । जिसका कि उदाहरण है—शब्द अनित्य है प्रमेय होनेसे । तो यहाँ प्रमेयत्व हेतु अर्थात् जाननेमें आ सकना यह स्पष्ट रूपसे शब्दमें भी पाया जा रहा है । शब्द भी ज्ञेय बन रहा है और सपक्ष याने जो नित्य हैं, उनमें भी प्रमेयत्व हेतु पाया जा रहा है । तो इस तरह पक्ष, सपक्ष, विपक्ष तीनोंमें हेतुके रहनेके कारण यह पक्षत्रय व्यापक नामका कुहेतु कहा गया है, लेकिन इसका अन्तर्भाव अनेकान्तिक हेत्वाभासमें हो जाता है क्योंकि अनेकान्तिक हेत्वाभासका भी यही लक्ष्य है कि जो पक्ष सपक्ष और विपक्ष तीनोंमें हेतु रहे उसे अनेकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं । सो यही पक्ष इस पक्षत्रय व्यापक नामक कुहेतुमें अनकान्तिकका लक्षण घटित हो जाता है ।

सपक्षविपक्षैकदेशवृत्ति कुहेतुका अनेकान्तिक हेत्वाभासमें अन्तर्भाव—दूसरा मिथ्या हेतु बताया है सपक्षविपक्षैकदेशवृत्ति जो सपक्ष और विपक्षके एक देशमें रहे, उदाहरण दिया गया है कि जैसे शब्द नित्य है अमूर्त होनेसे, तो यहाँ अमूर्तत्व हेतु पक्ष बताये गए शब्दमें भी पूरेमें रहता है और सपक्षके एक देशमें रहता है । यहाँ जो जो नित्य हो वे वे सब सपक्ष कहलायेंगे । सो नित्य आकाशमें तो अमूर्तपना है, मगर नित्य परमाणु भी है उसमें अमूर्तपना नहीं है । तो कुछ नित्यमें हेतु गया कुछ नित्यमें अमूर्तत्व हेतु नहीं पाया गया इसी कारण यह हेतु सपक्षके एक देशमें रहा । विपक्ष हुआ नित्यसे विपरीत अनित्य । तो ऐसा अनित्य है सुख और घट आदिक ।

तो सुख आदिकमे तो हेतु घटित हो गया क्योंकि वह अमूर्तिक है, पर घट आदिकमे अमूर्तत्व हेतु नही पाया गया। यो यह हेतु विपक्षके एक देशमें रहा। इस तरह यह हेतु यद्यपि कुहेतु है लेकिन इसका अन्तर्भाव अनैकान्तिक हेत्वाभासमे हुआ, क्योंकि अनैकान्तिकका भी यही लक्षण है जो पक्ष सपक्ष और विपक्षमे रहे। चाहे एक देश में रहे चाहे पूरे देशमें रहे।

पक्षसपक्षव्यापक विपक्षैकदेशवृत्तिका अनेकान्तिक हेत्वाभासमे अन्तर्भाव--तीसरा सदोष हेतु बताया गया है पक्षसपक्षव्यापक-विपक्षैकदेशवृत्ति अर्थात् जो हेतु पक्ष और सपक्षमे रहे और विपक्षके एक देशमे भी रहे उसे कहते हैं पक्षसपक्षव्यापक विपक्षैकदेशवृत्ति। जैसे अनुमान बनाया कि यह गौ है सीग वाला होने से, तो यहाँ हेतु दिया गया है सींगवाला होनेसे। तो यह हेतु पक्षमे तो चला गया अर्थात् जिसको यह शब्दसे कहा था कि यह गौ है तो इद शब्द द्वारा वाच्य जो पिंड है उस पिण्डमें विषाणित्व है अर्थात् सींग है तो यो पक्षमे हेतु व्यापक हो गया। और सपक्ष कौन है ? जितने और गौवे हैं जो प्रत्यक्षमे इद शब्द द्वारा वाच्य जैसा कि पक्ष बनाया है उसे छोडकर दुनियामे जितनी भी गायें हो वे सब सपक्ष कहलायेंगी। तो गोत्व धर्मस युक्त समस्त व्यक्ति विशेषोंमे विषाणित्व पाया जाता है। अर्थात् सीग वाला यह हेतु जैसे पक्षमे पाया जा रहा है। इसी प्रकार सपक्षमें भी पाया जा रहा है। किन्तु साथ ही साथ विपक्षके एक देशमे भी विषाणित्व पाया जाता हैं। विपक्ष कौन हुआ ? जो साध्यसे विपरीत हो याने जो गाय न हो, अगोरूप। चाहे और कुछ भी हो वे सब गौके विपक्ष हैं। तो उन विपक्षोंमेसे भैंसे आदिकमे तो सींग पाये जाते हैं, पर मनुष्यादिकमे नही पाये जाते। तो यह हेतु विपक्षके एक देशमे गया। इस तरह यह हेतु, अनुमान दूषित है यह बात सही है लेकिन इस नामसे अलग हेत्वाभास नही कहा जा सकता क्योंकि जो अनैकान्तिक हेत्वाभासका लक्षण है उस लक्षणसे यह भी लक्षित है अत. इसका अन्तर्भाव अनैकान्तिक हेत्वाभासमें हो जाता है।

पक्षविपक्षव्यापक सपक्षैकदेशवृत्तिका अनैकान्तिक हेत्वाभासमे अन्तर्भाव—चौथा अनैकान्तिक बताया हैं पक्षविपक्षव्यापक सपक्षैकदेशवृत्ति। अर्थात् जो हेतु पक्ष तथा विपक्षमें रहे और सपक्षके एक देशमें रहे जैसे कि अनुमान बनाया गया कि यह अगौ है याने गाय नही है गायके अतिरिक्त और कुछ है। विषाणी होनेसे, सींग वाला होनेसे। तो देखो ! यहं हेतु जिसको पक्ष बनाया गया है अय कहकर ऐसे अगौ पिण्डमे तो है अनुमान करने वालेने भैंसको देखा और उसको कह रहा है कि यह अगौ है क्योंकि सीग वाला होनेसे। तो सीग वाला यह हेतु 'यह' मे तो पहुँचा गया अर्थात् भैंसेको लक्ष्य करके पक्ष बनाया, अनुमान बनाया सो उसमे तो यह हेतु पहुँच गया है, पर साथ ही साथ विपक्षमें भी पहुँच गया। यहाँ साध्य हैं अगौ अर्थात् गाय नही।

गायके अतिरिक्त और कुछ। तो इस साध्यका विपरीत क्या हुआ ? गाय। तो देखो ! अगौका विपक्ष हुआ गौ व्यक्ति, सो समस्त गौ व्यक्तियोमे विषाणित्व पाया जाता है, तो यह हेतु पक्षमे व्यापक है और विपक्षमें भी व्यापक है। तथा सपक्षके एक देशमें ही रह रहा है। सपक्ष क्या हुआ ? अगौका सपक्ष, जो जो गाय न हों वे वे सब सपक्ष हैं, जो सामने है—जैसे कि भैसका लक्ष्य करके अनुमान बनाया तो वह पिण्ड तो हुआ पक्ष और उसमें साध्य सिद्ध किया जा रहा है अगौ अर्थात् गाय नही है तो अगौका सपक्ष क्या हुआ ? जितने भी अगौ है, जो जो भी गायें नही हैं वे सब सपक्ष हैं। तो देखिये कि उन सब सपक्षोंमेंसे अर्थात् जो जो अगौरूप हैं उनमेंसे किसी ही अगौमें तो विषाणित्व पाया गया और शेष अगौमें नही पाया गया। जैसे बकरी, मेढा, रोझ, ऐसे कुछ सपक्षोमें तो सींग पाया गया लेकिन मनुष्य आदिकमें सींग नही पाये जाते तो यह हेतु हुआ पक्षविपक्ष व्यापक और सपक्षके एक देशमें रहने वाला, सो यह हेतु यद्यपि दूषित है लेकिन इसको अलग नामसे स्वीकार नही किया गया, क्योंकि इनमे जो सदोषता है वह अनैकान्तिक हेत्वाभासके लक्षणसे लक्षित है। अत इसका भी अन्तर्भाव अनैकान्तिक हेत्वाभासमे हो जाता है।

पक्षत्रयैकदेशवृत्तिका अनैकान्तिक हेत्वाभासमें अन्तर्भाव— अब ५ वॉ अनैकान्तिक कहते हैं पक्षत्रयैकदेशवृत्ति अर्थात् जो हेतु पक्ष सपक्ष विपक्ष तीनोके एक देशमें रहे उसे कहते हैं पक्षत्रयैकदेशवृत्ति। जैसे कि अनुमान बनाया गया कि वचन और मन अनित्य हैं, अमूत होनेसे, तो यहा हेतु है अमूर्तत्व, सो यह अमूर्तत्व हेतु पक्ष एक देशमें, सपक्षके एक देशमें और विपक्षके भी एक देशमें रहता है। इस अनुमानमें पक्ष बनाया गया है वचन और मन। सो देखो ! अमूर्तपना वचनमें तो घट जाता है पर मनमें अमूर्तपना नही है। विशेषवादके सिद्धान्तमें वचनको आकाशका गुण माना है और आकाश है अमूर्त तो शब्द भी अमूर्त है। तो विशेषवादमें शब्द अमूत तो निकल आया लेकिन मन अमूर्त नही है। मनको अमूर्त माना गया है। तो यह अमूर्तत्व हेतु पक्षके एक देशमे गया और साथ ही देखिये ! अमूर्तत्व हेतु सपक्षके एक देशमे भी रहता है। साध्य यहाँ बताया गया है अनित्य। तो जो जो भी अनित्य हो वे वे सब सपक्ष कहलायेंगे। सो अनित्य सुख आदिक भी हैं। घट पट आदिक भी हैं। सो सुख आदिकमें तो अमूर्तपना है, किन्तु घट आदिकमें अमूर्तपना नही है। सपक्ष यद्यपि सारे अनित्य पदार्थ हैं, जो जो अनित्य हो वे सब सपक्ष कहलायेंगे। फिर भी अनित्य हैं सुख आदिक उनमें तो अमूर्तपना है और अनित्य है घट आदिक, उनमें अमूर्तपना नही है। तो यह अमूर्तत्व हेतु सपक्षके एक देशमें ही रहा, इसी प्रकार अमूर्तत्व हेतु विपक्षके एक देशमें रहता है। हेतु यहाँ कहा गया है अनित्य और अनित्यका विपक्ष है नित्य सो देखो ! नित्य आकाश भी नित्य है, परमाणु भी नित्य है, लेकिन अमूर्तपना आकाश आदिकमें तो पाया गया किन्तु परमाणु आदिकमें अमूर्तपना नही है। सो वह अमूर्तत्व हेतु विपक्षके एक देशमें रहा। इस तरह पक्ष सपक्ष, विपक्ष तीनोके एक देश

मे रहने वाला हेतु मिथ्या है। यो यद्यपि यह हेतु आभास है लेकिन इसका अलगसे नाम नही लिया जा सकता है, क्योंकि जो कुछ इस कुहेतुमें दोष आया है वह अनैकान्तिक हेत्वाभासके लक्षणसे लक्षित है। इस कारण इसका भी अन्तर्भाव अनैकान्तिक हेत्वाभास हो जाता है।

पक्षसपक्षैकदेशवृत्ति विपक्षव्यापकका अनैकान्तिक हेत्वाभासमें अन्तर्भाव- अब छठवां अनैकान्तिक बताया गया है—पक्षसपक्षैकदेशविपक्षमे व्यापक अर्थात् जो हेतु समस्त पूरे पक्षमें न रहे किन्तु पक्षके एक देशमे रहे याने हेतु समस्त पूरे पक्षमें न रहे किन्तु पक्षके एक देशमें रहे, किन्तु सपक्षोंमेसे कुछ सपक्ष में न रहे कुछ मने रहेन रहे किन्तु विपक्षमें सबमें बराबर पूरे रूपमे रहे। ऐसा यह हेतु भी अनैकान्तिक है। जैसे कि अनुमान बताया गया कि दिशा काल और मनमे द्रव्य है अमूर्त होनेसे। तो यहाँ हेतु कहा गया है अमूर्तत्व यह अमूर्तत्व हेतु पक्षके एक देशमें रह रहा। पक्ष हैं तीन, दिशा, काल, और मन। सो इनमेसे अमूर्तपना दिशा और कालमे तो है, पर मन तो मूर्त नही माना गया है। तो यह अमूर्तत्व हेतु पूरे पक्षमें न रहा, पक्षके एक देशमें रहा, इसी प्रकार अमूतत्व हेतु सपक्षके एक देशमें रहता है। यहाँ साध्य है द्रव्य। तो जो जो द्रव्य हो वे वे सब सपक्ष हैं। आत्मा भी सपक्ष है घट पट आदिक भी सपक्ष हैं लेकिन अमूर्तत्व हेतु आत्मामें तो रहा और घट पट आदिकमें न रहा। तो सपक्ष जो द्रव्य हैं उनके एक देशमे यह हेतु रहा, सबमें न रह सका। और, यह हेतु विपक्षमे निरन्तर रहता है। विपक्ष उसे कहते हैं जो स्थल साध्यसे विपरीत धम वाला हो। इस अनुमानमे साध्य बताया गया है द्रव्य। तो जो जो द्रव्य न हो वे वे सब विपक्ष हैं गुण, कर्म सामान्य, विशेष, समवाय ये सब विपक्ष हैं। सो देख लीजिए कि मूर्तत्व हेतु सब विपक्षोमें पाया जाता। गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय। ये सभी तो अमूर्त हैं। मूतपना कहते हैं उसे जिसमे यह इतना है ऐसा परिणमनका जोग जोड दिया जाय। पर गुणमें चूकि वह निर्गुण है अत गुण मे यह इतना है इस प्रकारका परिमाण नहीं जोडा जा सकता है। तो देखो गुण आदिकमे सबमे अमूतपना मौजूद है, पर द्रव्यत्व साध्य नहीं है। रूप, रस, गध, स्पर्श वाला तो द्रव्य ही माना गया है। द्रव्यको छोडकर अन्य कोई पदार्थ रूपी होता ही नहीं है। तो यह अमूर्तत्व हेतु समस्त विपक्षोमे चला गया है। इस तरह यह हेतु मिथ्या है। फिर भी यह अलगसे नहीं कहा जा सकता। इस हेतुमें जो कुछ भी दोष है वह अनैकान्तिक हेत्वाभासके लक्षणसे लक्षित है इस कारण इसका भी अन्तर्भाव अनैकान्तिक हेत्वाभासमें हो जाता है।

पक्षविपक्षैकदेशवृत्ति सपक्षव्यापकका अनैकान्तिक हेत्वाभासमे अतर्भाव अब ७ वाँ अनेकान्तिक है पक्ष विपक्षैकदेशवृत्ति सपक्षव्यापक अर्थात् जो हेतु पक्षके एक देशमें रहे। विपक्षके एक देशमें रहे किन्तु सपक्षमें सबमे व्यापक हो।

इसका दृष्टांत दिया गया है दिशा, काल और मन, ये अद्रव्य हैं, क्योंकि अमूर्त होनेसे। सो इस अनुमानमें हेतु दिया गया है अमूर्तत्व। सो अमूर्तपना दिशा, काल, मनमें सबमें नहीं पाया जाता। यहां पक्ष बनाया गया है दिशा, काल और मन। ये सब तो अमूर्त नहीं हैं। हेतु समस्त पक्षोंमें नहीं पाया जा रहा अमूर्तत्व नहीं है। हेतु समस्त पक्षोंमें नहीं पाया जा रहा अमूर्तत्व हेतु विशेषवादपरिकल्पित दिशा और कालमें तो है, किन्तु मनमें नहीं है। इसी प्रकार विपक्षके एक देशमें भी रह रहा है। विपक्ष क्या हुआ? द्रव्य। यहाँ साध्य बताया गया है अद्रव्य। जो अद्रव्य न हो, और जो द्रव्य हो वे अद्रव्यके विपरीत हुए अतः सभी द्रव्य विपक्ष कहलाये। तो विपक्षोंमें भी देख लो कि सब विपक्षोंमें अमूर्तपना नहीं पाया जाता। अमूर्त कुछ द्रव्य हैं। सभी द्रव्य अमूर्त नहीं हैं। हां अमूर्तत्व हेतु सपक्षमें सबमें व्यापक है। सपक्ष क्या कहलाये? समस्त अद्रव्य याने द्रव्य नहीं किन्तु गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय पदार्थ। क्योंकि इस अनुमानमें दिशा काल व मन यह पक्ष बनाया गया है सो उनको तो छोड दो पक्षके नातेसे, अद्रव्य होनेसे भी छूटते ये, सो जितने अद्रव्य हैं अर्थात् द्रव्य तो न हों और कुछ हो वे सपक्ष हैं उन सबमें अमूर्तपना बराबर पाया जाता है। इसी प्रकार यह हेतु भी मिथ्या है सदोष है। फिर भी इसका प्रकार या नाम अलगसे नहीं कहा जायगा। इसका कारण यह है कि अनैकांतिक हेत्वाभासका जो लक्षण किया गया है वह लक्षण यहाँ भी घटित होता है। इससे इसका अन्तर्भाव अनैकांतिक हेत्वाभासमें ही कर लिया जाता है।

सपक्षविपक्षव्यापक पक्षैकदेशवृत्तिका अनैकान्तिक हेत्वाभासमें अन्तर्भाव — अब अन्तिम अनैकान्तिक है सपक्षविपक्षव्यापक पक्षैकदेशवृत्ति अर्थात् जो हेतु पूरे सपक्षमें रहे विपक्षमें रहे, किन्तु पक्षके एक देशमें ही रहे, इनका उदाहरण बताया गया है कि पृथ्वी जल, अग्नि, वायु, आकाश ये अनित्य होते हैं अगधवान होनेसे याने गधरहित होनेसे। तो यहा हेतु दिया गया है अगधवत्त्व याने गधरहित होनेसे, तो यह हेतु पक्षके एक देशमें ही रह रहा है। यहाँ पक्ष बताये गए हैं ५—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। सो गधरहितपना पृथ्वीमें कहाँ है? जलको भी गधवान बताया है, तो अगधवत्त्व हेतु समस्त पक्षोंमें नहीं रहा, पक्षके एक देशमें रहा और सपक्ष हैं जितने भी अनित्य पदार्थ हो वे सब, क्योंकि इस अनुमानमें साध्य बनाया गया है अनित्यको। तो जितने भी लोकमें अनित्य पदार्थ हैं पक्षको छोडकर, वे सब सपक्षमें आते हैं। तो सभी सपक्षोंमें अगधवत्त्व पाया जाता है। इन पाँचोको छोडकर जितने भी अनित्य हैं, गुण हैं, कर्म हैं उन सबमें अगधवत्त्व हेतु पाया जाता है। इसी प्रकार विपक्षमें भी अगधवत्त्व हेतु पाया जाता है। विपक्ष कौन हुआ? जो साध्यसे विपरीत धर्मवाला हो, साध्य यहाँ कहा गया है अनित्यको। तो जो जो अनित्य न हो वे सब विपक्ष कहलाते हैं—मायने नित्य पदार्थ। तो आत्मा आदिक जितने भी नित्य पदार्थ हैं उन सबमें अगधवत्त्व पाया जाता है। इस प्रकार यह हेतु शुद्ध न होनेसे मिथ्या है

फिर भी इसका अलगसे नाम नही कहा गया, क्योंकि अनेकान्तिक हेत्वाभासके लक्षण में यह भी सम्मिलित है अतएव इसका भी अन्तर्भाव अनेकान्तिक हेत्वाभासमें होजाता है। अब अकिञ्चित्कर हेत्वाभासका स्वरूप कहते हैं।

सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्कर ॥ ६-३५॥

अकिञ्चित्कर हेत्वाभासका वर्णन—साध्य सिद्ध हो अथवा प्रत्यक्षादिक प्रमाणसे बाधित हो फिर भी उस साध्यको सिद्ध करनेके लिए हेतु देना सो वह अकिञ्चित्कर हेत्वाभास कहलाता है। जब किसी अन्य प्रमाणसे साध्य सिद्ध हैं, स्पष्ट है, ऐसे समयमें उस साध्यको सिद्ध करनेके लिए अनुमान बनानेका श्रम व्यर्थ है, कारण यह सिद्ध साध्य नामका अकिञ्चित्कर हेत्वाभास कहलाता है और जब उस साध्यमे प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणसे बाधा आती हो उस सम्बन्धमें हेतु देना सो चूंकि वह हेतु कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं है जबकि स्पष्ट बाधित है वह साध्य। तो जबरदस्ती साध्य सिद्ध कैसे किया जा सकता है तो उस समय वह अकिञ्चित्कर नामका हेत्वाभास होता है। अब दोनो प्रकारके अकिंचित्कर हेत्वाभासोमेसे प्रथम अकिंचित्कर हेत्वाभासका वर्णन कहते हैं

यथा श्रावण शब्द. शब्दत्वादिति ॥६-३६॥

सिद्धसाध्य अकिञ्चित्कर हेत्वाभास—जैसे कि शब्द श्रवणेन्द्रियसे जाना गया है क्योंकि शब्द होनेसे। अब यहाँ शब्द श्रवण इन्द्रिय द्वारा जाने जाते हैं, यह सब लोगोको प्रत्यक्ष स्पष्ट अनुभूत है। फिर भी उस सबका श्रावणत्व सिद्ध करनेके लिए शब्दत्व हेतु देना सो यह सिद्ध साध्य नामका अकिञ्चित्कर हेत्वाभास है। यह हेतु अपने साध्यको सिद्ध नहीं कर रहा। साध्यकी सिद्धि तो प्रत्यक्ष आदिक परिमाणसे ही प्रसिद्ध हैं और न यह हेतु किसी अन्य साध्यको सिद्ध कर रहा, क्योंकि अन्य साध्यकी सिद्धि करनेमें इस हेतुकी प्रवृत्ति ही नहीं है। तो यहाँ अकिञ्चित्कर हेत्वाभास कहलाता है। इसका सही कारण अब सूत्र रूपमे कह रहे हैं।

किञ्चिदकरणात् ॥६-३७॥

सिद्धसाध्य अकिञ्चित्कर हेत्वाभासकी सदोषताका कारण—जब साध्य प्रत्यक्षसे सिद्ध है फिर उसे सिद्ध करनेके लिए अनुमान बनाया, हेतु दिया तो वह हेतु कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं है। तो सिद्धसाध्यमे यही दोष है कि वह हेतु अकिञ्चित्कर हो गया, उसने कुछ नही किया। जिसके साध्यको सिद्ध करनेके लिए हेतु दिया जा रहा है वह तो प्रत्यक्षसे ही सिद्ध है। अब दूसरा जो बाधित नामका अकिंचित्कर हेत्वाभास है उसका वर्णन करते हैं।

अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यादौ यथा किञ्चित्कर्तुमशक्यत्वात् ॥ ६-३८ ॥

बाधित अकिञ्चित्कर हेत्वाभास-- अग्नि ठंडी है द्रव्य होनेसे, ऐसा कोई अनुमान दे तो इस अनुमानमें यह हेतु बाधित है, प्रत्यक्षसे ही बाधित है, जो कोई कहता हो कि अग्नि ठंडी होती है द्रव्य होनेसे, तो उसके हाथपर अग्नि धर दो, उसे पता पड़ जायगी कि अग्नि ठंडी होती है कि नहीं। विशेष प्रमाण देनेकी जरूरत ही नहीं है। तो जो बात प्रत्यक्षसे ही बाधित है उसके लिए अनुमान देकर उससे विपरीत बात सिद्ध करना यह अकिंचित्कर हेत्वाभासकी बात है, वह कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं है। शंकाकार कहता है कि यह बात तो पक्षाभासके प्रसंगमें ही कह दी गई थी कि प्रत्यक्षसे बाधित हो, अनुमानसे बाधित हो, आगमसे बाधित हो, लोकबाधित हो, स्ववचन बाधित हो, वह सब पक्षाभास कहलाता है। तो उससे ही अनुमान गलत हो गया। इस ही दोषसे इस अनुमानमें दूषितता आ गई, फिर अलगसे बाधित अकिंचित् कर नामका हेत्वाभास बताना बिल्कुल व्यर्थ है। ऐसी आशंका करके उसके समाधानमें अब सूत्र कहते हैं।

लक्षण एवासौ दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात् ॥६-३९॥

बाधित अकिञ्चित्कर हेत्वाभासकी प्रयोगता यह जो बाधित नामका अकिञ्चित्कर हेत्वाभास कहा गया है सो यह लक्षणमें ही, अर्थात् लक्षणको बताने वाले शास्त्रमें ही अकिञ्चित्करत्व नामका दोष बताया है शिष्योंकी व्युत्पत्तिके लिये, पर व्युत्पन्न पुरुषोंको वादके समयके लिये यह दोष न कहा जायगा। वहां वादीको पक्षाभास दोषसे दूषित कहकर निवारित कर दिया जायगा क्योंकि व्युत्पन्न पुरुषोंके लिये इस प्रकारसे पक्षाभास नामके दोषसे ही दूषित कहकर बाधित कर दिया जायगा। पर इस प्रसंगमें जो अकिञ्चित्कर नामका हेत्वाभास अलग कहा है सो यूं कि एक लक्षणकी व्युत्पत्तिमें इसका भी क्रम आता था इस कारणसे बाधित नाम का अकिञ्चित्कर हेत्वाभास कहा है। अब इस समय दृष्टान्ताभासका प्रतिपादन करते हैं।

दृष्टान्ताभासकी द्विविधताका सोपपत्ति कथन—यहां तक पक्षाभास और हेत्वाभासके रूपमें अनुमानके दोष बताये हैं। अब दृष्टान्ताभासके रूपमें अनुमान का दोष कहेंगे। दृष्टान्ताभास बतानेसे पहिले यह समझ लेना आवश्यक है कि दृष्टान्त होते हैं दो प्रकारके—एक अन्वय दृष्टान्त, दूसरा व्यतिरेक दृष्टान्त। अन्वय दृष्टान्तमें साधनके होनेपर साध्यका होना बताया जाता है और व्यतिरेक साध्यके अभावमें साधनका अभाव बताया जाता है। तो इस प्रकार अन्वय व्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्तिके भेदसे दृष्टान्त भी दो प्रकारके हो गए। तब आभास भी दोनों प्रकार

के होगी —अन्वय दृष्टान्ताभास और व्यतिरेक दृष्टान्ताभास उनमेंसे अब अन्वय दृष्टान्ताभासका वर्णन करते हैं।

दृष्टान्ताभासा अन्वये असिद्धसाध्यसाधनोभयाः ॥ ६-४० ॥

अन्वयदृष्टान्ताभास—दृष्टान्ताभास तीन प्रकारसे होते हैं कि असिद्ध साध्यका होना, असिद्ध साधनका होना और असिद्ध साध्य साधन दोनोंका होना। जिस दृष्टान्त मे साध्य असिद्ध हो वह असिद्धसाध्य नामक दृष्टान्ताभास है। जिस दृष्टान्तमे साधन सिद्ध न हो रहा हो उसे असिद्ध साधन नामका अन्वय दृष्टान्ताभास कहते हैं और जिस अनुमानमे साध्य साधन दोनों ही सिद्ध न होते हो उसे असिद्धोभय अन्वय दृष्टान्ताभास कहते हैं। इस प्रकार अन्वय दृष्टान्ताभासमें तीन तरहकी बातें होती हैं। अब अन्वय दृष्टान्ताभासको ही दृष्टान्त द्वारा बताते हैं।

अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वादिन्द्रियसुखपरमाणुघटवदिति ॥ ६-४१ ॥

अन्वयदृष्टान्ताभासका दृष्टान्तपूर्वक विवरण—शब्द अपौरुषेय है अमूर्त होनेसे इन्द्रिय सुखकी तरह, परमाणुकी तरह और घटकी तरह। यहाँ अनुमान दिया गया है कि शब्द अपौरुषेय होते हैं अमूर्त होनेसे और दृष्टान्त दिए गए हैं तीन- इन्द्रिय सुख और परमाणु तथा घटका। इन्द्रिय सुखमे तो अपौरुषेय साध्य नही है, परमाणुमे अमूर्तत्व साधन नही है और घटमे अपौरुषेयरूप साध्य भी नही है और अमूर्तत्वरूप साधन भी नही है। इस प्रकार असिद्धसाध्य, असिद्धसाधन और असिद्धोभय तीनो प्रकारके दृष्टान्ताभासोके तीन दृष्टान्त एक इस अनुमानमें आ जाते हैं। इन्द्रिय सुखमें अमूर्तत्व नामका साधन तो है पर अपौरुषेय नामका साध्य नही है क्योंकि इन्द्रिय सुख पौरुषेय होते हैं और परमाणुमें अपौरुषेयत्व साध्य तो है, पर अमूर्तत्व नामका साधन नही है, क्योंकि परमाणु मूर्तिक होते हैं, लेकिन घटमे दोनों ही नही हैं, क्योंकि घट पौरुषेय भी है और मूर्त भी है। सो क्रमसे तीन प्रकारके दृष्टान्ताभासके ये उदाहरण हैं। अन्वय दृष्टान्ताभास केवल असिद्धसाध्य, असिद्धसाधन और असिद्ध उभयसे ही नही होते, किन्तु अन्य प्रकारसे भी अन्वय दृष्टान्ताभास होता है, उस ही प्रकारका अब वर्णन करते हैं।

विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेयं तदमूर्तं ॥६-४२

विपरीतान्वयनामक अन्वय दृष्टान्ताभास—विपरीत अन्वय वाला दृष्टान्त भी दृष्टान्ताभास कहलाता है। जैसे कि वह अनुमान कहा गया है कि शब्द अपौरुषेय है, अमूर्त होनेसे। तो इसमें व्याप्ति तो इसी तरह लगाना चाहिए था कि जो जो अमूर्त होते हैं वे वे अपौरुषेय होते हैं, किन्तु किसी कारणसे कुछ व्यामोह हो जाय, अज्ञान आ जाय, घबड़ाहट क्षोभ आ जाय और विपरीत व्याप्ति कह बैठे कि जो जो अपौरु-

षेय होते हैं वे वे अमूर्त होते हैं। तो ऐसी विपरीत व्याप्ति लगाकर दृष्टांतको कहनेसे वह विपरीतान्वय नामका दृष्टांताभास बन जाता है। और इस तरह तो विपरीत अन्वय लिनेपर जो अनुमान सही भी हों उनका भी दृष्टांताभास बन जाता है। जैसे एक प्रसिद्ध अनुमान है कि पर्वतमें अग्नि है धूम होनेसे अनुमान सही है, पर इस अनुमानको बढाते बढाते विपरीत अन्वय व्याप्ति कह बैठें कि जहां जहां अग्नि होती है वहीं धूम होता है। तो ऐसा कहनेपर वह भी दृष्टांताभास बन बैठेगा, क्योंकि अन्वय व्याप्तिमें साधन दिखाकर साध्यके दिखानेकी व्याप्ति होती है। अन्वय दृष्टांत तो उस का बताया और व्याप्ति लगादी उल्टी, याने जहां जहां साध्य पाया जाता है वहां वहां साधन पाया जाता है। ऐसी विपरीत व्याप्ति करते तो ऐसे विपरीतान्वयमें सवत्र विपरीतान्वय दृष्टाताभास बन जायगा। यह विपरीत अन्वय दृष्टांताभास क्यों होता है। इसमें क्या हानि है? इस बातको अब अगले सूत्रमें कहते हैं—

विद्युदादिनाऽतिप्रसंगादिति ॥६-४३॥

विपरीतान्वयमे अन्वयदृष्टाताभासपना होनेका कारण—शब्द अपौरुषेय है अमूर्त होनेसे, ऐसा अनुमान उठाकर वहां विपरीत व्याप्ति लगाना कि जो जो अपौरुषेय होते हैं वे वे अमूर्त होते हैं, ऐसी व्याप्ति लगानेपर विद्युत आदिकके साथ दोष आता है। जो जो अपौरुषेय हैं क्या वे वे अमूर्त ही होते हैं। बिजली मेघ आदिक ये सब अपौरुषेय हैं लेकिन कहां हैं अमूर्त? तो जो व्याप्ति बनायी गई है वह व्याप्ति सम्यक् नहीं रह पाती। इस कारणसे वह विपरीतान्वय नामका दृष्टान्ताभास बन जाता है। कितने ही पदार्थ हैं ऐसे जो अपौरुषेय हैं किन्तु अमूर्त नहीं हैं मूर्त हैं। बनमें फूल फूल रहे हैं, फल फल गए, हैं मेघ गर्जना हो गयी है, मेघ बन गए हैं, मेघ बरष रहे हैं आदि ऐसी बहुत सी बातें पुरुषयत्नके बिना होने वाली पायी जाती हैं तो क्या वे अमूर्त हो गए। तो विपरीत व्याप्तिमें दोष आता है इस कारणसे विपरीतान्वय लगाकर दृष्टान्त बताया जायगा तो वह विपरीतान्वय नामका दृष्टान्ताभास कहलायगा। अब अन्वयदृष्टान्ताभासका वर्णन करके व्यतिरेकदृष्टान्ताभासका वर्णन करेंगे जिस प्रकार अन्वय दृष्टान्ताभास तीन प्रकारोंमें बताये गए थे उसी प्रकार व्यतिरेकमें भी दृष्टान्ताभास तीन प्रकारसे हुआ करते हैं। अर्थात् व्यतिरेक दृष्टान्ताभास तीन प्रकारोंमें मिलेंगे। उस हीका अब वर्णन करते हैं।

व्यतिरेके असिद्धतद्व्यतिरेका परमाण्विन्द्रियसुखा काशवत् ॥ ६-४४ ॥

व्यतिरेक दृष्टान्ताभासमें असिद्ध साध्य व्यतिरेक दृष्टान्ताभास—साध्य साधन और उभयका व्यतिरक जहां असिद्ध है वहांपर व्यतिरेक दृष्टान्ताभास होते हैं। जैसे अनुमान बनाया गया कि शब्द अपौरुषेय है अमूर्त होनेसे, ऐसा कहनेपर व्यतिरेक व्याप्ति तो यही होती है ना कि जो अपौरुषेय नहीं होता वह अमूर्त भी नहीं

होता। साध्यके अभावमें साधनका अभाव बतानेको व्यतिरेक व्याप्ति कहते हैं। तो इस अनुमानमें व्यतिरेक व्याप्ति लगानेके बाद उसके लिए दृष्टान्त दिया जाय कि जैसे परमाणु तथा इन्द्रिय सुख तथा आकाश। तो ये तीनों ही दृष्टान्त दृष्टान्ताभास हो जावेंगे। व्याप्ति बनायी गई है कि जो अपौरुषेय नहीं होता है वह अमूर्त भी नहीं होता। जैसे कि परमाणु। यहाँ परमाणु अपौरुषेय नहीं है यह तो है साध्य व्यतिरेक और अमूर्त नहीं है यह है साधन व्यतिरेक। तो यहाँ परमाणु अमूर्त नहीं है, यह तो बात बन गई, पर अपौरुषेय नहीं है, यह बात नहीं बनती। परमाणुवोंमे अमूर्तपना हट गया तो भी अपौरुषेयपना नहीं हटता क्योंकि परमाणु अपौरुषेय है। यहाँ अपौरुषेय नहीं है, यह बात न जम सकी, क्योंकि यह अपौरुषेय है। तो इसमें असिद्ध साध्य व्यतिरेक हुआ। यहाँ जितने दृष्टान्त दिए गए हैं चूँकि व्यतिरेक व्याप्तिमे दिये गये हैं इस कारण साध्य साधन उभयका अभाव बताना है तो परमाणु अपौरुषेय नहीं है यह बात तो नहीं बनी। परमाणु अपौरुषेय है, उसे कौन पुरुष उत्पन्न करता है? अमूर्त नहीं है यह बात बन गयी, क्योंकि परमाणु मूर्त माना गया है तो इस दृष्टान्तमें साध्य व्यतिरेकका अभाव है। अतएव यह दृष्टान्त असिद्ध साध्य व्यतिरेकाभास है।

व्यतिरेकदृष्टान्ताभासमे असिद्धसाधन व्यतिरेक व असिद्धोभयव्यतिरेक दृष्टान्ताभास—दूसरा दृष्टान्त दिया गया है इन्द्रिय सुख। व्यतिरेक व्याप्ति कहती क्या है कि जो अपौरुषेय नहीं होता है वह अमूर्त नहीं होता है। तो इन्द्रियसुख अपौरुषेय नहीं है, यह बात तो बन गयी अर्थात् साध्य व्यतिरेककी तो सिद्धि हो गयी क्योंकि इन्द्रियसुख पुरुषोंके द्वारा उत्पन्न किया जाता है, लेकिन इन्द्रियसुख अमूर्त नहीं है यह बात न बनी, क्योंकि इन्द्रियसुख अमूर्त ही हुआ करते हैं। उसमें रूप, रस, गंध स्पर्श कहाँ है? तो इस दूसरे दृष्टांतमें साधन व्यतिरेक असिद्ध है, इस कारण इन्द्रिय सुखका दृष्टान्त दिया गया है आकाशका। व्यतिरेक व्याप्ति बनायी गई है जो अपौरुषेय नहीं है, वह अमूर्त नहीं है जैसे कि आकाश आकाशमें न तो साध्य व्यतिरेक है और न साधन व्यतिरेक है, क्योंकि आकाश अपौरुषेय नहीं है, ऐसी बात नहीं है, अर्थात् अपौरुषेय है, आकाश अमूर्त नहीं है, यह बात नहीं है, क्योंकि आकाश अमूर्त है। तो इस आकाशमें साध्य भी न हटा, साधन भी न हटा, तो यह कहलाया असिद्धोभय व्यतिरेक दृष्टान्ताभास इस प्रकार व्यतिरेकमे दृष्टान्ताभास तीन प्रकारसे हुआ करते हैं। अब कहते हैं कि व्यतिरेकमें दृष्टान्ताभास हुआ इससे इतना ही दृष्टान्ताभास कहलाये सो नहीं, किन्तु विपरीत व्यतिरेक व्याप्ति लगा हो तो भी व्यतिरेक दृष्टान्ताभास कहलाता है। इसी बातको अबसे सूत्रमें कहते हैं।

विपरीतव्यतिरेकश्च यन्नामूर्तं तन्नापौरुषेयम् ॥ ६-४५ ॥

विपरीतव्यतिरेक नामक व्यतिरेक दृष्टान्ताभास—जिसमें विपरीत

व्यतिरेक दिखाया जाय, उल्टी व्यावृत्ति प्रदर्शित की जाय वह व्यतिरेक दृष्टान्ताभास कहलाता है। व्याप्ति जब भी दी जाती है तो दृष्टान्त उपस्थित करनेके लिए दी जाती है। व्याप्ति बोल करके आगे दृष्टान्तका बोलना एक नियमा पन्न हो जाता है, ऐसा ही व्यवहार है। तो जिस अनुमानमें व्यतिरेक व्याप्ति उल्टी लगा दी जाय तो उसमें जो दृष्टान्त दिया गया है वह व्यतिरेक दृष्टान्ताभास होगा। व्याप्तिके विपरीत करनेसे ही दृष्टान्ताभास बन जाता है, क्योंकि व्याप्ति बनानेके बाद दृष्टान्तका उसमें आना आवश्यक हो जाता है। तो जैसे यह अनुमान बनाया गया था कि शब्द अपौरुषेय है अमूर्त होनेसे, तो वहाँ व्यतिरेक तो ऐसा ही प्रदर्शन करना चाहिए कि जो अपौरुषेय नहीं होता है, वह अमूर्त नहीं होता है। साध्यका व्यतिरेक दिखाकर साधनका व्यतिरेक दिखाना व्यतिरेक व्याप्तिमें न्यायकी बात है क्योंकि साध्य व्यतिरेक दिखाकर साधनका व्यतिरेक दिखाया, तो इसमें ही अविनाभाव लक्षण बनता है। लेकिन, अज्ञानवश अथवा घबड़ाहटसे या व्याकुलित हो जानेसे यदि व्यतिरेक व्याप्ति उल्टी बनाकर बोले कि जो अमूर्त नहीं होता है वह अपौरुषेय नहीं होता है। तो यह व्याप्ति बिल्कुल गलत हो गयी। जो अमूर्त नहीं है वह अपौरुषेय नहीं है, क्या यह नियम सत्य है? गलत है देखिये मेघ विद्युत आदिक अमूर्त नहीं है, मूर्त हैं तो क्या वे अपौरुषेय नहीं हैं, ऐसी बात है, जिनमें कुछ पौरुषेय हैं, कुछ अपौरुषेय हैं, तो यह व्याप्ति सर्वत्र तो न बन सकी, इस कारण विपरीत व्यतिरेक अगर बोल दिया जाय तो वह अशुद्ध हो जाता है। जैसे प्रसिद्ध अनुमान है कि पर्वतमें अग्नि है धूम होनेसे। अब इसकी व्यतिरेक व्याप्ति तो इस तरह लगती है कि जहाँ अग्नि नहीं होती है वहाँ धूम भी नहीं होता है। लेकिन कोई ऐसी व्याप्ति लगा बैठे कि जहाँ धूम नहीं होता है वहाँ अग्नि भी नहीं होती है सो इसमें दोष आता है। अनेक जगह ऐसा भी पाया जाता है कि जहाँ धूम होता ही नहीं है और अग्नि है। जब कोयला पूरा जलने लगता है, अपने तावपर रहता है अथवा जलकर तावके नीचे गिरने लगता है वहाँ धूम कहाँ पाया जाता है और अग्नि है तो उल्टी व्यतिरेक व्याप्ति सही नहीं हुआ करती। तो विपरीत व्यतिरेक व्याप्ति बोलकर दृष्टान्त कहना सो व्यतिरेक दृष्टान्ताभास कहलाता है।

पक्षाभास, हेत्वाभास व दृष्टान्ताभासके वर्णनके अनन्तर बालप्रयोगाभासके वर्णनकी सूचना—इस प्रकार प्रतिज्ञा, हेतु उदाहरण इन तीनके सम्बन्धमें आभासोंका वर्णन किया है। प्रतिज्ञा और हेतु इन दोके आभासोंका वर्णन किए बिना दृष्टान्ताभासका वर्णन नहीं हो सकता था, क्योंकि दृष्टान्त प्रतिज्ञा और हेतुके उपन्यास करनेके बाद ही ज्ञात होता है अथवा व्याप्ति बनायी जाती है। इस कारण सर्वप्रथम प्रतिज्ञाभासका वर्णन किया है। चाहे प्रतिज्ञाभास कहो अथवा पक्षाभास कहो दोनोंका एक ही अर्थ है। पक्षाभासके वर्णनके बाद फिर हेत्वाभासोंका वर्णन किया है। अब प्रतिज्ञा और हेतुके सम्बन्धमें यथार्थता और अयथार्थतासे प्रयोगकी बात बनती है तब उसपर व्याप्ति लगती है। तो व्याप्त्याभास कहो, दृष्टान्ताभास कहो, इसके वर्णन

से पहिले पक्षाभास और हेत्वाभासका वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् दृष्टान्ताभास बताया गया है जो कि ८ प्रकारके हुए हैं। असिद्धसाध्य अन्वय दृष्टान्ताभास, असिद्धसाधन अन्वय दृष्टान्ताभास, असिद्धोभयदृष्टान्ताभास, विपरीतान्वय दृष्टाताभास, ये चार तो अन्वय दृष्टान्ताभास सम्बन्धी विकल्प हैं और चार व्यतिरेक सबंधी विकल्प है। असिद्धसाध्य व्यतिरेक दृष्टान्ताभास, असिद्धसाधन व्यतिरेक दृष्टान्ताभास असिद्धोभयदृष्टान्ताभास तथा विपरीतव्यतिरेक दृष्टान्ताभास। यो दृष्टान्ताभासका वर्णन करनेके बाद बालप्रयोगाभासका वर्णन करेंगे। अव्युत्पन्न पुरुषोंको व्युत्पन्न करने के लिये, समझानेके लिये पहिले जो ५ अवयवोंका प्रयोग किया गया था, प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन उन ५ अवयवोंके मुकाबलेमें जिन्हें बालप्रयोग नामसे कहा गया था, अब उनका आभास बतानेके लिए सूत्र कहते हैं।

बालप्रयोगाभासः पञ्चावयवेषु कियद्धीनता ॥ ६-४६ ॥

अनुमानके पञ्च अवयवोंमें कियद्धीनतारूप बालप्रयोगाभास—पाँच अवयवोंमे कुछ हीनता रह जानेको बालप्रयोगाभास कहते हैं। अनुमानके अंग ५ बताये गए हैं प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। जैसे कि अनुमान बनाया गया कि इस पर्वतमें अग्नि है धूम होनेसे। जहाँ जहा धूम होता है वहाँ वहा अग्नि होती है। जैसे कि रसोईघर। और, इस पर्वतमें धूम है इस कारण अग्नि होना चाहिए। इस तरह इसमे ५ अंग आ गए हैं यह पर्वत अग्नि वाला है, यह तो हुई प्रतिज्ञा धूम वाला होनेसे, यह हुआ हेतु। जो जो धूमवान होता है वह वह अग्निवान होता है, जैसे रसोईघर, यह हुआ उदाहरण। और, यह पर्वत धूमवान है, यह हुआ उपनाया इस कारण अग्निमान होना चाहिए यह हुआ निगमन। अब इन ५ अंगोंमें से यदि कोई कम अंगोका प्रयोग करे तो वह बालप्रयोगाभास है। यद्यपि वाद विवादके समय या व्युत्पन्न पुरुषोसे वार्ता करते समय अनुमानके ५ अंगोकी जरूरत नही है। वहाँ तो केवल प्रतिज्ञा और हेतु चाहिए किन्तु अव्युत्पन्नोको समझानेके लिए, बालकोको समझानेके लिये अनुमानके ५ अंगोका प्रयोग किया जाता है इसी कारण इनका नाम बालप्रयोग कहा गया है। यदि उन अवयवोंमेंसे कुछ हीन रह जाता प्रयोग करते समय तो उसे बालप्रयोगाभास कहते हैं। अब बालप्रयोगाभास का एक उदाहरण दे रहे हैं।

यथाग्निमानयं देशो धूमवत्वात्, यदित्थं तदित्थं यथा महानस इति ॥६-४७॥

दो अङ्गोसे हीन बालप्रयोगाभासका उदाहरण—जैसे कोई अनुमान प्रयोग करे कि यह स्थान अग्निमान है धूमवान होनेसे। जो जो धूमवान होता है वह अग्निमान होता है। जैसे रसोईघर। इतना ही कहकर रह जाय तो इसमे उपनय नहीं आया और निगमन नही आया और सुननेमें भी कुछ बेतुकी सी बात लग रही

है। केवल प्रतिज्ञा और हेतु ही कहा जाता, वह तो असम्बद्ध नहीं जचता। जैसे कि कोई कहे यह स्थान अग्नि वाला है धूम वाला होनेसे। बात इसमे पूरी आ चुकी है, किन्तु जब प्रतिपादनका सम्बोधनका उद्देश्य लेकर और आगे बढते हैं तब तो पूरे ५ अवयवोंका प्रयोग हो तब तो बात सही रहती है और यदि उसमे कुछ हीन हो जाय तो वह आभास हो जाता है। स उदाहरणमें प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण इन तीनका प्रयोग किया गया है। उपनय और निगमनका इसमें कोई वर्णन नहीं है इस कारण से यह प्रयोग वाला प्रयोगाभास हो जाता है। जो पुरुष अव्युत्पन्न बुद्धि वाले हैं, जिन की बुद्धि तीक्ष्ण नहीं है, सो अनुमान प्रयोगमें जो ५ अग बताये गए हैं उनका जिसे सकेत मालूम है, जो गृहीत सकेत है वह पुरुष उपनय निगमनसे रहित इस अनुमान प्रयोगको प्रयोगाभास मानता है। यदि इसके साथ उपनय भी जोड दिया जाय। निगमन भी लगा दिया जाय तो यह बालप्रयोग पूर्ण सही बन जायगा। और, जब यह रूप बनेगा कि यह देश अग्निवान है धूमवान होनेसे। जो धूमवान होता है, वह अग्निमान होता है जैसे रसोईघर और यह स्थान धूमवान है, इतना ही कहकर रुक जाय तो सुनने वाला स्पष्ट समझ रहा है कि यह अभी सम्बन्धसे पूर्ण नहीं हुआ है, असम्बन्धित है। इसमे हुआ क्या ? प्रतिज्ञा, हेतु उदाहरण और उपनय इन चार अगोका प्रयोग हुआ है। इसमें निगमन अङ्गका प्रयोग हुआ है। इसमें निगमन अङ्गका प्रयोग नहीं हुआ है। तो नियमनरहित जो यह अनुमान बनाया गया सो बालप्रयोगाभास है। बालप्रयोगाभासका यहा स्पष्ट अर्थ यह निकला कि ५ अगोमेसे यदि ४ अथवा ३ अङ्ग कोई बोले तो वह बालप्रयोगाभास है। और कोई दो अङ्ग बोले तो उसे भी कह सकते हैं कि बालप्रयोगाभास है। किन्तु केवल दो अङ्गोका प्रयोग व्युत्पन्न पुरुषोंके लिये यथार्थ माना गया है। सो वह बालप्रयोग बन जायगा पर बालप्रयोगकी दृष्टिसे तो ५ अङ्गोमेंसे कुछ कम रह जाय तो वह बालप्रयोगाभास है। और, केवल अङ्ग ही कम रह जाय सो बालप्रयोगाभास है। इतनी ही बात नहो, किन्तु उन अवयवोंका यदि उल्टा प्रयाग कोई कर बैठे तो वह भी बाल प्रयोगाभास है। इसी बातको सूत्रमें कहते हैं।

तस्मादग्निमान् धूमवाश्चायमिति ॥६-४६॥

अङ्गविपरीतप्रयोगरूप बालप्रयोगाभास—कोई अनुमान बनाये कि यह पवत अग्नि वाला है जो धूमवाला होता है वह अग्नि वाला होता है, जैसे रसोईघर इसकारण अग्नि वाला है और यह पवत धूमवान है तो इसको सुनने वाला स्पष्ट समझ रहे होगे कि यह उल्टा प्रयोग है और, इसमें कोई बात निष्कर्षपल्ले नहीं पडी है। ऐसा प्रयोयग इस कारण अग्नि वाला है और यह धूमवानहै " यह कितना असगत असम्बद्ध प्रयोग है सम्बन्ध प्रयोग यह है कि और यह भी धूमवान है इस कारण अग्नि वाला होना चाहिए। इससे विपरीत रूपको लें तो वह बालप्रयोगाभास है क्योंकि

बालक, अव्युत्पन्न लोग अथवा पच अवयवोको ही अनुमान मानने वाले लोग उपनय-पूर्वक निगमनका प्रयोग हो तो उसको साध्यके ज्ञानका अङ्ग मानते हैं। अन्यथा नहीं। यदि पहिले निगमनका प्रयोग हो, फिर उपनयका प्रयोग हो तो वह साध्यकी प्रतिपत्तिका अङ्ग नही है इस कारण प्रयोगका उल्टा उच्चारण करना भी बाल प्रयोगाभास है। यहां जिज्ञासा हुई है कि उपनय और निगमनका विपरीत प्रयोग करनेपर यह आभास क्यो कहलाता है? उसके उत्तरमे कहते हैं—

स्पष्टतया प्रकृतप्रतिपत्तेरयोगात् ॥६–४०॥

अवयवोके विपरीत प्रयोगकी प्रयोगाभासता होनेका कारण- उल्टे प्रयोगमें अर्थात् निगमनपूर्वक उपनयके कहनेमे स्पष्टरूपसे प्रकृतवादका ज्ञान नही हो सकता है। जैसे पर्वतमे अग्नि सिद्ध करना था धुवां देखकर और वहां अनुमानके कुछ अङ्ग बोलकर जैसे कि यह पर्वत अग्नि वाला है, धूम वाला होनेसे। जो जो धूम वाला होता है वह अग्नि वाला होता है। जैस रसोईघर। इस कारण यह पर्वत अग्नि वाला है और यह धूम वाला है यह अन्तिम उपनय निगमनका विपरीत प्रयोग कर दिया तो कितनी बेतुकी बात रही। कुछ प्रतिपत्ति ही नहीं हो सकती प्रयोग करना चाहिये था यो कि और यह पर्वत भी धूम वाला है इस कारण अग्नि वाला होना चाहिये। तो उपनय पूर्वक निगमन बोल दिया जाय तो उससे स्पष्ट प्रकृतके साध्यकी प्रतिपत्ति होती है और उल्टा बोलनेपर साध्यका ज्ञान नही हो पाता है। जो पुरुष जिस ही प्रकारसे गृहीत सकेत है, जिसने जिस विधिसे सकेत ग्रहण किया है वह तो उस ही प्रकारके वचन प्रयोगसे प्रकृत अर्थको जानता है, अन्य प्रकार नही। परन्तु, जो सब प्रकारसे वचन प्रयोगसे व्युत्पन्न बुद्धि वाला है वे तो जैसे भी वचन प्रयुक्त होते हैं उसीसे प्रकृत अर्थको जान लेते हैं। जैसे कि लोकमें जो सर्व भाषाओमे प्रवीण पुरुष है वह तो जिस प्रकारसे भी कोई बोले उसको समझ जाता है, लेकिन जो अव्युत्पन्न जन है, बालक हैं उनको जब अनुमान प्रयोग किया जा रहा है तो जिस विधिसे होना चाहिए उस विधिसे ही बोलनेपर वे समझ सकेंगे। तो उपनयपूर्वक निगमन बोला जाय तो उससे तो प्रकृतकी प्रतिपत्ति सही होती है। और उल्टा बोलनेपर स्पष्ट रूपसे प्रकृत साध्यकी प्रतिपत्ति नही होती है, इस कारण उल्टा प्रयोग भी बालप्रयोगाभास कहलाता है। हा जो बालक नही हैं, बुद्धिमान हैं उनको कम अङ्गका भी प्रयोग हो, उल्टा सीधा भी हो तो वह सब समझ सकता है। उन प्रवीण पुरुषोंके लिये कुछ भी प्रयोगाभास नही है। जरासे सकेतसे ही वह सब विषय समझ लेता है। यहाँ तक अनुमानके मुकाबलेमें अनुमानाभासका वर्णन किया गया और अनुमानाभास कुछ अलगसे तो बताया नही जा सकता था। क्योकि अनुमान कोई एक अवयव नही। ज्ञान तो यद्यपि एक है, पर उसकी जो क्रिया है वह कुछ अङ्गोंपूर्वक होती है इस कारण पक्षाभास, हेत्वाभास, दृष्टान्ताभास और बालप्रयो-

गाभासके वर्णनके द्वारा अनुमानाभासका वर्णन किया। अब इस समय आगमाभास का प्ररूपण करनेके लिए कहते हैं—

रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम् ॥६-५१॥

आगमाभास—आगमका लक्षण बताया गया था कि आप्तके कथन आदिकके कारणसे उत्पन्न हुए अर्थज्ञानको आगम कहते हैं। आप्त वह कहलाता है जो वीतराग हो और सर्वज्ञ हो। यदि वीतराग हो, सर्वज्ञ न हो तो भी उसका वचन प्रमाणरूप न होगा। हालांकि ऐसा होता नहीं है कि कोई पुरुष सर्वज्ञ हो और वीतराग न हो, क्योंकि वीतराग होनेके ही अनन्तर कोई पुरुष सर्वज्ञ हो सकता है। तो जो रागद्वेष मोहसे रहित हैं ऐसा जो आप्त पुरुष है, उसके वचनसे जो अर्थज्ञान उत्पन्न हुआ उसका नाम है आगम। और आगमाभास, राग-द्वेष-मोहसे आक्रान्त पुरुषके वचनसे उत्पन्न हुआ जो बोध है वह आगमाभास है, इसका उदाहरणमें कहते हैं।

यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति धावत्वं माणवकाः ॥ ६-५२ ॥

राग व द्वेषसे आक्रान्त पुरुषके वचनसे आगमाभासका उदाहरण—जैसे किसी कार्यमें व्यासक्त चित्त वाला याने जो किसी कार्यमें लग रहा है, जिसे कुछ आराम अवकाश नहीं है उस पुरुषको कुछ बच्चे लोग आकर तंग करें, शोर मचायें तो वह रागी पुरुष जिसको कि अपने किसी काममें राग है और इसमें बाधा आनेके कारण उन बच्चोंसे द्वेष हो गया तो बालकोंसे संत्रस्त होता हुआ वह पुरुष यह सोचकर कि मेरी जगहसे ये टल जाय, इस अभिलाषासे इस प्रकारका वाक्य कह देता है कि ऐ बालको! देखो, उस नदीके किनारे लड्डुवोंकी राशि रखी है दौड़ जावो और खूब खावो। इस प्रकारके राग अथवा द्वेषके वश होकर ये जो वचन बोले गऐ हैं ये आगमाभास हैं। रागसे आक्रान्त हुआ प्राणी क्रीडाके वशीभूत होकर विनोदके लिए किसी वस्तुको न पाता हुआ जिससे कि दिल बहले, तो बच्चोंके साथ ही क्रीडाकी अभिलाषा से उनके साथ विनोद करनेके भावसे इस तरहका कोई वाक्य बोल देता है कि अरे बच्चो देखो उस नदीके किनारे लड्डुओंकी राशि रखी है, दौड़ जावो और खावो। तो राग अथवा द्वेषके वश होकर जो इस प्रकारके वाक्यका उच्चारण करता है तो उस पुरुषका वह वचन आगमाभास कहलाता है। इसमें रागवश वचन कहलाये। तथा जब कोई इस इच्छासे कि उन बच्चोंके साथ विनोद करता है, हास्य करता है, इस भावको लेकर इन शब्दोंको यदि कहता है तो वह है रागका वचन कहलाया और इसी वचनको इस आशयसे कि हम तो काममें लगे हुए हैं और ये बच्चे शोरगुल मचा रहे हैं। इन बच्चोंको यहाँसे किसी तरहसे टालें। भगानेपर तो जाते न थे। तो यों कह दिया कि नदीके किनारे लड्डुओंकी राशि है। दौड़ो बच्चो। तो इन दोनों ही वाक्योंमें कहा गया यह वाक्य आगमाभास है। अब मोहसे आक्रान्त होकर

कैसे वचन होते हैं उसका उदाहरण सूत्रमे कहते हैं ।

अंगुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते ॥६-५३॥

मोहाक्रान्त पुरुषके वचनसे उत्पन्न आगमाभासका उदाहरण—मोहसे आक्रान्त होकर कोई दार्शनिक यों कहता है कि अगुलीके अग्रभागपर १० हाथी बैठे हैं यह बात न तो विनोदकी है और न डालनेकी है, किन्तु अज्ञानके वश होकर कहा हुआ सिद्धान्त है। जो अज्ञानसे आक्रान्त हो जाता है वह पुरुष वस्तुका यथार्थ विवेचन करनेके लिए समर्थ नही हो सकता साख्य सिद्धान्तमें बताया गया है कि सब चीजे, सब समय, सब जगह मौजूद रहती हैं। यह एक सिद्धान्त है। आविर्भाव तिरोभावका सिद्धान्त यहीसे तो निकाला गया है। कोई वस्तु नवीन उत्पन्न नही होती और न मिटती है। सब चीजें सदा काल सब जगह बराबर रहती हैं। लेकिन कभी कोई चीज प्रकट होती है तो उसे लोग देखने लगते हैं। कभी कोई चीज तिरोभूत रहती है तो उसे लोग नही देख पाते हैं। तो इस सिद्धान्तमे यह माना गया कि सब जगह सब समय सब कुछ मौजूद है। तो लो अगुलीके ऊपर १०० हस्तियूथ (हाथियो का झुण्ड) मौजूद हैं। इसका कैसे विरोध किया जायगा ? कोई कहे कि कहा है अगुलीपर हाथियोका १०० झुण्ड यहाँ तो एक मक्खी भी नही हैं। तो उसे कहा जा सकेगा कि तुम समझते नही हो। यह सिद्धान्त है कि सब जगह सब समय सब कुछ चीजें उपस्थित रहा करती हैं। कोई यहा पूछता है कि इस प्रकारके पुरुषके वचनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान कि अगुलीके अग्रभागपर १०० हाथियोके झुण्ड बैठे है ऐसा ज्ञान आगमाभास क्यो कहलाता है ? तो उसके उत्तरमे सूत्र कहते हैं।

विसंवादात् ॥६-५४॥

रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनसे उत्पन्न बोधमे आगमाभासता होनेका कारण—रागसे आक्रान्त पुरुषके वचनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान आगमाभास है, द्वेषसे आक्रान्त पुरुषके वचनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान आगमाभास है और मोहसे भी आक्रान्त पुरुषके वचनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान आगमाभास है, क्योकि उन सब आगमाभासोंमें विसम्वाद पाया जाता है। विसम्वाद कहते हैं यथावत् स्वरूपके ज्ञानसे विचलित होना सो विसम्वाद है और वह विसम्वाद तब ज्ञात होता है जब विपरीत अर्थको बताने वाला प्रमाण आता है। जो बात सही नही है उसके सम्बन्धमें जब उक्तियाँ युक्तियाँ चलायी जाती हैं तो उसमे विवाद उत्पन्न होता है। जैसे रागाक्रान्त पुरुष जिसको कि मनो विनोदके लिए क्रीडाके वश होकर जब कोई चीज मिले ना तो बच्चोसे ही मजाक किया कि नदीके तीर पर लड्डुवोकी राशि है, जावो और खूब खावो। तो इसका प्रभाव क्या पड़ेगा ? एक बार मानलो लडके चले गए। न मिले लड्डू। आकार विसम्वाद करेंगे, तो यह विवाद वाली बात है। और आत्महितसे इसका

रच भी सम्बन्ध नहीं है। न कोई आत्महितकी पात्रतासे सम्बन्धित है यह वचन तथा मिथ्या भी है इसी कारण ये सब आगमाभास हैं। बच्चोंने सताया, उसका चित्त तो किसी कार्यमें था, वह अपना कार्य नहीं कर सक रहा, उसमें बाधायें डाल रहे हैं बच्चे। सो उस बच्चोंके प्रति कुछ तो विरोध आया कि मुझे कष्ट देनेकी बात कह रहे हैं सो उन्हे टालनेको कहना कि नदीके तीरपर मोदक राशियाँ हैं। भागो! तो वह भी विसम्वादकी ही चीज है। न पाकर कुछ समय बाद उठे और पीडित करेंगे। अथवा कुछ भी हो। जिन वचनोसे आत्महितका सम्बन्ध नहीं वे सब वचन आगमाभास है मिथ्या भी ये वचन है सो भी आगमाभास है। मोहसे आक्रान्त पुरुषों ने एक यह सिद्धान्त बना लिया कि सब जगह सब चीजें मौजूद हैं, सदाकाल मौजूद हैं। अब इसमे सभीको विसम्वाद है। जो कार्य कारणकी प्रणाली है, उपायसे, प्रयत्नसे कार्यसिद्धि होती है वे सब प्रयत्न अब क्या मूल्य रखेंगे? विसम्वाद है। सभी को इसमें विवाद है। इसी कारणसे ये सब वचन आगमाभास कहलाते हैं आगमके मुकाबलेमें आगमाभासका वर्णन करके अब सख्याके आभासको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं।

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि संख्याभासम् ॥ ६-५५ ॥

सख्याभासका वर्णन—प्रत्यक्ष ही प्रमाण है इसमें प्रमाणकी जो एक सख्या उत्पन्न की वह संख्याभास है। अथवा कोई अन्य ऐसे प्रमाणको ही एकको माने जिस में कि सब गर्भित नही हो सकते, सख्याभास है। कोई २-३आदिक भी माने, किन्तु सब प्रमाण गर्भित न हो और किसीकी पुनरावृत्ति भी हो तो एसी सख्या बनाना सो भी सख्याभास है। सो ये सब सख्याभास क्यो हैं? इसके बारेमें कहते हैं।

लौकायतिकस्यप्रत्यक्षतः परलोकादिनिषेधस्य परबुद्धयादेश्चासिद्धे अतद्विषयत्वात् ६-५६

प्रत्यक्षप्रमाणके विषयमे चारुवाककी उक्ति और उसकी अनर्थकता— एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, यह इसलिए सख्याभास है कि अन्य अनेक पदार्थ ऐसे हैं जो प्रत्यक्षके विषयभूत नही हैं। तो प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण कैसे ठहरा? एक है नही और एकको हठ करे तो वह सख्याभास है। जैसे चारुवाक लोग मानते हैं कि एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। जो इन्द्रियसे साक्षात् दीखे, बस वही प्रमाण है। तब भला बतलावो कि कोई मनुष्य यदि परलोककी सिद्धि करता है तो प्रत्यक्ष प्रमाणसे परलोकका निषेध कैसे बन जायगा? प्रत्यक्षका निषेध उसके बनता है जिसका सद्भाव ज्ञानमें आया हो और फिर किसी जगह सद्भाव न मिले तो प्रत्यक्षसे निषेध किया जाता है कि इस चीजका यहाँ अभाव है। जैसे—चौकी, घडी, छडी, पुस्तक सबको जब चाहे देखा। अब प्रयोजनवश किसीने खोजवाया कि इस कमरेमेंसे चौकी लावो! और वहाँ चौकी न मिली, थी नही, तो उसका निषेध करता है—वहाँ चौकी नही है। अरे, तुमने

अच्छी तरहसे देखा कि नही ? हां मैंने खूब देखा। वहाँ चौकी नही है। तो यों तो उसका निषेध किया जा सकता है जिसका कि कही सद्भाव हो। और, है, तो सर्वथा निषेध भी नही बनता। तो चारुवाक लोग जो परलोक आदिकका निषेध करते हैं वह निषेध किस प्रमाणसे हुआ ? निषेध करेगा तो अनुमान बनायेगा, व्याप्ति बनायेगा। तर्क बनायेगा और प्रमाण बनायेगा तब उसके द्वारा कथित वह प्रमाण सही उतरे या नही, यह तो परीक्षाकी बात है किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाणसे परलोकका निषेध किया जाना सम्भव नही है। और, इसी प्रकार दूसरे आत्माओमें भी बुद्धि बतायी है तो उस बुद्धि की सिद्धि कैसे करोगे ? दूसरे जीवोमे जो ज्ञान पाया जाता है, चेतना पायी जाती है, बुद्धि पायी जाती है, समझ तो है ही ना ? तो उसे किस प्रमाणसे जानोगे ? प्रत्यक्ष प्रमाणसे बुद्धि नही जानी जा सकती क्योकि बुद्धि आदिक अमूर्त पदार्थ प्रत्यक्षके विषयभूत हैं ही नही, तो परलोक आदिकका निषेध और परबुद्धि आदिकका ग्रहण प्रत्यक्ष प्रमाणसे नही बन सकता है, इस कारण एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, ऐसी हठ करना सो सख्याभास है। प्रमाण एक प्रत्यक्ष ही नही है। परलोक निषेधके प्रसगमे वह अप्रमाण भी है अन्यथा परलोकका निषेध और परबुद्धिका ग्रहण, यह बात न बन सकेगी। परलोक है, और दूसरोमे बुद्धि समझ है इस बातकी सिद्धि पहिले बहुत विस्तारके साथ कर दी गई है। भूत आदिकके कथनसे भी सिद्ध हो रहा है। उत्पन्न होते ही जो बालक दुग्धपान करने लगता है उसके सज्ञा सस्कार आदिक भी पूर्वभवको सिद्ध करते हैं। तो जो दूसरे अन्य प्रमाण द्वारा भी सम्मत है ऐसे परलोकका निषेध प्रत्यक्षसे नहीं बन सकेगा। निषेध ही करना है तो अन्य प्रमाण मानने होगे। यहाँ इस विषयको मुख्य नही कह रहे हैं कि परलोक है अथवा नही है, किन्तु चारुवाक परलोकको नही मानते तो परलोकका निषेध करनेके लिए अन्य प्रमाण मानने ही पडेंगे और सब प्रत्यक्ष ही मात्र एक प्रमाण है ऐसी एक सख्या न ठिक सकेगी। फिर भी एक सख्या मानना प्रमाणकी सो सख्याभास है, अब सख्याभासका ही और समर्थन करते हुए अथवा प्रत्यक्ष एक ही प्रमाण है सख्याभास दृष्टान्तको और समर्थित करनेके लिए अन्य दार्शनिकोके द्वारा मानी गई सख्याका निराकरण करते हुए सूत्र कहते हैं।

सौगतसांख्ययौगप्राभाकरजैमिनीयानां प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावै एकैकाधिकै व्याप्तिवत् ॥ ६–५७ ॥

सख्याभासोका विशेष वर्णन व सख्याभासरूपसे समर्थन – सौगत, साख्य, यौग, प्राभाकर, जैमिनीय इनके सिद्धान्तमें जैसा कि एक–एक अधिक–अधिक सख्यामे प्रमाण माना है और उन्होने उनकी सख्या इस तरहसे व्यवस्थित की है कि सौगत सिद्धान्तमे दो प्रमाण है प्रत्यक्ष और अनुमान। साख्यसिद्धान्तमे तीन प्रमाण है – प्रत्यक्ष अनुमान और आगम। यौग और प्राभाकरके सिद्धान्तमे चार प्रमाण है— प्रत्यक्ष अनुमान, आगम, अनुमान। प्राभाकर सिद्धान्तमे ः प्रमाण हैं प्रत्यक्ष,

अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति । और मीमांसकोंके सिद्धान्तमें ६ प्रमाण हैं— प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव । तो जैसे ये सब सख्याभास हैं क्योंकि इसमें व्याप्ति आदिक विषयभूत नहीं हुए । जैसे कि सौगत सिद्धान्तमें दो प्रमाण माने गए हैं, प्रत्यक्ष और अनुमान । बतलावो व्याप्तिको विषय करने वाला कौनसा ज्ञान रहा ?, इन पाँचों प्रकारके सख्याभासोंमें किसीमें भी प्रमाणका विषय व्याप्ति नहीं बनता और पूर्वकथित चारवाकके एक सख्याभासमें भी जैसे परलोकका निषेध और परबुद्धिका ग्रहण नही बनता इसी प्रकार व्याप्ति न तो प्रत्यक्ष ज्ञानका विषय है न अनुमानका न उपमानका, न अर्थापत्तिका, और, अभाव प्रमाण तो 'व्याप्ति का विषय ही क्या कर सकेगा ? तो यह इस प्रकार १, २, ३, ४, ५, ६ आदिक प्रमाणकी सख्या मानना सब संख्याभास है । तो जैसे इन २, ३ आदिक प्रमाणाभासोंमें व्याप्तिकी सिद्धि नहीं होती । क्योंकि वह इन प्रमाणोंका विषयभूत है ही नहीं, इसी प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाणसे भी परलोक निषेध व परबुद्धि ग्रहणकी सिद्धि नहीं होती । *यह प्रयोग है कि जो जिसका अविषय है उससे उसकी सिद्धि नहीं होती ।* जैसे प्रत्यक्ष अनुमान आदिकका विषय नहीं है व्याप्तिकी सिद्धि प्रत्यक्ष अनुमान आदिक प्रमाणोंसे न हो सकेगी । तो इसी प्रकार परलोक निषेध, पर बुद्धि ग्रहण भी प्रत्यक्ष का विषय नहीं है । तो प्रत्यक्षसे परलोक निषेध, परबुद्धि ग्रहण न हो सकेगा और जैसे कि ये २, ३, ४, ५, ६ आदिक प्रमाणोंकी सख्या सख्याभास हैं इसी प्रकार प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है इस प्रकारकी एक सख्या भी सख्याभास है । यहाँ एक जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि परलोकका निषेध यदि प्रत्यक्षका विषयभूत नहीं है तो उसका विषय करने वाला अनुमान आदिक प्रमाण तो हो जायगा । इसके समाधानमें कहते हैं—

अनुमानादेस्तद्विषयत्वे प्रमाणान्तरत्वम् ॥६-५८॥

अनुमानादिसे परलोक निषेध व परबुद्धिग्रहण माननेपर प्रमाणान्तरताका प्रसग एव कल्पित सख्याविघात—परलोकका निषेध और परबुद्धिका ग्रहण यदि अनुमान आदिक प्रमाणोसे मानते हो तो बात तो सही है, अनुमानसे परलोकका निषेध हो जायगा, वह सिद्ध हो सके अथवा नही, यह तो आगेकी बात है लेकिन अनुमानसे बन तो जायगा रूप परलोक निषेध करनेका और परबुद्धिके ग्रहण करनेका भी अनुमान बन जायगा, लेकिन उन दार्शनिकोंके लिए तो अनिष्ट है, क्योंकि अनुमान आदिक नामके अन्य प्रमाण बन जायेंगे । जो लोग प्रत्यक्षको ही एक प्रमाण मानते हैं उनको तो अनुमानसे परलोक निषेध और परबुद्धि ग्रहण सिद्ध करना अनिष्ट है, फिर तो प्रत्यक्ष नामका एक प्रमाण न रहा । सो यह बात इष्ट है कि परलोक निषेध अनुमान प्रमाणसे बन जायगा । लेकिन जिनको सख्याभास बता रहे हैं उन दार्शनिकों को इष्ट नही है, क्योकि ऐसा माननेपर नये-नये प्रमाण और बन जायेंगे । जिस तरह

चारुवाकके प्रति यह दोष आता है कि अनुमान प्रमाण बननेसे उनके लिए दो प्रमाण मानने पड़ेंगे। तो इसी तरह सौगत आदिक दार्शनिकोंके प्रति भी तर्क आदि प्रमाणान्तर-माननेका प्रसग आता है।

तर्कस्येव व्याप्तिगोचरत्वे प्रमाणान्तरत्वम् अप्रमाणस्य-अव्यवस्थापकत्वात् ॥ ६-५६ ॥

परलोकनिषेधक अनुमान व व्याप्तिगोचर तर्क माननेपर प्रमाणान्तर-त्वकी सिद्धि—यह सूत्र चारुवाकके तथा सौगतादि अन्य दार्शनिकोके अनिष्ट प्रसगके उदाहरणरूपमे कहा गया है। सो यह सूत्र उदाहरणस्वरूप भी है और अनेक सख्या-वादोके प्रति दूषणस्वरूप भी है। व्याप्ति ज्ञानका विषय करने वाला सौगत आदिकके कोई प्रमाण नही है। व्याप्तिको प्रत्यक्षसे नही जाना जाता, अनुमानसे नही जाना जाता, आगम अनुमान अर्थापत्ति, अभाव आदिक किन्ही भी प्रमाणोंका विषयभूत व्याप्ति नही है। व्याप्तिका परिज्ञान तर्क ज्ञानसे ही होता है। तो जैसे तर्क ज्ञान व्याप्ति का विषय करने वाला है, ऐसा माननेपर प्रमाणान्तरपना मानना पड़ता है इसी प्रकार से परलोक आदिकका निषेध अनुमानका विषय बनता है ऐसा माननेपर तो अनुमान को एक नया प्रमाण मानना पड़ेगा, अथवा यह सूत्र इसके लिए कहा गया है। सौगत, सांख्य, योग प्राभाकर आदिक जिनमें २, ३, ४, ५ ६, प्रमाण माने हैं, फिर भी व्याप्ति का ग्रहण किसी प्रमाणसे नही हो सका है। उनका साधनके होनेपर साध्यका होना बताना, साध्यके न होनेपर साधनका न होना बताना, जैसे उदाहरणमे जहाँ जहाँ धुवाँ है वहाँ वहाँ आग है ऐसा व्याप्ति बताना। जहाँ आग नही है वहाँ धुवाँ भी नही है, ऐसी व्याप्ति बताना, इसका परिज्ञान केवल तर्क प्रमाणसे ही होता है; और, तर्क प्रमाणको किसीने भी नहा माना है, सो यह अनिष्ट प्रसग सभी दार्शनिकोके आता है। जो सख्या मानते हैं प्रमाणोकी उन अनेक दार्शनिकोका उनकी वह सख्या सख्याभास रूप है। व्याप्तिको कोई भी प्रमाण उनका माना हुआ ज्ञान विषय नही करता, और जब व्याप्तिके ग्रहण करने वाले उनके कोई प्रमाण नही हैं तो व्याप्तिके विषयमें तो वे सब ज्ञान अप्रमाण हैं और जो स्वय अप्रमाण हैं वे व्यवस्था नही कर सकते हैं। जैसे कि चारुवाकके लिए अनुमान अप्रमाण है। वे केवल प्रत्यक्षको ही प्रमाण मानते हैं। अब परलोकनिषेधके लिए अनुमान प्रयोग वे बनायें तो उनके सिद्धान्तसे सिद्ध नही हो सकता। कारण यह है कि चारुवाककी दृष्टिमें अनुमान अप्रमाण है और जो अप्रमाण ज्ञान है वह कभी व्यवस्था नही बना सकता। यदि अप्रमाण ज्ञान भी व्यवस्था बनाने लगे तो सशय विपर्यय आदिक ज्ञान भी व्यवस्थापक बन जायें। इसी तरह सौगत सिद्धान्तमे प्रत्यक्ष और अनुमान इनके अलावा और कुछ प्रमाण नही माना गया है सो व्याप्तिका ग्रहण वे कैसे करें और व्याप्तिके ज्ञान बिना अनुमान ज्ञान बन नही सकता, अनुमान प्रमाण तभी बनता है जब उसकी व्याप्ति पहिले सिद्ध हो। तो व्याप्तिके ज्ञान के बिना अनुमान भी नही बन सकता और वह कहे कि व्याप्तिका ज्ञान तर्क विचारसे

हो जायेगा तो तर्क विचार ही तो प्रमाण है, उन्हें तो सौगत सिद्धान्तमें प्रमाण नहीं माना है। क्षणिकवादियोंकी दृष्टिमें तो तर्क ज्ञान अप्रमाण है। तो अप्रमाणसे व्याप्तिकी व्यवस्था नहीं बन सकती। इसी प्रकार सांख्य आदिक सभी सिद्धान्तोंमें व्याप्तिकी व्यवस्था न बन सकेगी, कारण कि उन सबकी दृष्टिमें तर्क अप्रमाण है। अप्रमाण ज्ञानसे किसी भी विषयकी व्यवस्था नहीं बनाई जा सकती। इस कारणसे उन दार्शनिकोंने जो अपनी कल्पनासे प्रमाणकी संख्या मानते हैं ये सब संख्यायें नहीं, किन्तु संख्याभास हैं। उनकी कल्पित संख्यामें सभी प्रमाणोंका अन्तर्भाव नहीं आ पाया। जो प्रमाण छूट गये हैं उनके विषयको इन दार्शनिकोंके कहे हुए प्रमाणोंमेंसे कोई भी प्रमाण विषय नहीं करता और फिर इन दार्शनिकोंके कहे हुए प्रमाणोंसे अतिरिक्त भी प्रमाण है, इसका कारण है कि —

प्रतिभासादिभेदस्य च भेदकत्वादिति ॥ ६-६० ॥

असंगत प्रमाणसंख्यावादियोंके प्रमाणान्तरत्व सिद्धिका कारण—जितने भी प्रतिभास भेद हैं एक प्रमाणसे, दूसरे प्रमाणकी पद्धतिमें विषयमें अन्तर नजर आता है उतने ही प्रमाण माने जाने चाहिएँ क्योंकि प्रतिभास आदिकका भेद प्रमाणोंके भेदकी सिद्धि करता है। कोई यह चाहे कि कुछ अनुमान प्रमाण मान लें, लेकिन उसका प्रत्यक्षमें अन्तर्भाव करले अथवा कोई दार्शनिक मानते कि हम तर्कज्ञान मान तो लेते हैं क्योंकि उसके बिना व्याप्तिका ग्रहण नहीं हो सकता, लेकिन तर्कको हम अनुमानमें ही अन्तर्भाव करलें। इसी प्रकार और-और दार्शनिक भी जो प्रमाण छूट गए हैं उनका अन्तर्भाव अपने अभिमत किसी प्रमाणमें करना चाहें तो यह बात उनकी असंगत है, इसका कारण यह है कि जब प्रतिभास भेद है तो प्रमाणोंमें भी भेद है। प्रत्यक्षका प्रतिभास यह है कि इन्द्रियके द्वारा स्पष्ट सीधा जान ले। स्मृतिका विषय यह है कि पहिले जानी हुई चीजका ख्याल करले। प्रत्यभिज्ञानका विषय यह है कि पहिले जानी हुई चीजका स्मरण हो और सामने आने वाली चीजका प्रत्यक्ष हो, फिर उन दोनोंका जोड़रूप करके एकत्वको जाने, सादृश्यको जाने, वैसादृश्यको जाने, किसी भी प्रकारकी प्रतियोगिता जाने तो वह प्रत्यभिज्ञान है। यों समस्त ज्ञानोंका स्वरूप निराला है, उनके प्रतिभासमें भेद स्पष्ट समझमें आता है। तो जब प्रतिभास आदिकका भेद समझमें आ रहा तो वे प्रमाणके भेदक ही हैं। इन सब ज्ञानोंका, प्रमाणोंका स्वरूप निराला है। इसमें प्रतिभासभेद है। जानन पद्धतिका भेद है, यह बात पहिले परिच्छेदमें भली प्रकारसे कह दी गई है, परोक्षके प्रमाणके प्रकरणमें दूसरे परिच्छेदमें भली प्रकार कह दिया है कि इन सब प्रमाणोंमें अपनी-अपनी जुदी-जुदी विशेषता है, इस कारण ये सभी ज्ञान प्रमाणभूत हैं। तो ६ भी प्रमाण जिन्होंने माना है उनके सिद्धान्तमें भी व्याप्तिका, स्मरणका, प्रत्यभिज्ञानका कहीं भी अन्तर्भाव नहीं हो सक रहा है। और, फिर जो ६ से कम संख्या मानने वाले दार्शनिक हैं उनके तो अनुमान,

आगम, उपमान, अर्थापत्ति, इनका ही अन्तर्भाव नही हो पाता, उनसे लिए ये सब प्रमाण प्रमाणान्तर मानने पडेंगे, तो यो जब प्रतिभासभेद हो रहा है तो वे सब प्रमाण जुदे-जुदे हैं और उन्हे मानना चाहिए।

प्रमाणसख्याकी समीचीन पद्धति —उक्त प्रकार सख्याभासके प्रकरणमें जो वर्णन किया गया है उससे यह स्पष्ट होता है कि प्रमाणोंकी इस प्रकारकी सख्या मानना युक्त नही है, तब समीचीन पद्धति क्या है जिससे प्रमाणोकी सख्या विदित हो, सुनिये ! मूलमें प्रमाणके दो भेद हैं प्रत्यक्ष और परोक्ष. ऐसा कहनेपर कोई भी प्रमाण इनमे छूटता नही है। किसीका प्रत्यक्षमे अन्तर्भाव है और किसीका परोक्षमे अन्तर्भाव है। ज्ञानकी दो पद्धतियाँ हैं स्पष्ट जानना या अस्पष्ट जानना। तो इन दो पद्धतियोसे अतिरिक्त और कुछ पद्धति ही नही है। तब कोई भी ज्ञान, कोई भी प्रमाण इन दोसे बाहर नहीं रह जाता। अब प्रत्यक्ष और परोक्षके विस्तारमे जब चलते हैं तब प्रत्यक्ष के दो भेद हैं सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष। जो इन्द्रियजन्य ज्ञान है और व्यवहाररूपमें स्पष्ट ज्ञान है वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान है। जैसे इन इन्द्रियो के द्वारा जो कुछ जाना वह एकदम स्पष्ट है। कानोसे जो शब्द सुना उसमें कोई शका नही करता। स्पष्ट ज्ञान हुआ। आँखोसे जो कुछ देखा उसमें भी कोई सन्देह नही करता। जो कुछ देखा वह स्पष्ट ज्ञान है। यो सभी इन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ उनका विषय है वह सबको जान जाता है, रसना इन्द्रियसे पदार्थका रस जान लिया जाता। स्पर्शन इन्द्रियसे ठडा गर्म आदिक स्पष्ट जान लिया जाता। घ्राण इन्द्रियसे गध भी स्पष्ट हो जाती है। तो जो स्पष्ट एकदेश विशद हो उसे कहते हैं सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष। इसका नाम सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष यों पडा कि वस्तुत. यह ज्ञान परोक्ष है क्योकि जो इन्द्रिय और मनकी सहायतासे उत्पन्न हो उसे परोक्ष कहते हैं। इस व्याख्याके अनुसार मेलरूपसे जो इन्द्रियजन्य ज्ञान हैं वे परोक्षज्ञान ही कहलाते हैं। लेकिन इन ज्ञानोमें पारमार्थिक प्रत्यक्ष ज्ञानकी तरह कुछ न कुछ उनमे किसी न किसी रूपमें थोडा एक देशमे स्पष्टता आती है इस कारण इसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। पारमार्थिक प्रत्यक्षका अर्थ है जो परमार्थत वास्तविक रूपसे प्रत्यक्ष है, इन्द्रियकी सहायता न लेकर केवल आत्मशक्तिसे जो स्पष्ट ज्ञान होता है उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं। और पारमार्थिक प्रत्यक्षके दो भेद हैं—विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष और सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष। अवधि ज्ञान और मन. पर्ययज्ञान तो विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं, केवल ज्ञान सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष है। यो प्रत्यक्षकी सख्या निश्चय करने के बाद अब परोक्षज्ञानकी सख्या निरखिये स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये सब परोक्षज्ञान कहलाते हैं, क्योकि इनमें जो कुछ ज्ञान हुआ है वह ज्ञान अविशद है और इन्द्रियमनकी सहायता लेकर हुआ है।

करणानुयोग और दर्शनशास्त्रकी पद्धतियोंके प्रमाणभेदोकी अवि-

रुद्धता—प्रमाणके भेदमें प्रयोजनवश और प्रकारसे भी भेद किया जाता है। लेकिन गर्भित सब हो जाते हैं। जैसे करणानुयोगके सिद्धान्तमें परोक्षके दो भेद किये गए हैं—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान और प्रत्यक्षके तीन भेद किए गए हैं—अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवल ज्ञान। सो इस भेदोंमें भी ये सभी भेद अन्तर्निहित हो जाते हैं। मतिज्ञानमें तो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ये प्रमाण गर्भित होते हैं। और श्रुतज्ञानमें परार्थानुमान और आगम अन्तर्निहित हैं। इस प्रकार प्रमाणोंकी विधिपूर्वक संख्या बताना तो वास्तविक है और इसके विरोधमें इसके अन्य कुछ भी नाम लेकर उनकी संख्या निश्चित कर देना, वह सब संख्याभास है। यहाँ तक संख्याभासके सम्बन्धमें वर्णन किया। अब प्रमाण स्वरूप और संख्याके आभासों के वर्णनके बाद अब विषयाभासका प्ररूपण करनेके लिए सूत्र कहते हैं।

विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम् ॥६-६१॥

प्रमाणाभासका वर्णन—विषयाभास केवल सामान्यको कहते हैं अथवा केवल विशेषको कहते हैं, अथवा निरपेक्ष स्वतंत्र हों ऐसे और विशेष दोनोंको कहते हैं। प्रमाणका जो विषय है वह होता है सामान्य विशेषात्मक। लोकमें ऐसा कोई भी सत् पदार्थ नहीं है जो एक सामान्यरूप हो अथवा विशेषरूप हो या निरपेक्ष अलग अलग एक एक स्वतंत्ररूपसे हो, किन्तु प्रत्येक पदार्थ सामान्यविशेषात्मक ही होता है, किन्तु ऐसा न मानकर जो दार्शनिक केवल सामान्यरूपसे ही पदार्थको मानते तो वह अप्रमाण है, क्योंकि प्रमाणका विषयभूत केवल सामान्य नहीं होता। यदि कोई पुरुष केवल विशेषरूप ही पदार्थ माने तो वह भी विषयाभास है। क्योंकि प्रमाणका विषय केवल विशेषरूप नहीं होता। यदि कोई सामान्य विशेष दोनों रूप ही माने स्वतन्त्र स्वतन्त्ररूपसे, तो वह भी विषयाभास है, क्योंकि सामान्य विशेषात्मक पदार्थ होता है और वही एक पदार्थ होता है और वही एक पदार्थ द्रव्यदृष्टिसे, विशेषरूप है। उसके विरुद्ध केवल सामान्यरूप केवल विशेषरूप अथवा स्वतन्त्र ये दोनों विषयाभास कहलाते हैं। जैसे कि सत्ताद्वैतवादी, ब्रह्माद्वैतवादी, अद्वैती आदिक कुछ लोग केवल सामान्यको ही स्वीकार कर रहे हैं। सब कुछ एक ही है यह बात सामान्यदृष्टिकी मुख्यतासे और मुख्यता ही क्यों, केवल सामान्य दृष्टि ही रह जाती है तब अद्वैत बनता है। सर्वाद्वैत केवल सामान्यरूप ही है। सो है नहीं ऐसा कुछ, केवल सामान्य हुआ, क्यों नहीं है, उसका कारण अगले सूत्रमें कहेंगे। इसी प्रकार केवल विशेष भी कोई पदार्थ नहीं है। जैसे कि क्षणिकवादी लोग मानते हैं कि एक प्रदेशी एक समय वाला एक भावात्मक पदार्थ हुआ करता है। तो यह विशेष विषयाभास है। क्योंकि प्रमाणका विषय केवल विशेष हो ही नहीं सकता। क्योंकि केवल विशेषात्मक पदार्थ है ही नहीं। अतएव यह भी विषयाभास है। और, जो लोग स्वतंत्ररूपसे दोनों मानते

है—जैसे योग सिद्धान्तमें कहा है कि परमाणु नित्य भी है अनित्य भी है; लेकिन जो परमाणु नित्य है वह तो नित्य ही है। कारण परमाणु नित्य है कार्य परमाणु अनित्य है। तो अब एक पदार्थमे नित्यानित्यात्मकता तो न रही। भिन्न भिन्न दो पदार्थ हैं। कोई नित्य माना गया कोई अनित्य माना गया। तो निरपेक्ष इस प्रकारका सामान्य विशेषपना भी नही, नित्य निरखा जाता है सामान्य दृष्टिसे और अनित्य देखा जाता है विशेषदृष्टिसे। सो एक ही पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है, नित्यानित्यात्मक हैं, ऐसा न मानकर कारणपरमाणु नित्य है, कार्यपरमाणु अनित्य है, इस प्रकार दोनो ही मानकर निरपेक्ष माना गया, अतएव यह भी विषयाभास है। ये सब विषयाभास क्यों कहलाते हैं ? इसके उत्तरमें कहते हैं—

तथाऽप्रतिभासनात् कार्याकरणाच्च ॥६-६२॥

विषयाभासोकी विषयाभासताका कारण—कहीं केवल सामान्य ही हो अथवा किसीका मात्र सामान्यरूपसे ही प्रतिभास होता हो अथवा कोई पदार्थ केवल विशेषरूप हो अथवा केवल विशेषरूपसे ही पदार्थका प्रतिभास होता हो, अथवा कोई स्वतंत्र–स्वतत्ररूपसे सामान्य और विशेष हो ऐसा जगतमे कुछ भी नही है, इस कारण सामान्य, विशेष और निरपेक्ष दोनो विषयाभास कहलाते हैं। साथ ही यह भी बात है कि केवल सामान्य कुछ भी कार्य नही करता, अथवा केवल विशेष भी कोई कार्य नही कर सकता। निरपेक्ष दोनो भी कोई कार्य नही कर सकते। जिस पदार्थमें अर्थ क्रिया नही होती है उस पदार्थका अस्तित्व ही सम्भव नही है। जो भी पदार्थ होगा उसमें अर्थक्रिया अवश्य होगी। जिस अर्थक्रियाको कुछ दार्शनिक तो व्यक्तरूपसे काम करने वाला, जो लोगोके कुछ काम आये ऐसा कहते हैं, वह भी बात है लेकिन कुछ पदार्थ चाहे काममें किसीके न आयें अथवा उनका कोई व्यक्तरूप नजर न आये तो भी उनमें जो प्रतिसमय परिणमन होता रहता है वही उनका कार्य कहलाता है। तो वहाँ कार्य भी नही बन सकता है। केवल सामान्य, विशेष अथवा स्वतन्त्र दोनोंके माननेमे प्रकट आपत्ति, है लोगोंके काम आये ऐसी अर्थक्रिया भी नही बन सकती है। जैसे कि गौ सामान्य–केवल गोत्व सामान्यसे कोई चाहे कि मुझे दूध मिल जाय तो क्या मिल सकता है ? कहाँसे लायगा ? जो गाय व्यक्त है उससे ही तो दुह करके लायगा। इसी तरह गोत्व सामान्य हो ही नही, किन्तु कोई पिण्ड ही मात्र, विशेष मात्र है। अव्वल तो बात ऐसी हो नही सकती कि कोई केवल विशेष हो, पर एक कल्पनामे ऐसा मान लिया जाय कि केवल विशेषमात्र ही है कुछ, तो ऐसे केवल विशेषसे भी दूध न प्राप्त होगा। मतलब किसी भी प्रकारकी अर्थक्रिया केवल सामान्यसे अथवा केवल विशेषसे नही हो सकती है। तो ये तीन विषयाभास सामान्य, विशेष अथवा निरपेक्ष दोनो - ये विषयाभास इस कारण कहलाते हैं कि प्रथम तो इस तरहका है नही पदार्थ। इस तरहसे तो प्रतिभास होता नही। दूसरा हेतु यह है कि कोई प्रकारका कार्य नही कर

सकता है। जो केवल सामान्यरूप हो, केवल विशेषरूप हो, वह स्वयं क्या असमर्थ होता हुआ कार्यको कर लेगा ? या समर्थ होता हुआ कार्यको कर लेगा ? इन दो विकल्पोंको उठाकर उनके बारेमें विचार करो। यदि कहा जाय कि केवल सामान्य अथवा केवल विशेष स्वय असमर्थ होता हुआ कार्यको करले तो यह बात अयुक्त है क्योंकि—

स्वयमसमर्थस्याकारकत्वात् पूर्ववत् ॥ ६–६३ ॥

स्वय असमर्थ विषयाभासभूतोंकी अकारकता—जो पदार्थ स्वय असमर्थ है वह कारक नही बन सकता है पूर्वकी तरह। अर्थात् जिस पदार्थसे जो कार्य हुआ माना गया है उस कार्यके होनेसे पहिले जैसे वह पदार्थ असमर्थ था और उस कार्यको नही कर सक रहा था तो अब पदार्थको सदा ही असमर्थ मान लिया गया तो वह तो सदा ही असमर्थ है। तो जैसे बहुत पहिले पदार्थका कार्य न होता था असमर्थ होनेसे, इसी प्रकार अब भी, आगे भी कभी भी कोई भी कार्य न हो सकेगा, क्योंकि उसे तो असमर्थ मान लिया गया है। और, यह बात इसी ग्रन्थमें पहले जहाँ विषयका वर्णन किया गया कि प्रमाणका विषय क्या है ? उस प्रसगमें विस्तारपूर्वक कह दिया गया है। यहाँ सक्षेपमें यह जानना कि केवल सामान्य अथवा केवल विशेष यदि कार्य करनेमें असमर्थ है तो वह कभी भी कार्य न कर सकेगा पहिलेकी तरह। और, यदि यह कल्पना की जाय कि केवल सामान्य अथवा केवल विशेष समर्थ होकर करने लगे तो यह द्वितीय पक्ष भी असगत है क्योंकि—

समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् ॥ ६–६४ ॥

स्वय समर्थ विषयाभासभूतोंसे सर्वदा उत्पत्तिका प्रसग—केवल सामान्य अथवा केवल विशेष यदि समर्थ है और समर्थ होकर कार्य करनेकी बात मानी जाय तब तो सदा काल ही कार्य उत्पन्न होते रहना चाहिए, क्योंकि अब तो वह समर्थ है। समर्थ कार्य न कर सके, यह कैसे सम्भव है ? जैसे अग्नि दाहमें समर्थ है, गर्मी उत्पन्न करनेमें समर्थ है तो कही भी रखी हो वह अपना स्वभाव न छोडेगी। तो यह केवल सामान्य रूप पदार्थ अथवा केवल विशेषरूप पदार्थ यदि कार्य करनेमें समर्थ है तो समर्थ स्वभाव वाला पदार्थ फिर किसी समय कार्य न करे, उसका कारण क्या ? क्योंकि जो समर्थ है वह किसीकी अपेक्षा नही रखता। यदि परकी अपेक्षा रखकर कार्य करे कोई तो उसका अर्थ यह निकलेगा कि वह कार्य करनेमें समर्थ नहीं है। समर्थ होता तो किसीकी अपेक्षा न करता। तो इस प्रकारका समर्थ अपना केवल सामान्य अथवा केवल विशेषरूप पदार्थ है तो उससे हमेशा कार्योंकी उत्पत्ति होते रहना चाहिए और जितने भी कार्य उससे सम्भव हैं, हो सकते हैं, भविष्यमें जितने भी परिणमन होंगे, कार्य होंगे वे सारेके सारे एक ही समयमें एक साथ क्यों नही हो जावें ?

तो यह पक्ष भी संगत नहीं रह सका कि समर्थ होकर केवल सामान्य रूप अथवा केवल विशेष रूप पदार्थ कार्य करता है। यदि कहो कि समर्थ तो है केवल सामान्य रूप पदार्थ अथवा केवल विशेष रूप पदार्थ लेकिन समर्थ होनेपर भी परकी अपेक्षा रखता है। कोई अनुकूल निमित्त मिले तब उससे कार्य बनता है। तो इसके उत्तरमें कहते है—

परापेक्षणे परिणामित्वमन्यथा तदभावात् ॥६-६५॥

परापेक्षतासे स्वय समर्थ विषयाभासभूतोसे कार्यव्यवस्था माननेपर परिणामित्वकी सिद्धि—यह समर्थ केवल सामान्यरूप पदार्थ अथवा केवल विशेषरूप पदार्थ यदि परकी अपेक्षा रखकर कार्य करता है तो इसके मायने यह होगा कि वह परिणामी पदार्थ है, क्योंकि उसमें दो स्वभाव आ गए। परका संयोग मिले तो यह कार्य नहीं कर सकता। जिसमें परस्पर विरुद्ध अनेक स्वभाव पाये जायें अथवा कोई कार्य कर सके कोई कार्य न कर सके वह तो परिणामी होगा क्योंकि अनपेक्षाकारका परित्याग किया और अपेक्षकारका ग्रहण किया तभी न कार्य बना ? तो पूर्व आकारको छोड़ना और नवीन आकारका ग्रहण करना, इसीके मायने है परिणमन। यदि ऐसा न हो तो परापेक्षता ही नहीं बन सकती। तो समर्थ होकर भी यह विषयाभास कार्य न कर सका। असमर्थ होकर भी यह कार्य न कर सका, इससे सिद्ध है कि जब इसमें अर्थ क्रिया नहीं हो सकती तो यह कोई पदार्थ नहीं है, यह पदार्थके विषयभूत नहीं। किन्तु विषयाभास है। अब इस समय फलाभासका प्ररूपण करते हुए कहते हैं—

फलाभास प्रमाणादभिन्नं भिन्नमेव वा ॥६-६६॥

प्रमाणफलाभासोका वर्णन—प्रमाणका स्वरूप, प्रमाणके भेद, प्रमाणके विषयका वर्णन होनेके बाद फलकी जिज्ञासा होती ही है। क्योंकि कोई भी पुरुष बिना फलके, बिना प्रयोजनके कुछ भी प्रवृत्ति नहीं किया करता है। तो उस प्रमाण का फल क्या है, उससे किस प्रयोजनकी सिद्धि होती है ? उसका वर्णन किया जाना आवश्यक है। सो फलका वर्णन किया गया था। अब आभासके इन प्रसगोमें प्रमाणाभास और प्रमाणाभासके अनेक भेदोका और उनके विषयाभासका वर्णन करके अब फलाभासका वर्णन किया जा रहा है। प्रमाणका फलाभास क्या है ? फल बताया गया था अज्ञाननिवृत्ति हानि, उपादान, और उपेक्षा, सो फल तो वह है लेकिन उन फलोको प्रमाणसे सर्वथा अभिन्न मान लिया जाय अथवा भिन्न मान लिया जाय तो वह प्रमाणाभास हो जाता है। प्रमाणसे फलोको सर्वथा अभिन्न माननेपर अथवा भिन्न माननेपर फलाभास किस कारणसे हो जाता है। ऐसी जिज्ञासा हो जानेपर सूत्र कहते हैं—

अभेदे तद्व्यवहारानुपपत्तेः ॥ ६-६७ ॥

प्रमाणाभेद फलाभासकी फलाभासताका कारण—प्रमाणका फल अज्ञान
निवृत्ति है। यह प्रमाणका अन्तरङ्ग फल है और इस फलकी प्रमुखता अभेदमें अधिक
है। लेकिन सर्वथा अभेद मान लिया जाय इस अज्ञान-निवृत्तिको तब तो उसका अर्थ
यह होगा कि चाहे प्रमाण कहो अथवा अज्ञाननिवृत्ति कहो, एक ही बात है। यह
अज्ञान निवृत्ति उस प्रमाणका फल है इस प्रकारका व्यवहार ही नहीं बन सकता।
व्यावहारिक फल बताये गये हैं—हान, उपादान और उपेक्षा। ये भी सही फल।
जिस वस्तुमें अहित है उसका त्याग कर देना यह प्रमाणका फल है। जब सम्यग्ज्ञान
प्रकट होता है तो जो बातें अहितकी हैं, जीवकी बरबादीके हेतुभूत हैं, उनका परित्याग
करता ही है यह ज्ञानी संत। तो वह जो अहितका परिहाररूप फल है यह फल यदि
प्रमाणसे सर्वथा अभिन्न मान लिया जाय तो यह फल है, यह प्रमाण है, इसमें भी
व्यवहार न बन सकेगा। इसी प्रकार प्रमाणका फल है हितकी प्राप्ति, हित कार्यमें
लगना। सो यह फल भी यदि प्रमाणसे अभिन्न है तो भी यह प्रमाण है, यह फल है,
यह व्यवहार नहीं बन सकता। इसी प्रकार उपेक्षाकी भी बात है। तो प्रमाण और
फलोंको सर्वथा अभेद मान लेने पर यह प्रमाण है, यह फल है, इस प्रकारका व्यवहार
ही नहीं बन सकता है। यहाँ कोई शंका करे कि व्यावृत्तिके द्वारा तो प्रमाण और फल
की व्यवस्था बन जायगी अर्थात् जो अप्रमाण व्यावृत्तिसे युक्त है वह तो कहलाता है
प्रमाण और जो अफल व्यावृत्तिसे युक्त है वह कहलायेगा फल। जैसे कि घट नाम
किसका? अघट व्यावृत्तिका नाम घट है। याने जो जो घट नहीं है, घटसे अन्य है वह
नहीं है इसीका अर्थ है घट है, तो व्यावृत्तिसे वस्तुका सद्भाव जाना जाता है तो प्रमाण
और फलका सद्भाव उनके विरुद्धकी व्यावृत्तिसे जान लिया जायगा। तब प्रमाणसे
फलको अभिन्न माननेपर इस उलझनाकी गुंजाइश न रहेगी कि फिर यह प्रमाण है,
यह फल है, यह व्यवस्था बनाना अशक्य है यदि फलको प्रमाणसे अभिन्न मान लिया
जाय तो ऐसी शंका होनेपर अर्थात् व्यावृत्तिसे प्रमाण और फलकी कल्पना करके
अभिन्न फलकी व्यवस्था बतानेपर उत्तररूपमें सूत्र कहते हैं।

व्यावृत्यापि न तत्कल्पना फलान्तराद्व्यावृत्त्याऽफलत्वप्रसङ्गात् ॥ ६-६८ ॥

व्यावृत्तिसे भी प्रमाण और फलके सम्बन्धकी कल्पनाका अभाव—
व्यावृत्तिके द्वारा भी प्रमाणकी कल्पना और फलकी कल्पना नहीं की जा सकती, शंका-
कार फल नाम किसका कहता था, कि अफल व्यावृत्ति, जो फल नहीं है उनकी व्यावृत्ति
होना, इसका नाम है फल। जैसे मनुष्य नाम किसका है? अमनुष्य व्यावृत्ति। जो
मनुष्य नहीं है उन पदार्थोंका छूट जाना इसका नाम है मनुष्य। तो जैसे अमनुष्य व्या-
वृत्तिसे मनुष्यका सद्भाव बनता है इसी प्रकार अफल व्यावृत्तिसे फलका सद्भाव बनने
लगेगा, इस प्रकारकी कल्पना व्यावृत्तिके माध्यमसे नहीं की जा सकती है। क्योंकि यदि
व्यावृत्तिसे फल स्वरूपकी कल्पना करली जाय तो जैसे यह कहा जा रहा है कि फलोंसे

पर कुछ व्यवहार ही न बन सका तो इससे सिद्ध है कि प्रमाणसे फल अभिन्न नहीं है, किन्तु प्रमाण और फलमें वास्तविक भेद है। यदि प्रमाण और फलमें भेद न होता तो यह फल है, यह प्रमाणका फल है, इस प्रकारका व्यवहार नहीं बन सकता था। यह बात बुद्धिमानोंको स्वीकार करना ही पड़ेगा। प्रमाणके फल जो चार बताये गए हैं, उनमें अज्ञान निवृत्तिको भी प्रमाणसे सर्वथा अभेद नहीं माना जा सकता है, वह भी कथञ्चित् भिन्न है, और हान, उपादान, उपेक्षा ये तो अज्ञान निवृत्तिकी अपेक्षा बहिरङ्ग फल हैं अर्थात् परम्परा फल हैं। साक्षात् फल प्रमाणका अज्ञान निवृत्ति है, और हान, उपादान, उपेक्षा इन फलों तक आनेके लिए बीचमें अज्ञान निवृत्ति पड़ जाती है। अत एव वह परम्परा फल है। तो उनको भी यदि प्रमाणसे सर्वथा अभेद मान लिया जाता है तो हान, उपादान, उपेक्षा सम्बन्धी भी व्यवहार प्रमाणमें सिद्ध न हो सकेंगे। इस कारणसे यह बात स्वीकार करनी ही पड़ेगी कि प्रमाण और फलमें वास्तविक भेद है, अब यहाँ शंकाकार कहता है कि जब सिद्धान्तत स्वयं ही यह कहा जा रहा है कि *प्रमाण और फलमें वास्तविक भेद है तब फिर इनमें सर्वथा भेद ही मान लीजिए।* प्रमाणसे फल सर्वथा भिन्न है ऐसी आशंका होनेपर उस आशंकाके निराकरणके लिए सूत्र कहते हैं।

भेदे त्वात्मान्तरवत्तदनुपपत्तेः ॥ ६-७१ ॥

प्रमाण और फलमें सर्वथा भेद माननेपर आपत्ति— फलको प्रमाणसे सर्वथा भिन्न माननेपर जैसे अन्य आत्माओंकी बातें अन्य आत्माओंको प्राप्त नहीं होती इसी प्रकार प्रमाणसे फल भी प्राप्त नहीं हो सकेगा। क्योंकि अब प्रमाण और फल सर्वथा भिन्न हैं। जैसे आत्मा सर्वथा परस्परमें भिन्न हैं। देवदत्त और यज्ञदत्त नामके मानो दो पुरुष हैं तो देवदत्तने जो कुछ अनुभवा, वह यज्ञदत्तका तो कुछ न कहलायेगा क्योंकि वे दोनों आत्मा सर्वथा भिन्न हैं इसी प्रकार प्रमाण और फल ये सर्वथा यदि मान लिया जाता है तब फिर यह फल है, यह प्रमाण है, यह प्रमाणका फल है ऐसा सम्बन्ध नहीं बनता। इससे यह मानना ही होगा कि प्रमाण और फलमें कथञ्चित् भेद होनेपर भी सर्वथा अभेद नहीं है। इसी प्रकार यह शंकाकार कहता है कि प्रमाण और फलमें सर्वथा भेद भी रहा आये और समवाय सम्बन्धके मान लेनेसे प्रमाण और फलका सम्बन्ध बन जायगा। तो उसके उत्तरमें सूत्र कहते हैं—

समवायेऽतिप्रसङ्गः ॥६-७२॥

प्रमाण और फलका समवायसे सम्बन्ध जोडनेपर आपत्ति——प्रमाण और फलमें यदि समवाय सम्बन्ध मान लिया जाय और उससे फिर यह फल है, यह प्रमाण है, यह प्रमाणका फल है ऐसा स्वीकार कर लिया जाय तो इसमें बहुतसे दोष आते हैं। जैसे कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष ये सर्वथा एक दूसरेसे भिन्न हैं और

उनमें फिर समवाय सम्बन्ध किया जाता है तो वहाँ समवायकी सिद्धि नहीं बन पाती। क्या वजह है कि आत्मामें ज्ञान गुणका ही समवाय हो। ज्ञान गुणका समवाय पृथ्वी, जलमें भी हो बैठे। जब ये परस्पर सर्वथा भिन्न हैं तो समवायको यह गुंजा स कहाँ कि इनका सम्बन्ध इनमे ही हो। इस प्रकार प्रमाण और फल ये परस्पर अत्यन्त भिन्न मान लिए गए है तो फलका समवाय प्रमाणमें ही हो, इसकी गुंजाइस अब कहाँ रही है। फलका जिस किसीके भी साथ समवाय हो बैठे तो सर्वथा भेद मान लेनेपर प्रमाण और फलका समवायमें सम्बन्ध करानेकी बात संगत नही बन सकती। और, यदि परस्पर भिन्न पदार्थोंमें भी समवाय सम्बन्धका नियम बना दिया जाय या समवायसे उनका सम्बन्ध मान लिया जायतो जिस चाहे पदार्थका जिस चाहेके साथ समवाय हो बैठे और फिर वह उसका कुछ बन जाय, घटका पट स्वामी बन जाय। कह दिया जायगा कि घटमे पटका समवाय हो जाता है द्रव्य द्रव्यका समवाय हो जाता है, जिस चाहे गुणका, जिस चाहे द्रव्यके साथ समवाय हो जाय। जब सर्वथा ही भिन्न है वहाँ अभेद समझनेकी कोई गुंजाइस ही नहीं है तो न यह नियम बन सकेगा कि यह इस द्रव्यका कुछ है, यह इस द्रव्यका गुण है, यह इस द्रव्यकी क्रिया है, या इन पदार्थोंका यह सामान्य स्वरूप है या पदार्थकी यह विशेषता है, यह सब कुछ भी तो न कहा जा सकेगा। सर्वथा भिन्नमे तो ऐसी ही व्यवस्था हुआ करती है, तो प्रमाण और फलको सर्वथा भिन्न माननेपर भी व्यवस्था न बन सकेगी इस कारण सर्वथा भेद मानना फलाभास है। वह प्रमाणका फल नहीं है। यहाँ तक इस ग्रन्थमें प्रमाण और प्रमाणाभास दोनोके स्वरूपका वर्णन किया जा चुका है, जिसका कि प्रथम मंगलाचरणमे प्रतिज्ञा की गई थी कि प्रमाणसे अनर्थकी सिद्धि होती है इस कारण प्रमाण और प्रमाणाभासका संक्षेपमे लक्षण कहा जायगा सो दोनोका यहाँ तक सब वर्णन हो चुका। अब इस वर्णनसे, इसके परिज्ञानसे मुख्य और संक्षेपतः क्या लाभ मिला इस बारेमें सिद्धान्तकी पुष्टि और अप सिद्धान्तका परिहार किया जायगा अथवा कहो जय और पराजयकी व्यवस्थाके रूपमे वर्णन आगेके सूत्रमे किया जायगा।
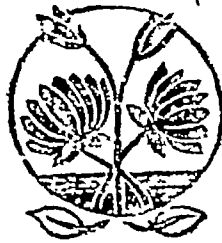
परीक्षामुखसूत्रप्रवचन

[पञ्चविंश भाग]

●

(प्रवक्ता-अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी)

●

प्रमाण और प्रमाणाभासकी प्रसिद्धिसे सिद्धान्तोंके समर्थन व निराकरणकी व्यवस्था विधिके वर्णनका उपक्रम—जीवोंकी हितकी प्राप्ति हो और वे अहितसे दूर हटें, इस प्रयोजनके लिये यह आवश्यक था कि ज्ञान और ज्ञानाभासका अर्थात् प्रमाण व प्रमाणाभासका लोग स्वरूप समझें, क्योंकि ज्ञानसे तो हितकी प्राप्ति होती है और अहितका परिहार होता है और ज्ञानाभाससे अहितमें लगता है जीव और हितसे दूर हटता है अतः प्रमाण व प्रमाणाभासका स्वरूप ज्ञातव्य है इस प्रयोजनको लेकर प्रमाण और प्रमाणाभासका स्वरूप बताया। उसके भेद, विषय, संख्या और फल आदिक बताये। प्रमाण और प्रमाणाभास इन सब अंगोंके वर्णन करनेके बाद अब आगे हुए प्रमाण और प्रमाणाभासके स्वरूपका फल दिखाते हैं अर्थात् प्रमाणसे तो सिद्धान्तका बोध होता है और प्रमाणाभाससे उल्टाज्ञान होता है तो उससे फिर प्रतिपादन और प्रतिपाद्यके बीच, वादी और प्रतिवादीके बीच किस प्रकारसे किसका सिद्धान्त पुष्ट हुआ और किसका सिद्धान्त गिर गया इन सब बातोंका जिसमें वर्णन है ऐसा अब यह प्रसंग इस सूत्रमें प्रारम्भ होता है।

प्रमाणतदाभासौ दुष्टतयोद्भावितौ परिहृतापरिहृतदोषौ वादिनः साधनतदाभासौ प्रतिवादिनो दूषणभूषणे च ॥६–७३॥

प्रमाण और प्रमाणाभासके स्वरूपके परिज्ञानका सार्वजनिक प्रयोजन प्रमाण और प्रमाणाभास अर्थात् वादी किसी बातको सिद्ध करनेके लिए प्रमाण दे और प्रतिवादीके कहे हुए प्रमाणमे दोष बताये तो वादीके द्वारा जब अपने सिद्धान्तके समर्थन करने वाले प्रमाणकी बात सिद्ध हुई तो उससे वादीका तो सिद्धान्त सिद्ध होता है सो उसका भूषण है और वह प्रतिवादीके लिए दूषण बन जाता है, क्योंकि वादीका जो समर्थ वचन है, प्रमाणरूप है उसकी पुष्टि होनेसे वादीके मन्तव्यकी सिद्धि हुई सो वादीको भूषण हुआ और प्रतिवादीके लिए वही दूषण बन गया अर्थात् प्रतिवादीके मन्तव्यका निराकरण हुआ। जब प्रतिवादीने कोई वचन कहा और उसको

वादीने प्रमाणाभासके रूपमे उपस्थित कर दिया, उस प्रकरणमें दोष बता दिया तो प्रतिवादीके लिए तो वह साधनाभास हो गया और वादीका भूषण बन गया। अथवा वादी ही कोई बात ऐसी कह दे कि जो अयुक्त हो, प्रमाणसिद्ध न हो, प्रमाणासिद्ध प्रमाणाभास हो तो वह वादीके लिए साधनाभास हो जाता है। और तब प्रतिवादीके लिए वह भूषण हो जाता है। इसमें प्रतिवादी प्रसन्न होता है कि वादीके बताए हुए प्रमाणमे दोष आ जाय।

वादमे दूषण और भूषणका रूप - जब प्रमाणकी कोई बात प्रतिपादित विधिसे वादीने रखी और बात भी यथार्थ है उसको प्रतिवादीने सदोषरूपसे जाहिर किया—तुम्हारे प्रमाणमे यह दोष आता है, पर दोष था नहीं। तो ऐसे प्रमाणका प्रसग आनेपर वह वादीका तो साधक बन जाता है और प्रतिवादीके लिए दूषण बन जाता है और जब वादीने कोई प्रमाणाभास ही कह दिया, प्रमाणरूप न था, मिथ्याज्ञानरूप है ऐसा प्रमाणाभास उपस्थित कर दिया और उस प्रमाणाभासको जब प्रतिवादीने बता दिया कि यह सदोष है इसमे अमुक दोष आता है तो जब प्रमाणाभासको सदोषरूपसे प्रतिवादीने जाहिर कर दिया तब वह प्रमाणाभास वादीके लिए तो दूषण बन गया और प्रतिवादीके लिए भूषण बन गया। वादीने कोई प्रमाणकी बात कही और प्रतिवादीने उसे दोषरूपमें उपस्थित कर दिया कि इसमे तो दोष आता है और वादीने उन दोषोंका परिहार कर दिया तो ऐसी स्थितिमे ही वह प्रमाण वादीके लिए दूषण है। इसी प्रकार वादीने प्रमाणाभासको उपस्थित किया और प्रतिवादीने उस प्रमाणाभासमें दोष डाला कि इसमे अमुक प्रकारका दोष है और उसके दोषका निराकरण वादी न कर सका। तो ऐसी स्थितिमे वादीके ही द्वारा कहा गया प्रमाणाभास रूप वचन वादीके लिये दूषण बन गया और प्रतिवादीके लिये भूषण बन गया। इस तरह निर्दोष प्रमाण कोई उपस्थित करे तो उसका वह वचन समर्थ वचन है और इसी कारण वादीकी जीत है और उस प्रामाणिक वचनमे प्रतिवादीने दोष उपस्थित किया और उन दोषोका परिहार कर दिया तो इसमें वादीकी जय है और कदाचित् वादी प्रमाणाभास बोल दे और इसमे प्रतिवादी दोष बताये और उन दोषोको वादी दूर न कर सके तो इसमे वादीका पराजय है और प्रतिवादीका जय है। इस प्रकार समर्थ वचनसे अर्थात् निर्दोष वचनसे तो जय होती है और सदोष वचन व्यवहार से पराजय होती है।

चतुरङ्गवाद और उसमे जयपराजयकी व्यवस्था उसका स्पष्ट रूपक यह है कि जय पराजयकी जहाँ व्यवस्था बनायी जाती है वहाँ चार अग हुआ करते हैं एक तो वादी, दूसरा प्रतिवादी, तीसरा सभाके लोग और चौथे सभापति। ये चार अग होनेपर वादका रूप बनता है, जिसे शास्त्रार्थ कहते हैं, वाद विवाद कहते हैं। उस परिस्थितिमें ये चार अग होने चाहियें—वादी, प्रतिवादी, सभासद (दर्शकोंका समूह)

और सभापति (निर्णायक)। तो ऐसे चतुरंगवादको स्वीकार करके वादी और प्रतिवादी उस सभामें उपस्थित हुए। उसमें वादीने जो कि प्रमाण और प्रमाणाभासके स्वरूपका जानकार था भली तरहसे अपने पक्षकी सिद्धिके लिए प्रमाण उपस्थित किया। जिस भी विषयपर चर्चा चलती थी उस विषयका प्रमाण दिया और प्रतिवादीने जो कि स्वरूपको अच्छी तरह जानता न था, उसने प्रमाणाभास उपस्थित किया। तो उस स्थितिमें जब प्रमाणमें और प्रमाणाभासमें दोष उपस्थित किया और दोषको दूर कर दिया वादीने, तो वह वादीके लिए तो साधक बना और प्रतिवादीके के लिए दूषण बना और दोष दूर न किया जा सका। तो वादीके लिए दूषण बना और प्रतिवादीके लिये भूषण बना अथवा एक और प्रकारसे भी सोचिए प्रतिवादीने, जो कि स्वरूपका भली प्रकार निश्चय नहीं कर पाया था और उसने वादीके दिए गए सम्यक प्रमाणमें भी दोष दिखा करके उसे प्रमाणाभास बताया और जिसने उसके स्वरूपका निश्चय कर लिया था ऐसे अन्य प्रतिवादीने प्रमाणाभासमें प्रमाणाभासता दिखायी। ऐसे समयपर जो दोष निवारण करके निर्दोष साबित कर सका उसकी तो जय हुई और जो दोषका निराकरण न कर सका उसकी पराजय होती है ?

वादमे जय पराजयकी व्यवस्था निष्कर्ष यह है कि जिसके वचन समर्थ है प्रमाण और युक्तियोंसे भली भांति सिद्ध है उसके तो सिद्धान्त की जय होती है, और जिसका वचन वस्तुस्वरूपसे विपरीत है और इस कारण उसकी यथार्थ सिद्धि नहीं की जा सक रही है तो उसका सिद्धान्त गिर जाता है। यहाँ परमार्थ दृष्टिसे जय पराजयके प्रसगमें मान्य सिद्धान्त कौन है अमान्य सिद्धान्त कौन है इस प्रकारके परिज्ञान करनेको ही जय और पराजय कहते हैं। लेकिन जब शास्त्रार्थका रूप हो जाता है तो इस तथ्यको स्वीकार करने वाला कौन होता है ? विरले ही पुरुष होते हैं। प्राय करके लोग जिस किसी भी प्रकारसे तथ्यके विपरीत भी घोषणा करके सभी लोग यह जान सके कि इसमें इसकी जय हुई है और इसकी पराजय हुई है और इसकी पराजय हुई है, इसके लिए तत्पर रहते हैं, किन्तु तथ्यदृष्टिसे यदि सभी दार्शनिक लोग और निर्णायक लोग एक हितकी वाञ्छासे ही सुन रहे हों, किसी का हठ न हो, प्रमाण और प्रमाणाभासके स्वरूपकी विधिसे उसमें सदोषता और निर्दोषता प्रसिद्ध करे तो वह है वास्तवमें जय और पराजयकी व्यवस्थाका कारण। इस प्रकार प्रमाण और प्रमाणाभासके माध्यमसे शुद्ध सिद्धान्तका प्रतिपादन और अशुद्ध सिद्धान्तका निराकरण किया जाता है।

वादमे जयपराजयव्यवस्थानिबन्धनत्वका शंकाकार द्वारा प्रतिषेध—शंकाकार नैयायिक कहता है कि जो जय पराजयकी व्यवस्थाके कारणके सम्बन्धमें यह बताया गया है कि चतुरंगवादको स्वीकार करके फिर जो प्रमाण प्रमाणाभासका विवेचन है वह जय पराजयका कारण है। सो यह बात अयुक्त कही गयी है, क्योंकि,

वाद कोई विजिगीषु पुरुषोका विषय नही होता । विजगीषु उसे कहते हैं जो शास्त्रार्थ करके जीतनेकी इच्छा करने वाला होता है । वाद जय पराजयका विषय नही हुआ करता है इसलिए वादमे चतुरगता असम्भव है । जीतनेकी इच्छा न होनेसे उन सभ्य आदिकके प्रयोजनोका अभाव है वादमे । वादमे भले ही लोग बैठे रहें सुननेके लिए किन्तु बोलने वाला और मुख्य सुनने वाला इन दोनोका वीतरागताकी ओर भाव रहता है । आत्म-कल्याणकी दृष्टिसे जो कहा जाय सुना जाय उसे वाद कहते हैं । तो वादमें चतुरगपना सम्भव नही है । अर्थात् वादी, प्रतिवादी, सभासद् और सभापति इन चार का कोई प्रयोजन नही है । क्योकि वादमे जय और पराजयका विषय ही नही है । गोष्ठीका रूप है वाद । बोलने वाला बोलता है, सुनने वाला सुनता है और सबका एक ही ध्येय है कि वीतरागता प्रकट हो, आत्महित जगे, ऐसे आत्महितको कथामे सभापतियोका क्या अवकाश है ? वाद जयकी इच्छा वालेके नही हुआ करता, क्योकि वाद से केवल वीतरागका ध्येय होता है प्रभुभक्तिका, तत्त्वज्ञानका । वाद तत्त्वके निश्चयकी सरक्षणताके लिए नही है, वह तो तत्त्वज्ञानके लिए है आत्महितके लिए है । जो तत्त्व निश्चित किया गया है वही रह जाय, उसमे कोई बाधा न दे सके, कोई उसे दूषित न कर सके ऐसी दृष्टि तो जीत हारके प्रसगमें हुआ करती है, वादमे नही हुआ करती । जीतनेकी इच्छा रखने वाले पुरुषोके अतिरिक्त वादी और प्रतिवादीके वाद नही बनता किन्तु वह तो एक शास्त्रार्थका रूप होता है और उसमें वाद काम नही देता । वहा पर तो जल्प और वितडा ये काम देते है, जय पराजयके प्रसगके लिए सीधे सादेपनसे काम नही चलेगा । वहा तो वितडा हो और जल्प हो, दोदा पट्टी भी हो, जो कुछ बात कहे उसका कहीं अन्य अर्थ लगाकर, अप्रसगके अर्थको बताकर उसे शर्मिन्दा किया जाय, ये सब छल जाति निग्रहके प्रयोग किए जायें इनसे जय पराजय होती है । वादमें यह कहा होता ? वादमें तो तत्त्वज्ञानकी कथा होती है वीतरागताकी कथा होती है । अत. यह कहना अयुक्त है कि चतुरङ्गको स्वीकार करके जय पराजयकी व्यवस्था बनती है ।

वादमे विजिगीषुके अविषयत्वका और जल्प वितण्डामे विजिगीषुके विषयत्वका शकाकार द्वारा प्रतिपादन जो चीज विजिगीषु पुरुषोके लिये बनती है उसका रूप वादका नही रहता । जैसे जल्प और वितडा है ये वाद रूप तो नही हैं । किसी भी बातको वादी एक साधारणरूपसे रख रहा है उसमे कोई अर्थ निकालकर प्रकृतको छोड करके किसी अन्य अर्थका प्रयोग करके चुप करना और जैसा दोष प्रतिवादी कहना है जबरदस्ती । कोई, सभ्य लोगोको रुच जाय इस तरहकी मजाकसे चुप करना । ये सब जल्प और वितडा कहलाते हैं । अप्रासगिक यहाँ वहाँ की बात जोडकर जनताका ध्यान बाँट देना और तथ्यको हटा देना इसको वितडा कहते है तो वाद विजगीषु पुरुषोके लिए नही होता, किन्तु जो आत्महिताभिलाषी हैं, उदासीन पुरुष हैं, तत्त्वज्ञानके इच्छुक हैं वाद उनके लिए है । विजगीषा जहा बनती जीत और हारका प्रसंग वहा किया जाता है जहा निश्चित तत्त्वके सरक्षण करनेकी

गर्ज यही रहती है, यह बात मिट न जाय, जो तत्त्व बताया है वह किसी तरहसे गिर जाय, यही सिद्ध हो। दूसरेकी बात सिद्ध न हो, इस प्रकारकी रक्षाके लिए जल्प वितण्डा तो समर्थ हैं, पर वाद नहीं समर्थ है। सीधे सादे तौरसे ज्ञानकी बात करना इसमें ताकत नहीं है कि वह जीत हारका प्रसंग ला सके जल्प व वितण्डाकी जय पराजयकी व्यवस्थाकी कारणका साधक प्रयोग भी है कि जल्प और वितण्डा ये दोनों तत्त्व निश्चयकी रक्षाके लिये होते हैं और ये इस तरह काम देते हैं कि जैसे खेतकी रखवालीके लिए बाड काम देती है। बाड़को खेतके चारों ओर गाड़ दिया जाता है तो उससे, उन काँटोंकी डालियोंका आवरण करनेसे खेतमें बोये हुए अंकुरोंकी रक्षा होती है इसी तरहसे जिस बातको कह दिया गया है, तत्त्व बता दिया गया है उसकी करनेमें रक्षा जल्प और वितण्डा काम आता है।

जल्प वितण्डासे जय पराजय करनेकी आशंकाका समाधान—अब उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि यह बात असंगत है, कि वाद विजगीषु पुरुषका विषय नहीं है। यह बात यों असंगत है कि जीत हार कहीं नामके लिए या धन सम्पदा बढ़ाने लिए नहीं है किन्तु जीत हारका अर्थ इतना ही है कि यह तत्त्व तो समीचीन है हितरूप? और यह तत्त्व हितरूप नहीं है इतनी ही बात समझमें आना यहाँ तक ही प्रयोजन वादका। और इसके आगे जो कुछ प्रयोजन है वह तो लड़ाईका रूप है। विजगीषुताकी जीत औरकी दृष्टि रखना और जिस किसी प्रकार हो, इसे चुप करना इसमें समाज कल्याण नहीं है और न वादी प्रतिवादका कल्याण है, जैसे कोई दो पुरुष लड़ते हैं तो लड़ने वाले लोगों यह ख्याल थोड़े ही रखते हैं कि कहीं इसकी टाँग न टूट जाय अथवा इसकी आँख न फूट जाय? कोई लड़ने वाला दूसरे लड़ने वालेके प्रति इस प्रकारका दयाभाव थोड़े थोड़े ही रखता है। वे तो यह देखते हैं कि ये कई हजार आदमी हमारे पास खड़े हैं और इनकी निगाहमें मैं हारा कहलाऊँ तो यह तो एक मरण जैसी बात होगी। सो उस समय जीतके लिए जो उपाय बन सकता है वह सब करना पड़ता है लेकिन विद्वान पुरुषोंके लिए यह चीज नहीं है। वादसे तत्त्वज्ञान भी बढ़ता है, कल्याणमार्ग भी मिलता है और उसीमें जय पराजयकी बात समायी हुई है। जय पराजयका उद्देश्य अगर दुनियाकी निगाहमें अपने आपका बड़प्पन करनेका बनाया है तब तो वह ज्ञानमार्गसे बाहरी बात है। यों तो चाहे शरीरसे कुश्ती लड़ले, चाहे हथियारोंसे युद्ध करले चाहे वार्तालाप करले, जीत हारकी मुख्यतामें सबका एक ढंग है, कोई कल्याणकी चीज नहीं है। विजगीषु पुरुषका भी विषयवाद है, तत्त्वज्ञानियोंका भी, प्रयोजनवाद है। यदि वादमें अविजिगीषु यर्थात् जो जीतने हारनेकी इच्छा नहीं रख रहे हैं, जिसे लोग कहते हैं बूढ़े पुराने लोग धर्म साधना कर रहे हैं, शास्त्र सुन रहे हैं ऐसे ही लोग विषय हैं, वादके यह बात प्रसिद्ध है। प्रयोगसे भी सिद्ध है वाद अविजगीषु पुरुषका ही विषय नहीं है अर्थात् उदासीन मुमुक्षु भोले भाले सरल पुरुषोंका ही विषय वाद हो सो बात नहीं है, किन्तु प्रौढ़ विद्वान सबके लिए वाद प्रयोजनीभूत है, और

सिद्धान्तकी प्रभावना और अपसिद्धान्तका निराकरण ये सब वादसे प्रकट होते हैं ।

वादमे अविजिगीषुओंके अविषयत्वके नियमकी असिद्धि—वाद अविजगीषु पुरुषोका विषय नहीं है क्योंकि विग्रह स्थान वाला होनेसे, जल्प वितडाकी तरह । जल्प और वितडावाद मचाकर करता क्या है कोई दूसरेका निग्रह करना, शर्मिन्दा करना, और देखने वाले दार्शनिक लोग उसके लिए हारकी ताली पीटने लगें ये सब बातें करते हैं और ये सब बातें जल्प और वितडासे बहुत सम्भव हैं तो जैसे जल्प और वितडासे निग्रह होता है (निग्रह कहते हैं दूसरेको सताना, गिराना, बेइज्जती करना कहनेमे दूषण देना, आदिको इसी प्रकार वादमें भी सभ्यताकी सीमामे हिताहितनिर्णायक निग्रह है । जो समझदार विद्वान लोग हैं वे सभ्य वचनोको, युक्तिपूर्ण वाक्योको सुनकर सिद्धान्त और असिद्धान्तकी ठिकाई कर लेते हैं, यह सम्यक है यह नहीं ऐसा निर्णय कर लेते हैं,तो मुमुक्षुओंकी जिज्ञासुओंकी, विद्वानोकी दृष्टिमे जीतहार यही कहलाती है और इस ज्ञान रेखासे बहिर्भूत होकर जीतहारकी कल्पना करना एक तरहमे गुण्डागर्दी है । ज्ञानकी रेखामें और बडे युक्तिपूर्ण समर्थ वचनोंके द्वारा सिद्धान्तको स्थापित करना और दूषित सिद्धान्तका निराकरण करना यह भी तो विद्वान पुरुषोकी निगाहमे निग्रह स्थानको उत्पन्न करने वाला है । यदि सभी दार्शनिकोंके चित्तमे यह बात आ जाय कि इस जीवनमे जीकर तत्त्वज्ञानका लाभ करना है और इसके लिए ही दर्शन शास्त्र हैं, सिद्धान्त हैं, परस्परकी कथनी है, व्याख्यान हैं । वाद है तो यह वाद सभ्यताकी सीमामे रहकर सत्य कल्याणका कारण बनेगा और आत्महितकी भावना नही है किन्तु दुनियावी लोगोको अपनी महत्ता बतानेका ही उद्देश्य है तो वह जैसे अन्य प्रकारकी लडाई है इसी प्रकार यह वचनोकी लडाई हो गयी, ज्ञानसे बाह्य चीज बन गई । किसीके लाभवाली बात न रही । किन्तु वाद एक ऐसा प्रसग है कि जिसमे कल्याणकी भी बात है, जय पराजयकी भी बात है, निग्रह स्थानकी भी बात है । प्रमाणीक युक्ति सिद्ध कोई बात सुनकर दूषित सिद्धान्तका निराकरण जाने तो क्या इसमें निग्रह नही बना । तो वाद एक व्यापक रूप है और उसमें ही जय पराजयकी व्यवस्था है । तथा उसीसे तत्त्वज्ञान आदिकमें लगनेकी व्यवस्था है । पात्र जो जिस योग्य है वह तो योग्यताके अनुकूल उससे लाभ उठा लेता है ।

वादमे निग्रहस्थानवत्त्वकी सिद्धि—यह भी नही कह सकते कि वादमे निग्रह स्थानवत्त्व होना असिद्ध है । देखो ! नैयायिक सिद्धान्तमे वादका लक्षण यह किया गया है कि जो प्रमाण तर्क साधनोपलम्भ (स्वपक्ष साधन व परपक्षदूषण) से युक्त हो, सिद्धान्तके अविरुद्ध हो, पाच अवयवोसे उत्पन्न हो, पक्ष, और प्रतिपक्षका परिग्रह रखने वाला हो उसको वाद कहते हैं । तो इस वादके लक्षणमे जो विशेषण दिया गया है उससे ग्रह स्थान विसिद्ध होता है । निग्रह स्थान ८ माने गए हैं—एक तो अपसिद्धान्त बता देना, यह बात सिद्धान्तसे गिरी हुई है, ऐसी बात अगर कोई बता सके

तो, इसके मायने है दूसरेका निग्रह हो गया। सो यह अपसिद्धान्त रूप निग्रह "सिद्धान्त के अविरुद्ध" इस विशेषणसे जाहिर होता है। जब सिद्धान्तके अविरुद्ध कोई बात हो रही है तो जो अपसिद्धान्त हैं उनका तो निराकरण यहाँ ही हो जायगा। दूसरा और तीसरा निग्रह स्थान है कम और ज्यादह होना। अनुमानमें ५ अवयव होते हैं। उनसे कम अंग बोलना अथवा ज्यादह बोला जाय तो उसपर दूसरा चुप कर देगा। तुम मूर्ख हो, कुछ समझते नहीं हो, पहिले अपना दिमाग तो सम्हालो। यहा तुम कहनेमें चूक गए। पूरे अंग नहीं बोल सके। और देखो तुमने यह अंग अधिक बोल दिया तो ऐसा कहकर दूसरेका निग्रह किया जाता है ना? तो यह निग्रह स्थान भी पंच अवयवोंसे उत्पन्न इस विशेषणसे सिद्ध होता है। ५ हो तो ठीक हो, कम हो, ज्यादह हों तो उसका निग्रह हो जायगा और इस ही वाद लक्षणमें "पांच अवयवोंसे उत्पन्न हुआ" ऐसा जो विशेषण दिया है इसमे हेत्वाभास आदिक ५ निग्रह स्थान सिद्ध होते हैं। कोई पुरुष अगर हेत्वाभासका आश्रय ले रहा हो तो उसे चुप कर दिया जायगा कि तुम गलत बोल रहे हो, तो निग्रह स्थान बन गया, वह बात ५ अवयवोंमेंसे जो प्रतिज्ञा अवयव है उसका ग्रहण करनेसे सिद्ध होती है। एक स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। वह भी निग्रह स्थान है। कोई ऐसा गलत हेतु वादी बोल जाय कि जो झूठा हो, स्वरूपसे असिद्ध हो तो दूसरा उसमें दोष दिखाकर चुप कर देगा। तो उसका निग्रह हो गया, तो यह हेतु अवयवसे जाहिर होता है। अन्वय दृष्टान्त भी एक अवयव है। उससे उत्पन्न होता है ना वाद। तो इस विशेषणसे विरुद्ध हेत्वाभासका संकेत मिलता है। कोई पुरुष विरुद्ध हेतु बोलदे तो उसका निग्रह कर दिया जाता है। व्यतिरेक दृष्टान्तसे उत्पन्न है इस विशेषणसे अनेकान्तिक हेत्वाभासका ग्रहण होता है। "उपनय से उत्पन्न है" इस विशेषणसे कालात्ययापदिष्ट नामक निग्रह स्थान बनता है और निगमनसे उत्पन्न होता है। इससे यह प्रतिपक्ष निग्रह स्थान बनता है तो नैयायिकोंके कहे गए वादके लक्षणमे ही निग्रहका संकेत मिलता है। फिर कैसे नहीं वाद जय और पराजयकी व्यवस्थाका कारण बनता है?

वादमे निग्रहस्थानोंका निग्रहबुद्धिसे प्रयोग न होनेकी आशंका शंकाकार कहता है कि वादमे निग्रह स्थान होने पर भी निग्रह बुद्धिसे उनका प्रकट नहीं किया जा सकता है इस कारण उसमें विजगीषा नहीं है। विजगीषा कहते हैं जीतने की इच्छाको। किसी वक्तासे हम जीत जायें उसकी बातको गिरा दें, अपनी बातको रखलें इस बुद्धिसे वादमें उन साधनोंका प्रयोग नहीं किया जाता है। न्याय-शास्त्रमें कहा भी है कि तर्क शब्दके द्वारा भूतपूर्वगतिन्यायसे (वादके लक्षणमें जो तर्क शब्द डाल दिया है—"प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ" इस विशेषणमें जो तर्क शब्द दिया है, उस शब्दसे) वीतराग कथाका ज्ञापन होता है और उस वीतराग कथाके ज्ञानसे उद्भावन नियमकी सिद्धि होती है। भूतपूर्व गति न्यायका यह अर्थ है कि व्याख्यान करनेके समयमें जो विचार उत्पन्न किये जाते हैं उनमे तो वीतरागता रहती है, जैसे कोई

पुरुष एक शास्त्र पढ रहा है व्याख्यान दे रहा है और सब शिष्य सुन रहे हैं तो उसमें शिष्योंको विचार मिल रहे हैं और वे विचारमें व्यस्त हैं तो उस समय तो वीतराग कथा है। तो जैसे आत्मकल्याणकी इच्छासे एक वीतराग कथामें लग रहे हैं इसी प्रकार वादके करनेके समय भी वीतरागपना रहता है। क्योंकि वादके लक्षणमें जो तर्क शब्द दिया है उससे यह जाना जाता है। तर्क विचारका हेतु होता है और जहाँ विचार चलता है वहाँ वीतराग कथा है। आत्महितकी इच्छासे रागद्वेषरहित तत्त्वकी चर्चा कही जाती है वादमें विजगीषाका दोष नहीं दे सकते। वादके समय भी वक्ता और श्रोता एक वीतरागभाव करनेके यत्नमें रहते हैं इसी कारण उद्भावन नियम बन जाता है अर्थात् अपसिद्धान्त आदिक जो वादमें निग्रहस्थान हैं वे वादके सम्बन्धमें, भाषणके सम्बन्धमें निग्रह बुद्धिसे घटित नहीं किये जाते हैं। एक जाननेके लिये उनको घटित किया जाता है। विचार चले और उस विचारसे किसी तत्त्वका निष्कर्ष लगाया जाय इसके लिये किया जाता है। तब सिद्धान्तके अविरुद्ध और पंच अवयवोंसे उत्पन्न ये जो दो उत्तरपद दिये गए हैं वादके लक्षणमें सो उन उत्तर पदोंमें यद्यपि समस्त निग्रहस्थानोंका उपलक्षण हो जाता है। मायने इन दो विशेषणोंसे सब निग्रहस्थान सिद्ध हो जाते हैं। जैसे कि अपसिद्धान्तके अविरुद्ध कहनेसे अपसिद्धान्त नामका निग्रह स्थान निकल आता है पंच ऐसा संख्याका शब्द होनेसे न्यून और अधिक ये निग्रह-स्थान निकल आते हैं और अवयवोत्पन्न शब्द के देनेसे पांच हेत्वाभास निकलता है। यों ८ निग्रहस्थान इन दो विशेषणोंसे निकल तो आते हैं लेकिन वादके सम्बन्धमें अप्रमाण बुद्धिसे परके द्वारा छल जाति आदि निग्रहस्थान प्रयुक्त किए जाते हैं। निग्रह बुद्धिपसे नहीं किए जाते हैं।

निग्रहस्थानोंका निग्रहबुद्धि व निवारणबुद्धिसे प्रयोग होनेका शंकाकार द्वारा विश्लेषण— किसीको हराना है, स्वयकी जीत करना है उस समय जो दृष्टि बनती है और वाक्बाण छोडे जाते हैं, छल जाति सबका प्रयोग किया जाता है वह निग्रह बुद्धि कहलाती है। तो जीतकी दृष्टिमें निग्रह बुद्धिसे इनका उद्भावन होता है लेकिन वादके सम्बन्धमें शास्त्रवाचन आदिकके सम्बन्धमें या व्याख्यानके कालमें ये सब बातें निग्रह स्थान जान तो लिये जाते है, पर निवारण बुद्धिसे उन्हें प्रकट किया जाता है न कि निग्रह बुद्धिसे। निग्रह बुद्धिका अर्थ है कि दूसरेकी पराजय साबित कर देना ऐसा अभिप्राय और निवारण बुद्धिका भाव है जहाँ केवल आत्महितकी इच्छा है, तत्त्वके निर्णयकी वाञ्छा है उसमें कोई दोष देता है, दोष प्रकट करना होता है तो उसे दूर करनेके आशयको कहते हैं निवारणबुद्धि। किन्तु तत्त्वमें कुछ मतलब नहीं किन्तु हमारी बात न गिरे, जीत हो, किसी तरह दूसरे प्रतिवादीको चुप करदे केवल इस भावनासे जो दोषका प्रतिपादन होता है वह निग्रह बुद्धिसे होता है। तो वादमें निग्रह बुद्धिसे यह निग्रह स्थान नहीं प्रयुक्त किया जाता, क्योंकि हम दोनोंकी याने वादी और प्रतिवादीकी जो वादमें प्रवृत्ति होती है वह तत्त्वज्ञानके लिए होती है, वीत-

हारके लिए नहीं होती। यों समझ लीजिए कि चार मित्र एक अपनी भलाईके लिए और तत्वका सही स्वरूप निर्णीत करनेके लिए जो विचार करते हैं, हेतु देते हैं, दोष दिखाते हैं वे सब निवारण बुद्धिसे दिखाये जाते हैं, निग्रह बुद्धिसे नहीं, लेकिन स्पष्ट जय पराजयके निर्णयके लिये किसी दार्शनिकको बैठाया है, निर्णायक चुन लिया है ऐसी स्थितिमें वादी प्रतिवादीका जो परस्परमें वचन व्यवहार होता है और उसमें किसी भी तरह चुप करनेके लिए बात कही जाती है तो वह सब निग्रह बुद्धि कहलाती है। तो वादमें वादी और प्रतिवादीकी जो प्रवृत्ति होती है वह तत्वज्ञानके लिए होती है और साधनाभास, दूषणाभास जो कि जीत और पराजयके कारण होते हैं वे तत्वज्ञानके हेतुभूत नहीं हैं। इस कारण उन निग्रह स्थानोंका प्रयोग वादमें नहीं किया जाता, तब वादमें जय—पराजयकी व्यवस्थाका कोई अवकाश ही नहीं है। वीतराग कथाका ही प्रयोजन है तब वादमें साधनाभास और दूषणाभासका प्रयोग नहीं किया जा सकता है।

वादमे निग्रहस्थानोंका प्रयोग न होनेकी शंकाका समाधान—उक्त शंकाके समाधानमे कहते हैं कि शंकाकारकी यह आशंका असगत है क्योंकि जल्प और वितंडा इनमें भी उस प्रकारके उद्भावनका नियम बनाया जा सकता है। क्योंकि जल्प और वितंडाको भी तत्वके अध्यवसायका संरक्षण करनेके लिये प्रयोग करना माना है शंकाकारने। अर्थात् शंकाकार जल्प और वितंडाको तत्वके निश्चयकी रक्षा करनेके लिए बताया करता है। याने किसीके प्रति छल करके कपट करके कोई अर्थ बता करके, अप्रासंगिक अर्थका उपदेश करके किसीको चक्करमें डाल देनेको जल्प और वितंडा कहते हैं। और उसे बताते हैं कि तत्त्वकी रक्षाके लिये जल्प और वितण्डा किया जाता है। तो जब प्रयोजन यह रहा कि तत्त्वके निश्चयकी रक्षा करना है तो वहाँ भी निग्रहबुद्धिसे निग्रहस्थानोंका प्रयोग न हो सकेगा किंतु तत्त्वके निश्चय की रक्षा जल्प और वितंडासे नहीं की जा सकती। छल जाति निग्र स्थानके प्रयोगसे कहीं तत्त्व निर्णयकी रक्षा होती है। वहाँ तो कोई युक्ति छल आदिकके प्रयोग करके दूसरेको चुप कर देने भरका उद्देश्य रहता है। स्वयं ऐसा मानते भी हैं कि दूसरेको चुप करनेके लिये जल्प और वितंडामे छल आदिकको प्रकट किया जाता है। जल्प वितंडाका ऐसा रूपक समझिये कि जैसे कोई यह कहदे कि यह नवकम्बल वाला देवदत्त आया है। और कोई दूसरा पुरुष कम्बल ओढ़े हुए अपनी गोष्ठीमें बैठनेके लिए आया और उसे देखकर कोई यह कहने लगे कि यह नवकम्बल वाला देवदत्त आ रहा है, और उस कहने वालेको समिन्दा करनेके लिए कोई कह बैठे वाह रे वाह कहाँ है इसके पास ९ कम्बल यों कुछका कुछ अर्थ निकालकर उसे चुप करना यह जल्प वितंडाका रूपक है। और जब जल्प और वितंडाका प्रयोग दूसरेको चुप करनेके लिए किया जाता है और दूसरा क्या, दोनों ही जल्प वितंडामें लग जायें तो चुप करनेकी बात कभी बन ही नहीं सकती। जब छल ही करना है दोनों पट्ठों ही करना

है तो कौन गम खायेगा ? जैसा चाहे भाषण करके, शब्द बोलकर अर्थ निकालकर कथाको बढाते ही रहेंगे तो दूसरेको चुप भी नही किया जा सकता है। क्योंकि जो असत् उत्तर है असमी चीन उत्तर है ऐसा उत्तर तो सीमारहित है । बोलते जावें दोनो परस्परमें । तो जल्प और वितडाके द्वारा तत्त्व निश्चय नही किया जा सकता न तत्त्वकी रक्षा की जा सकती है । इसलिए वहाँ भी हम यह बात कह सकेंगे कि जल्प और वितडामें भी निग्रहस्थानका उद्भावन नियम है।

वादमे तत्त्वाध्यवसायके संरक्षणकी समर्थता—अब दूसरी बात सुनिये ! शंकाकारने जो यह कहा था कि वादमें तत्त्व निश्चयकी रक्षाका प्रयोजन नही है, सो बात असिद्ध है । वाद तत्त्वकी रक्षा करनेमे समर्थ है, बल्कि जल्प वितडा तत्त्वकी रक्षा करनेमें समर्थ नही हैं, वह तो केवल एक लडाई है और किसी भी तरह निग्रहस्थान बना है दूसरेका, वहा तत्त्वका निश्चय कहाँ बन सकेगा ? तो यह बात कहना शंकाकारका बिल्कुल गलत है कि वाद तत्त्वके निश्चयकी रक्षाके प्रयोजनसे रहित है । वादमे ही यह सामर्थ्य है कि वाद तत्त्वके निश्चयकी रक्षा कर सकता है । उसका प्रयोग और हेतु द्वारा भी सुनो ! वाद ही तत्त्वके अध्यवसायके संरक्षणका प्रयोजक है क्योंकि प्रमाण तर्क साधनोपलम्भ होनेपर भी और सिद्धान्तके अविरुद्ध होनेपर भी तथा पच अवयवोंसे उत्पन्न होकर भी पक्ष और प्रतिपक्षके परिग्रहको रखने वाला है । शंकाकारने वादका लक्षण करते समय इतने शब्द दिये हैं कि जो प्रमाण तर्क स्वपक्ष साधन पर पक्षका दूषणसे युक्त हो, दूसरा विशेषण है जो सिद्धान्तके अविरुद्ध हो तीसरा विशेषण है जो पच अवयवोंसे उत्पन्न हो और चौथा विशेषण है कि जिसमे पक्ष और प्रतिपक्षका परिग्रह बना हुआ हो एक है मनुष्य पूर्व पक्ष वाला, दूसरा है मनुष्य उत्तर पक्ष वाला । वादी अपनी समस्या रख रहे हैं और ये दूसरे प्रतिवादी उसका हल अथवा दूषण कर रहे हैं ऐसे पक्ष और प्रतिपक्षका परिग्रह जहाँ होता है उसे वाद कहते हैं । तो अब देखिये कि इस वादमें तत्त्वका अध्यवसाय बना ना ? अपने आप बना ? ये सब विशेषण यह सिद्ध कर रहे हैं कि इसमें तत्त्वका निर्णय होता है और निर्णीत तत्त्वकी रक्षा की जाती है । इसमें दीदा पट्टीकी बात नहीं लिखी गई है । तो वादमे ये सब विशेषण बराबर सही पाये जाते हैं और उन विशेषणोंसे, उन हेतुवोंसे ही यह सिद्ध हो जाता है कि वाद तत्त्व निश्चयकी रक्षाके लिए होता है ।

योगसिद्धान्त कथित वादलक्षण स्थ विशेषणोंसे भी वादके तत्त्वाध्यवसाय संरक्षणका समर्थन—प्रमाण दिये जा रहे हैं तो उससे तत्त्वका ही तो निर्णय किया जा रहा है और तत्त्वनिर्णयकी रक्षा की जा रही है । जहा तर्क चल रहा है, विचार चल रहा है वहा तत्त्वके निश्चयकी ही तो बात है । जहाँ अपने पक्षके साधनकी बात कही जा रही है अथवा दूसरेके पक्षके दूषणकी बात कही जा रही है उससे निष्कर्ष क्या निकला कि यही तो है तत्त्वनिर्णय और निर्णीत तत्त्वकी रक्षा । तो

वादमें जो विशेषण दिये गये हैं उनसे भी यह सिद्ध होता कि वाद तत्त्व निश्चयकी रक्षाका प्रयोजक होता है। दूसरा विशेषण दिया है जो सिद्धान्तके अविरुद्ध हो। तो सिद्धान्तके अविरुद्ध कहनेसे एक तत्त्व निर्णय की हो तो बात आयी। वस्तुस्वरूपमें बताया गया हो और जिसके बारेमें स्पष्ट सिद्धान्त बना हुआ है कि अविरुद्ध जो वचन है उसको वाद कहते हैं ना। तो उससे सिद्ध हो जाता है कि वाद तत्त्व निश्चयकी रक्षाका प्रयोजक है। अनुमानके ५ अंग बताये गए हैं प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। तो यह पच अवयवोंका प्रयोग और उससे उत्पन्न होता है जो कुछ बोध वह तत्त्व निर्णयकी रक्षाका संकेत दे रहा है और पक्ष प्रतिपक्षका परिग्रह भी वादसे लग रहा है। एक बोलने वाला है दूसरा सुनने वाला है। सुनने वाला भी बोलने वालेके प्रति बोलेगा और यह वादी भी उस प्रतिवादीके प्रति बोलेगा तो वाद में भी पक्ष और प्रतिपक्ष होता है। जैसे वक्ता कहता है कि देखिये बात ऐसी है यह एक उसका पक्ष हो गया। दूसरा उसमें दूषण देता है, वह मानता नहीं है कि बात यह ठीक है तो वह प्रतिपक्ष हो गया। तो वादमें जब ये सब चीजें हैं और इन चीजों का स्वरूप इस बातका संकेत दे रहा है कि इस वादसे तत्त्वनिश्चयकी रक्षा होगी। तो इससे यह सिद्ध है कि वाद ही तत्त्वकी रक्षा करनेमें समर्थ है। जल्प और वितंडासे तत्त्वकी रक्षा नहीं होती है। जो इस प्रकारके हेतु वाला नहीं हैं। प्रमाण तर्क और साधनोपलम्भ वाली बात नहीं है, जो सिद्धान्तके अविरुद्ध नहीं है, जो पच अवयवोंसे उत्पन्न नहीं है। जिसमें पक्ष और प्रतिपक्षका परिग्रह हो नहीं है वह तत्त्वका निश्चय और तत्त्वनिश्चयकी रक्षा नहीं कर सकता।

तत्त्वनिर्णयस्थिति—देखिये! तत्त्वनिर्णय होता किस स्थितिमें? दो बन्धु हैं, वे परस्परमें अपनी समझ बना रहे हैं, उसपर विचार चल रहा है और वहाँ ये सारी बातें आगयी, वह है तत्त्वनिर्णयका साधन। तो वादके लक्षणमें जितने भी विशेषण कहे हैं वे जहाँ नहीं हैं वहाँ तत्त्वके अध्यवसायकी रक्षा भी नहीं है। इससे यह सिद्ध है कि वाद ही तत्त्वके निश्चयकी रक्षा कर सकता है, अन्य कोई नहीं। जैसे—गाली-गलौज है इसमें प्रमाण, तर्क, साधनोपालम्भ सिद्धान्तके अविरुद्ध होना, पच अवयवोंसे उत्पन्न होना, यह बात उनके अन्दर नहीं है। भले ही एक दूसरेको गाली दे रहा है और दूसरा उस गालीका जवाब दे रहा है। तो जैसे वक्ता और श्रोताका सम्बन्ध है परस्परमें—वक्ता बोलता है, श्रोता सुनता है, इसी तरह गाली-गलौजका भी पक्ष और प्रतिपक्षका सम्बन्ध रहता है। एकने गाली दी, दूसरेका भयानकर गाली दी तो उसमें पक्ष और प्रतिपक्षका—परिग्रह भले ही हो गाली-गलौजमें लेकिन प्रमाण तर्क, साधनोपालम्भ आदिक बातें उसमें नहीं हैं। तो जैसे गाली-गलौजमें वादके लक्षणमें कहा गया विशेषण नहीं है तो गाली-गलौज तत्त्व निश्चयकी रक्षाका कारण नहीं माना गया है। *गाली-गलौजका क्या अर्थ है? कुछ भी नहीं।* छोटी छोटी गाली चार-चार वर्षके बच्चे भी दे लेते हैं। वहाँ कुछ बोध भी नहीं तथा अध्यवसाय

भी नहीं। ऐसे ही जल्प वितण्डामें तत्वनिश्चयकी रक्षा नहीं, किन्तु वाद अवश्य ही ऐसा है कि जिससे वादके लक्षणसे जाहिर होता कि तत्वकी रक्षाके लिए ही है, अन्य बातके लिए नहीं।

वादमे ही तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणकी समर्थताके कथनका उपसंहार—निष्कर्ष यह है कि शंकाकारका यह कहना असिद्ध है कि वाद तत्वकी रक्षाके प्रयोजनको लिए हुए नहीं है इसलिए वादमे विजगीषा नहीं हो सकती। निष्कर्ष यह निकला कि वादमें वीतराग कथा भी है, वादमे तत्वकी कथा भी है और वादमे जय पराजयकी व्यवस्था भी है। युक्तिपूर्ण प्रमाणपूर्ण वचनालापसे यह जाना जायगा कि इसका पक्ष समर्थ हो गया है और इसका सिद्धान्त बलहीन है अर्थात् पराजय वाला है। तो जय पराजयकी व्यवस्था वादमे होता है। इसमे किसी तरहका सन्देह नहीं। वादमें ही तत्वका निश्चय है तथा तत्व निश्चयकी रक्षा है एवं वीतराग कथा है और जय पराजयकी व्यवस्था है। तो यो वाद ही तत्वके अध्यवसायका प्रयोजक है, जल्पवितंडा नहीं है। इसलिये चतुरंगवादकी बात कहेगा कि सभाके लोग, सभापति, वादी और प्रतिवादी, इन चारका सम्बन्ध रहता है वादमे और वहाँ जो प्रमाण दिया जाता है उस प्रमाणमे दूसरेने दूषण दिया तो उस पहिलेने याने वादीने दूषण का निराकरण किया तो वादीकी जय हो गयी। और प्रतिवादीकी जय हो गयी। और प्रतिवादीकी वहां हार है और किसी वादीका वहां हार है और किसी वादीके बताये हुए प्रमाणमे प्रतिवादीने दूषण दिया और उन दूषणोंको यह वादी न टाल सका, उसका परिहार न कर सका तो वादीकी हार है और प्रतिवादीकी जीत है। तो यो वादमे यह जय पराजयकी व्यवस्था तत्व निर्णयकी व्यवस्था और अन्यरङ्ग कथाका भी भाव ये सब वादमें है। अब जिसकी जैसी योग्यता है वह अपनी योग्यता के अनुसार उसमेंसे अपना प्रयोजन छांट लेता है परन्तु जल्प और वितंडा किसी काम के लिए नहीं समर्थ है। वह केवल विवादकी ही जड है।

न्यायसूत्रकथित वादलक्षणके विशेषणोकी सार्थकता—न्यायसूत्रमें वादका लक्षण किया गया है जो प्रमाण तर्क, साधनोपालम्भ है, सिद्धान्तके अविरुद्ध है ५ अवयवोसे उत्पन्न होता है और जिसका पक्ष एवं प्रतिपक्ष परिग्रह है उसे वाद कहते है। तो इस ही लक्षणसे यह जाना जाता है कि वादसे तत्वका निश्चय और तत्व निश्चयका संरक्षण होता है। उक्त हेतुके पक्ष प्रतिपक्ष परिग्रह वाला होनेसे ऐसा कहा जानेपर जल्प ही इसमे शामिल हो सकता था क्योंकि जब जल्पमें दूसरेसे अनुचित तरीकेसे वादविवाद किया जाता है तो उसमें भी पक्ष और प्रतिपक्षका परिग्रह जल्पमें भी आ सकता है इस कारण वादका यही लक्षण है यह बात नहीं बन सकती थी, तब उस दोषको दूर करनेके लिए विशेषण दिया गया है प्रमाण तर्क साधनोपालम्भ वाला अर्थात् जहा प्रमाणका अवकाश है, तर्क विचारका जहाँ अवकाश है और

है और अपने पक्षका पोषण करना, पर पक्षका दूषण देना । इस प्रकारकी जहाँ वृत्ति है वह वाद कहलाता है ।

जल्पमें तत्त्वाध्यवसाय संरक्षणकी अक्षमता—जल्पमें प्रमाण, तर्क और साधनोपालम्भकी बात नहीं घटती है क्योंकि प्रमाण तर्ककी बात एक सभ्यताके प्रसंगमें ही चलती है और जहाँ समर्थ वचन होते हैं वहाँ ही प्रमाण और तर्ककी गति होती है । तो जल्पमें प्रमाण तर्क साधनोपालम्भ नहीं है । क्योंकि जल्पका लक्षण किया गया है जो वादके लक्षणसे उत्पन्न है । जो छल जाति निग्रह स्थानसे भरपूर और साधनोपालम्भ जिसमें न हो वह जल्प है । वादके लक्षणसे अतिरिक्त इतनी बातें और जहाँ होगी उसे जल्प कहते हैं । क्या कि छल जाति निग्रहस्थान जहाँ हो और अपने पक्षका पोषण करनेका, दूसरे पक्षको दूषित करनेका जहाँ एक उद्यम बनाया हो उसे जल्प कहते हैं । तो देखो जल्पमें वस्तुत. प्रमाण, तर्क साधनोपालम्भ नहीं रहा ।

वितण्डामें तत्त्वाध्यवसाय संरक्षणकी अक्षमता—वितण्डा भी तत्त्वके निश्चय और तत्त्वनिश्चयकी रक्षाके लिए नहीं हो सकता है, क्योंकि वितण्डा भी एक जल्पसे भी और बढ़ा हुआ रौंदनेका रूप है । वही जल्प जब प्रतिपक्षकी स्थापनासे हीन होता है तो उसे वितण्डा कहते हैं । सो यह उक्त प्रकारका जल्प जब प्रतिपक्षकी स्थापनासे रहित हो गया तो उस हीका नाम वितण्डा हुआ । वैतण्डिक पुरुषका अपना पक्ष ही साधनको बोलने वाला जो प्रतिवादी है उसके पक्षकी अपेक्षा प्रतिपक्ष है हस्ती प्रतिहस्ती न्यायसे । जैसे कि एक हाथी दूसरे हाथीकी अपेक्षा प्रतिहस्ती है तो यों ही यहाँ परस्पर एक दूसरेके प्रतिपक्षी होते हैं । एक बोलने वालेकी दृष्टिमें दूसरा प्रतिपक्ष कहलाता है । उस प्रतिपक्षमें वैतण्डिक जो पुरुष है वह साधनको नहीं बोल सकता। अपने पक्षके साधनके लिए हेतुको नहीं कह सकता है क्योंकि वितण्डावादमें शुद्ध बुद्धि नहीं रहती है । सो अपने पक्षकी सिद्धिके लिए समर्थ युक्ति वचन नहीं कहा जा सकता है, वह तो केवल दूसरेके पक्षके निराकरणके लिए ही प्रवृत्ति करता है । प्रतिवादी जिस किसी भी सिद्धान्तका अवलम्बन करके डटा हुआ है वह अपने प्रतिपक्षके भंगमात्र से विजय वाला कहलाता है । जिस किसी भी प्रकारसे दूसरा चुप रह सके अथवा उसको उत्तर न दे सके जैसे किसी भी छल वाले वाक्योंको बोल करके वह तो अपने पक्षकी साधनामें ही रहता है और दूसरेके पक्षके निराकरणके लिए प्रवृत्त होता है। वैतण्डिक पुरुष अपने पक्षका साधन कर सके ऐसी बात नहीं कह सकते । वितण्डावाद में केवल एक यह ही दृष्टि रहती है कि दूसरेके पक्षको गिरा दिया जाय, दूसरेका पक्ष सिद्ध न हो सके ।

पक्ष और प्रतिपक्षके विशेषित लक्षण—पक्ष और प्रतिपक्षका अर्थ क्या

है ? एक अधिकरणमें रहने वाला विरुद्ध धर्म जैसे कि शब्द आदिकके आश्रयमें यह नित्य है अथवा अनित्य है ? इसमें दो विरुद्ध धर्म लिए तो वे दोनों विरुद्ध धर्म पक्ष प्रतिपक्ष है। एकका सिद्धान्त कुछ है, उसके ठीक विपरीत दूसरेका सिद्धान्त हो तो वह पक्ष और प्रतिपक्ष होता है। वे परस्पर विरुद्ध हैं एक कालमें हैं अथवा एक काल में रहते हैं तथा अनवसित हैं, विचार कोटिमें पड़े हुए हैं। यहाँ वस्तुका जो वस्तुविशेष हो वही वस्तुधर्म कहलाता है। जैसे शब्दमें नित्यपना भी है, अनित्यपना भी है तो ये वस्तु धर्म कहलाये तो इसका नाम है पक्ष और प्रतिपक्ष। और विचार नाम किसका है कि सामान्यसे कोई पदार्थ जान लिया और विशेषरूप न जान पाया, उसी सम्बन्धमें विशेषतासे कोई समझ न बना पाये तो उस समय उस विशेषको जाननेमें निमित्तभूत जो कुछ आत्माका वितर्करूप परिणमन है उसको विचार कहते हैं ये पक्ष प्रतिपक्षके विषयभूत हैं। एकाधिकरणका क्या अर्थ है कि इन पक्ष प्रतिपक्षोंका एक अधिकरण है। नाना अधिकरणोंके प्रतिवादी और प्रति वादी विचारमें प्रयुक्त नहीं करता है। एक ही अधिकरणमें देखना और बोलना है उसे कहते हैं एकाधिकरण। तो यहाँ नाना अधिकरणोंके प्रति विचार प्रयुक्त नहीं किए गए। क्योंकि उन दोनों धर्मोंमें जो भिन्न भिन्न अधिकरण वाले हैं उन नाना धर्मोंमें प्रमाणकी उत्पत्ति है। अर्थात् दोनों वस्तुधर्मोंका एकाधिकरण होनेपर विचार होता है नाना अधिकरण होनेपर नहीं। जैसे कि बुद्धि अनित्य है, आत्मा नित्य है। तो अनित्यका बुद्धि अधिकरण है और नित्यका आत्मा अधिकरण है। याने अनित्यका अधिकरण बुद्धि हुई और नित्यका अधिकरण बना आत्मा हुआ। अर्थात् बुद्धिमें तो रह रहा है अनित्यपना और आत्मा में रह रहा है नित्यपना। तो यहाँपर पृथक् प्रमाणकी उत्पत्ति होनेसे विचार नहीं चलाया जाता है। यदि अविरुद्ध दो धर्म हुए अर्थात् जिनके सम्बन्धमें कोई विरोध न आता हो तो यह भी विचार कोटिके प्रयोजनमें नहीं आता वादी और प्रतिवादीके लिए। जैसे कहा कि द्रव्य क्रियावान है और गुणवान है तो यह क्रिया तो है अनित्य और गुण नित्य भी है और अनित्य भी है। तो ऐसा अविरुद्ध होकर भी विचारके प्रयोजनमें नहीं आता। एक काल है वह पक्ष प्रतिपक्ष। ऐसा कहनेमें भिन्न कालकी खोज विचारमें न आयगी। विचारका प्रयोजक रहेगा वादी और प्रतिवादी क्योंकि उनमें प्रमाणोपपत्ति है, वह वादका विषय न होगा जैसे क्रियावान द्रव्य और निष्क्रिय द्रव्य ये कालभेदसे होनेपर हैं। अतः यहाँ पक्ष प्रतिपक्षका परिग्रह नहीं इसी प्रकारसे जो अवसित है याने निश्चित हैं वे भी विचारके प्रयोजनमें नहीं आते क्योंकि निश्चयके उत्तरकालमें इसमें विवाद नहीं रहता। अतः अवसित तत्त्वमें वाद नहीं चलाया जाता, पक्ष प्रतिपक्ष परिग्रहके विवरणमें उसके विशेषणोंका थोड़ा सा यों विवरण किया है।

वादमें ही पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहताकी समझता—अब इस पक्ष और प्रतिपक्षका परिग्रह क्या है ? ऐसा है यह नियम बने, यह इस धर्मवाला है और यह इस धर्मवाला नहीं है, इस प्रकारका जो नियम है उसे कहते हैं परिग्रह। सो पक्ष

देखो कि प्रमाण, तर्क, साधनोपालम्भ इन विशेषणोंका जल्प और वितण्डामें प्रवेश नहीं है और इसी कारण पक्ष और प्रतिपक्षका परिग्रह भी जल्प और वितण्डामें सम्भव नहीं है। इससे यह सिद्ध है कि वादमें ही यह बात सम्भव है उससे ही तत्वके निर्णय और तत्वकी रक्षा हो सकती है। जैसे कि लाभ पूजा प्रसिद्धि भी वादमें ही होती है, इसी प्रकार तत्वनिर्णयकी रक्षा भी वादमें ही हो सकती है। जो पुरुष विद्वान् है, समर्थ वचनका धनी है, प्रमाणका जैसा विशिष्ट साधन है ऐसे पुरुषकी उस वादके कालमें जय होती है इसलिए लाभ भी है, पूजा भी है प्रतिष्ठा भी है, उसकी प्रसिद्धि है इसी प्रकार वादमें ही तत्वका निर्णय है और संरक्षण भी है। तो वादमें ही जीत और हारकी व्यवस्था बनती है जल्प और वितण्डा में जय-पराजयकी नहीं बनती।

वादसे तत्त्वनिर्णय होनेके सम्बन्धमे शका-समाधान शंकाकारने यह कहा है कि वादसे, सभ्यतापूर्वक विद्वत्ताके साथ वाद-विवाद करनेसे जीत-हारका निर्णय नहीं होता, किन्तु जल्प वितण्डा छल भरी बात करके ही जीत बनती है और उससे ही दूसरेको हराया जा सकता है और जल्प वितण्डामें ही यह सामर्थ्य है कि वे तत्वके निश्चयका संरक्षण करते हैं। तो उत्तरमें कह रहे हैं कि तत्वनिर्णयका संरक्षण करना वादका काम है, जल्प वितण्डा आदिकका नहीं, क्योंकि तत्वाध्यवसायके संरक्षण का अर्थ क्या है कि जो तत्व है, जिसका समर्थन किया जा रहा है, जिसका कि लोकहितके लिए प्रचार किया जाता है, उसका जो निश्चय है, उसकी रक्षाका नाम है—तत्वाध्यवसाय संरक्षण। तत्वनिर्णयकी रक्षा न्यायबलसे समस्त बाधकोंका निराकरण कर देनेका नाम है अर्थात् तत्वमें बाधा कोई देवे उस तत्वको मिथ्या साबित करनेके लिए कोई कुछ बात कहे उसका निराकरण कर देना यह उसकी रक्षा है। तो इस प्रकारकी रक्षा केवल बाधा डालनेसे नहीं होती कि उसमें बाधायें पेश करे और प्रमाण से बातको न रख सके। तो बाधायें मात्र देनेसे या जिस किसी भी प्रकार हो, इसका मुँह बन्द करें इससे तत्वनिर्णयकी रक्षा नहीं होती। अगर केवल बहुत बहुत विवाद करनेसे, दूसरेको परेशान करनेसे, उसका मुख बन्द कर देनेको तत्वाध्यवसायका संरक्षण माना जाय तो लाठी मारकर या चाँटा मारकर उसको दबा देवे, उसका मुख बंद कर देवे तो उसे भी कहे कि तत्वनिश्चयकी रक्षा हुई। यदि केवल बाधा और प्रलाप करने मात्रसे तत्वनिश्चयकी रक्षा मानते हो तो किसीको लाठी, चाँटा मारकर भी तो मुँह बन्द किया जा सकता है, तो उसके भी तत्वनिश्चयकी रक्षा मान लो पर ऐसा तो नहीं है।

जल्प और वितण्डासे बाधकोका अनिराकरण,—जल्प और वितंडासे समस्त बाधकोंका निराकरण नहीं किया जा सकता है जल्प और वितडामें क्या किया जाता है—छल जातिका उपक्रम किया जाता है। अर्थात् उसमें, उसका कोई अर्थ निकालकर अनिष्ट अर्थको लगा बैठना अथवा उसके कहनेका ढंग बदलकर कोई

अनिष्ट बात घटा देना होता है इससे बाधाओंका निराकरण नही होता छल और जातिके प्रयोगसे संशय और विपर्ययकी उत्पत्ति होती है अर्थात् प्रलाप करनेसे, व्यर्थ ही अधिक बोलनेसे, छल जातिका प्रयोग करके संनिन्दा करनेसे कही तत्त्वका निर्णय नही होता। बल्कि उसमें तो सुनने वालेको संशय और विपर्यय आ जाता है। क्योंकि तत्त्वका निश्चय होनेपर भी दूसरेका मुख बन्द करनेमे ही प्रवृत्ति करनेपर सुनने वाले लोग, प्राश्निक लोग, निर्णय करने वाले लोग तो उसमें संशय करते है अथवा वे उल्टा समझ लेंगे कि यह प्रतिवादी कपटका प्रयोग करके वादीका मुख बन्द कर रहा है। इसके तत्व निर्णय है अथवा नही है, ऐसा संशय उत्पन्न होता है अथवा तत्व निर्णय नही है, ऐसा उल्टा बोध कर सकता है। तो दूसरेका प्रलाप करने मात्रसे ऐसा भी पुरुष जिसको तत्व निर्णय नही है, ऐसेकी भी प्रवृत्ति पाई जाती है, इससे छल जाति निग्रह आदिककी विधिसे तत्वका निर्णय नही समझा जा सकता है। जैसे कि जो तत्व को मानते ही नही हैं, जिसे तत्व पल्लव आदिक कहते हैं याने तत्व न मानने वाले लोग जैसे चाहे वचन कहकर अपना पक्ष सिद्ध करते हैं और तत्व मानने वालेका मुख बन्द कर देते हैं तो इससे कहीं तत्व मानने वालेका निराकरण तो न हो जायगा। साथ ही जो छल और अनिष्ट अर्थ लगाकर जो दूसरेकी हार दुनियाको दिखाना चाहते हैं तो बुद्धिमान लोग तो बहकावेमें न आ जायेंगे, वे तो सही युक्त समर्थ वचन ही कर निर्णय करेंगे। तो बुद्धिमान लोगोकी दृष्टिमें तो ऐसे प्रतिवादीकी प्रतिष्ठा घट जाती है। और फिर पूजा और लाभ भी प्राप्त नही हो सकता। विद्वान लोग तो उसे ही पूज सकते हैं जिसके वचनोंमें प्रमाणता देखें, जिसके वचन समर्थ समझें। पर जो छल करके बेतुके अर्थ लगाकर दूसरेका मुँह बन्द करके अपनी जीत साबित करना चाहते हैं उन का विद्वानोमें आदर नही है, इससे सिद्ध है कि वाद चतुरंग होता है।

वादकी चतुरङ्गता – चतुरंगके माने यह है कि किसी बातका निर्णय करना है और दुनियाको भी उसका सही निर्णय बताना है तो बहुतसे लोग सुनने वाले होंगे। जिन्हे कहेंगे सभासद और दो बोलने वाले होंगे जिन्हे कहेंगे वादी प्रतिवादी, और एक निर्णायक होगा जिसको सभापति बनाया गया है। तो जीतहारकी व्यवस्थामें चार चीजोका प्रयोग होता है सभासद वादी, प्रतिवादी और सभापति। ऐसे चतुरंग वादकी योजनामें फिर वादी प्रतिवादी जो कुछ कहेंगे उससे अपने अपने अभिप्रायकी व्यवस्था बन सकती है। तो यह बात वादसे ही बन सकती है। जैसे लोकमे बहुतसे वाद प्रसिद्ध हैं लेकिन वहाँ कोई प्रतिवादी छल करके बेतुकी बात कह करके अपनी जीत साबित करना चाहेगा तो उन सभासदोमे जो विद्वान लोग हैं वे तो यथार्थ समझ ही जायेंगे कि इससे कुछ उत्तर नही बन रहा है। ऐसा प्रलाप करके दो अर्थ बनाकर, छल करके दूसरेका मुख बन्द करना चाह रहा है। तो वादमें चार अंग होते हैं। यदि चार अंगोंमेंसे एक भी अंग कम हो तो प्रस्तुत अर्थका निर्णय प्रचार नहीं हो सकता है। जैसे मान लो वादी और प्रतिवादी ही हैं और एक निर्णा-

एक भी बैठा है। केवल तीन ही पुरुष हैं तो उससे तत्त्व निर्णयकी बात नहीं बन सकती। उसका निर्णायकने फैसला कर दिया अब उसे न वादीको मानना है न प्रतिवादीको। तो अब उससे निर्णय क्या हुआ? मान लो वादी प्रतिवादी और सभासद बैठे हैं और निर्णायक नहीं है तो उसका निर्णय क्या होगा? वादीने उसपर किसी भी प्रकार बात थोप दिया तो कोई क्या निर्णय देगा। उसमें जो पक्षपाती होगा उसकी तारीफ करके चला जायगा, पर निर्णय कुछ न होगा। मानलो कि सभासद बैठा है, निर्णायक बैठा है और एक वादी मात्र बोलने वाला है तो निर्णय किस बातका? कोई भी विरुद्ध बोलने वाला है नहीं तो निर्णय किस तरह होगा? तो वाद चतुरंग होता है और उसमें तत्त्वनिर्णयकी व्यवस्था बन सकती है।

चतुरङ्गताके बिना तत्त्वनिर्णयकी अव्यवस्था—जो लोग सभामें बैठे हुए हैं, अहङ्कारसे ग्रस्त हैं, अभिमानमें बैठे हैं, मर्यादाका उल्लंघन कर रहे हैं और उस समय कोई सभापति है नहीं जिसमें उत्साह हो प्रभुता हो, विचारनेकी शक्ति हो, उदासीन हो। पक्षपात रहित हो, पापसे डरने वाला हो। इस प्रकारका कोई निर्णायक है नहीं, तो वे जो प्रश्न करने वाले लोग हैं अथवा अन्य कोई दार्शनिक लोग हैं उनके बिना नियामकपना तो नहीं बन सकता है। याने सभापति तो नहीं है, निर्णायक नहीं है तो जितने दर्शक हैं उनको कोई निर्णय नहीं दे सकता है और वादी प्रतिवादी जो परस्परमें उत्तर दे रहे हैं उनका कोई नियन्त्रण नहीं कर सकता है, और उनका कोई निर्णय भी नहीं बना सकता है। जो प्राश्निक लोग हैं वे पक्षपातसे रहित, विद्वान और वादी प्रतिवादी दोनोंका ही सिद्धान्त जानने वाले और सदोष कथनका निराकरण करने वाले पुरुष वादी प्रतिवादीके सिद्धान्तका निर्णय करनेमें समर्थ होते हैं और वे निर्णायक लोग यों समझिये कि जैसे कि गाड़ीमें जुतने वाले बैलोंको रस्सी बैलोंका नियन्त्रण करती है इसी प्रकार ये प्रास्ताविक लोग उनका नियन्त्रण किया करते हैं। तो चार अंगोंमेंसे एक प्राश्निक लोग न हों तो नियन्त्रण कैसे हो? और यदि वादी प्रतिवादी नहीं हैं जो कि प्रमाण और प्रमाणाभासके परिज्ञानमें पूर्ण सामर्थ्य रखते हों, ऐसे वादी प्रतिवादीके हुए बिना वाद भी कैसे चलेगा? इससे सिद्ध है कि वाद चतुरङ्ग ही होना चाहिए। सभामें सभासद बैठे हों निर्णायक सभापति और बड़े चतुर विद्वान वादी प्रतिवादी भी हों, तब जय विजयकी व्यवस्था बन सकती है, लोगोंको तत्त्वके निर्णयमें घोषणाकी बात बन सकती है।

वादकी चतुरङ्गता होनेपर भी छल जातिसे ही जय पराजयकी व्यवस्थाकी आशंका व उसका समाधान—अब शंकाकार कहता है कि चलो हम माने लेते हैं कि वाद चतुरङ्ग होता है, याने जहाँ वाद विवाद हो रहा हो और उसका निर्णय भी करना हो तो चार चीजोंके बिना नहीं हो सकता। दर्शक याने सुनने वाले लोग और वादी प्रतिवादी जो अपना अपना पक्ष रखना चाह रहे हैं और उस सभाका एक

सभापति जो विद्वान है, ये चार अग वादमें हुआ करते हैं । यह बात हम माने लेते हैं, लेकिन जीतहारकी व्यवस्था छल जाति निग्रहके द्वारा ही हो सकती है । प्रमाण और प्रमाणाभासोका रखना और उनमे दोष देना और इन दोषोका कोई परिहार न करे, कोई परिहार करदे, इन बातोसे जीतहारकी व्यवस्था नही है, किन्तु हेतुकी बातें भी हों, छलकी भी बातें हो, उसे कथनमें अनेक विकल्प उठाकर उससे उसके वचनोका विघात करदे ऐसे अनेक प्रकारके छल जाति निग्रहो द्वारा ही जीतहारकी व्यवस्था बनती है । प्रमाण और प्रमाणाभाससे युक्तियोंमे, जीतहारकी व्यवस्था नही बनती । उत्तरमे कहते हैं कि यह बात असगत है, क्योकि छल आदिक ये तो झूठे उत्तर हैं । कोई वस्तु स्वरूपके उस दोषको दूर करके सही वस्तु स्वरूप सामने रख दे यह सामर्थ्य छलमे नही है । यह तो केवल एक गुस्सामे आकर अनुचित प्रयोग करके दूसरेका मुख बन्द करना है । जैसे कि इन्द्रका आभियोग्य ऐरावत था उसे माना है कि इन्द्रका वाहन है और बडे विशालकायका है । एक लाख योजनका लम्बा चौडा है ऐसा हाथी मानने वालेके विरोधमें कोई प्रतिवादी पुरुष लोगोके यह शका डालने लगे कि अरे इतना बडा हाथी नगरमें कैसे समाता होगा और कभी वह हाथी विष्टा करदे तो उसके नीचे हजारो आदमी दब जायेंगे, इस तरहसे कुछ भी छल भरी बात बोलकर मुख बद करके बात कहे तो वह छल आदिक कहलाता है । उससे विद्वान लोगोको सन्तोष न होगा । जब कि वादी यह बात रख रहा है कि ऐरावत हाथी भी वैक्रियक शरीर का है, देव जातिका है और वैक्रियक शरीरमे यह सामर्थ्य है कि वह ठीक दिख जाय और किसी पदार्थसे छिडे नही, छिडने लायक शरीर बने तो छिड भी जाय । उसमे अनेक ऋद्धिया पायी जाती हैं । तो उसमें हेतुकी अनेक बातें यो ही ढूढ ढाढकर ला देना और वस्तु स्वरूपके नातेसे कोई समथ वचन न कह सकना, इससे जीतहारकी व्यवस्था नही बन सकती, क्योकि छल आदिकके प्रयोग तो मिथ्या उत्तर है और मिथ्या उत्तरमे यह बात न बन सकेगी कि अपने पक्षका तो साधन बना लेवे और दूसरे के पक्षमे दूषण दे सके ।

छलप्रयोगसे स्वपक्षसाधन व परपक्षदूषणका अभाव—स्वपक्ष साधन और परपक्ष दूषणकी बात छल आदिकके प्रयोगसे नही बनती किंतु युक्तिरक नियत्रण आदिकमे सम्बन्धित वचन हो, जिसको सुनकर विद्वान पुरुष भी अगीकार कर लें कि वास्तवमे तत्व इसी प्रकारका है, उससे ही जीत-हारकी व्यवस्था बनेगी । मगर छल जातिके प्रयोगसे न अपने पक्षकी सिद्धि हो सकती न दूसरेके पक्षमें दूषण दिया जा सकता , इसी कारण जीत-हारकी व्यवस्था उससे नही बन सकती और जो छल जाति आदिक तत्वका स्वरूप माना है वह लक्षण भी असगत है, अपने घर बैठे-बैठे जो चाहे अपनी बात रखना वह अयुक्त ही है । छल जाति वादी छलका सामान्य लक्षण इस प्रकारसे करते हैं कि अर्थमे तत्वमें विकल्प उठा-उठाकर दूसरेके वचनका विघात कर देना इसका नाम छल है । यह उस छलका लक्षण कहा-जा रहा है जो

वादविवादमें छलका प्रयोग करके दुनियाकी निगाहमें अपनी जीत जाहिर करने और दूसरेकी हार जाहिर करनेकी वाञ्छा लगी है। वे लोग छलका यह लक्षण मानते हैं कि जिस किसी भी प्रकार हो, दूसरेके वचनका घात कर देनेमें वचनका नाश कर देना इसका नाम है छल। यह छल तीन तरहका होता है—वचन छल, सामान्य छल और उपचार छल। ऐसा छल जातिवादी योगोंके सिद्धान्तमें कहा गया है।

उदाहरणसहित छलका सामान्य लक्षण—योगसिद्धान्ती वचन छलका लक्षण यह मानते हैं कि सामान्यरूपसे कोई बात कही जा रही हो और उसमें वक्ता का अभिप्राय कुछ और हो। लेकिन उससे भिन्न दूसरे अर्थकी कल्पना करके उसको सभामें उपस्थित करना। लोगोंको ऐसे कपट भरे वचनोंसे वक्ताके अभिप्रायको दूषित बताना ये सब बातें छल हैं। इनका यह उदाहरण है कि किसीने कहा कि यह वैधवेय सम्पन्न हो गया भी देखो यह नवकम्बल वाला आया हुआ है नवकम्बल बनकर आया हुआ है। कोई लड़का विधवाका हो और गरीब हो और कुछ दि॰ में जिसको कि पहिले ओढ़नेके लिए फटे कपड़े भी न मिलते थे वह बहुत बढ़िया कीमती नया कम्बल ओढ़ करके आया। अब यहाँ वक्ताका अभिप्राय तो यह है कि यह एक गरीब विधवाका लड़का है जो बड़ी गरीबीमें पला है और आज देखो यह नवीन कम्बल ओढ़कर आया है। याने यह अब सम्पन्न हो गया है। किसीने कहा तो यों और उसके कहनेपर प्रतिवादीने दूषण और मजाक उपस्थित कर दिया। लोगोंसे कहता है देखो भाई वह कितना सफेद झूठ कह रहा है। यह कह रहा है कि यह नवकम्बल वाला आया है। अर्थात् ९ कम्बल ओढ़कर आया है। देखो! कहाँ हैं ९ कम्बल इसके ऊपर, तो यह नवकम्बल शब्दसे नव शब्द एक ऐसा सामान्य है कि नवका अर्थ नया भी है और नवका अर्थ ९ भी है। वो नवका अर्थ नवीन कह रहा था उसका आशय था कि यह नवीन कम्बल ओढ़ करके आया है, लेकिन यह प्रतिवादी उसके शब्दका अर्थ दूसरा लगाकर जो कि सही नहीं है और न घटनामें वह बात है ऐसा अर्थ लगाकर वह बोलता है कि इसके पास कहाँ ९ कम्बल हैं। वादीका अभिप्राय जान रहा है प्रतिवादी और दार्शनिक लोग भी सही सही अभिप्राय जान रहे हैं। यह वक्ता कह रहा है कि इसका कम्बल नया है, फटा हुआ नहीं है, वक्ताका तो अभिप्राय यह है मगर इस अभिप्रायसे भिन्न दूसरा अर्थ जो सही नहीं है ऐसे अर्थकी कल्पना कर देना कि इसका अर्थ यह है कि इसके पास ९ कम्बल हैं, ८ नहीं हैं, कम नहीं हैं। तो इस तरह यह प्रतिवादी अन्यायसे बोल रहा है। युक्त वचन तो नहीं हैं। वाद विवादमें अभिप्राय निरखा जाता है। शब्दोंपर दृष्टि नहीं दी जाती। यदि वह न्यायका वाद विवाद है और कल्याणकी इच्छासे वाद विवाद है तो उसमे बोलने वालेका अभिप्राय देखा जाता है। यदि उसको अभिप्राय वस्तु स्वरूपसे विपरीत है तो प्रतिवादी बड़ी युक्तिसे दूषण बताकर उसको समझाना चाहता है कि यह है वस्तुका स्वरूप। इसके अनुसार हम अपना आशय बना लें। तो न्यायकी बात यह है कि सबका हित हो, वादीका भी

सदेह निकले और सत्य अर्थको यह समझ बनाये। तो यहाँ सब समझ लिया था कि इसका अर्थ नवीन कम्बल वाला कहा गया है, लेकिन वह एक प्रतिवादी जो छल ज ति के उपायसे ही जीत मानकर अपनेको धर्म समझ रहा है वह यहाँ दोष उपस्थित कर रहा कि देखो यह कह रहा है कि इसके ९ कम्बल हैं ८ नही हैं, लोग सब समझ गए कि यह प्रतिवादी अन्यायसे बोल रहा है। ता भले ही वह अपने मनमे समझे कि देखो मेरी कैसी जीत हुई है, लेकिन सब लोग यह समझ रहे हैं कि हार तो इसीकी हुई है जो किसी भी वचनका छल प्रयोग करके एक सही बातको थापना चाहता है, वचनका घात करना चाहता है।

समर्थ वचनसे ही तत्त्वनिर्णयका निर्णय - अब यहाँ शकाकार यह कह रहा है कि नही, जो विद्वान लोग हैं, जो गुरु शिष्य हैं, जिनमे समझने समझनेकी उत्सुकता है वे लोग तो तत्त्वकी परीक्षामें छलका प्रयोग नही करते। छलके द्वारा तत्त्वका न रखना, उनकी बात तो यह ठीक है लेकिन जहाँ दुनियामे जय पराजयकी ही बात साबित करना है वहाँ तत्त्व परिक्षाने काम न चलेगा। सभ्यतासे, केवल एक समर्थ वचन प्रयोगसे काम न चलेगा, छल जातिके माध्यमसे ही जीत हारका निर्णय किया जायगा इस प्रकार यौग सिद्धान्तवादी कहता है? उसके उत्तरमे कहा जा रहा है कि वे पुरुष तत्त्वके जानकार नही है, क्योकि यदि छल जाति कपट भरे वचनोको बोल-बोलकर ही छलवादी दूसरेका निग्रह करना चाहता है तब जो बडे समर्थ वचन बोलकर सम्यक अर्थ भी बताने वाला है ऐसे पुरुषका भी निग्रह कर दिया जाना चहिए, पर यह बात नही है। जिस पक्षमे वादी प्रतिवादीकी विसम्वादमे प्रवृत्ति होती है उसकी ही सिद्धि होनेसे एकको जीत है और दूसरेकी हार किन्तु अनेक अर्थ बोलकर अनिष्ट अर्थ लगा बैठनेमे जीत और हारका निर्णय नही होता। जीत हारका निर्णय तो तत्त्वकी सिद्धि कर सकने वाले वचनोके द्वारा ही हो सकता है।

वचन छलसे जयके निर्णयकी आशका व उसका समाधान - शकाकार कहता है कि वचन छलसे जीत होती है इसका कोई प्रमाणयुक्त वचन दे अथवा न दे इसमें जीत हारका निर्णय नही है, किन्तु वचननोसे छल करके अर्थका दूसरा अर्थ लगाकर पेश करनेसे जीत हुआ करती है। जैसे किसीने कहा कि यह पुरुष जो आया है वह नवकम्बल वाला है, तो कोई दूसरा याने प्रतिवादी बोल उठा कि यह कहाँ ९ कम्बल वाला है? इसके पास कहाँ हैं ९ कम्बल? तो वादी कहता है कि इस तरह मेरे वचनका दूषण देते हो, प्रतिवादी उनके वचनका विघात कर रहा था है और इस तरहसे उसकी हार और आपकी जीतकी घोषणा कर रहा था। अब वादी उन दोनो अर्थोंके समर्थनसे अथवा उन दोनो अर्थोंमेंसे एक किसी अर्थके समर्थनसे हेतुकी सिद्धि प्रदर्शित करता है। एक ही नया कम्बल, इसकी प्रतीति हुई है आपको, और वे ८ कम्बल घरपर रखे हैं। दोनो प्रकारसे नवकम्बलपनेकी सिद्धि होनेमें अविरुद्धता नही

कही जा सकती। जैसे सर्व प्रथम वादीने तो इस अभिप्रायसे कहा कि नया कम्बल है सो नवकम्बल वाला कहा तो प्रतिवादीने उसे समिन्दा करनेके लिए लोगोंसे कहा कि देखो भाई ! कहाँ हैं इसके पास ६ कम्बल ?। ८ भी नही हैं। अब वादी यह कहता है कि एक कम्बल तो यहाँ ओढ़कर आया है और ८ कम्बल इसके घरपर रखे हैं, इस प्रकार वादी दोनों प्रकारसे हेतुको सिद्ध करना चाहता है तो नव (नूतन) कम्बलके सम्बन्धको हेतु रूपसे ग्रहण करनेसे यह हेतु सिद्ध होता है, इस प्रकार अपने पक्षकी सिद्धि होने पर ही वादीका जय और दूसरेका पराजय होता है अन्यथा नहीं होता। इत्यादि छलसे कुछ निर्णय नही है अर्थात् वचन छल करके अपनी जीत साबित कर देना यह युक्त नही है। तो युक्ति पूर्वक वचन हों उससे ही जीत और हारकी दृष्टि बन सकती है। तो इस तरह छलके तो लक्षणोंमेंसे वचन छल नामके प्रथम लक्षणकी बात कही है।

सामान्य छलमे भी जय पराजय व्यवस्थानिबन्धनताका अभाव— अब सामान्य छलके सम्बधमें कहते हैं कि सामान्य छल भी जीत और पराजयका कारण नही है। सामान्य छलका लक्षण किया गया है कि जो सम्भव अर्थ है। जो अर्थ लगाया जा सकता है उसमें और सामान्यके योगसे उद्भूत अर्थकी कल्पनायें करना यह सामान्य छल कहलाता है। जैसे किसीने कहा कि विद्या और आचरणकी सम्पत्ति ब्राह्मण में ही सम्भव हो सकती है ऐसा कहनेपर अब प्रतिवादी इस वाक्यका ही विघात करता है। उस अर्थका विकल्प उठाकर उस वाक्यके दूसरे मायने लगाकर अथवा उस में ही भेद उठा करके असद्भूत अर्थकी कल्पना करताहै और कहता है कि यदि ब्राह्मण में ही विद्या और आचरणकी सम्पत्ति सम्भव होती है तो जो ब्राह्मण बहिष्कृत है व्रात्य है उस ब्राह्मणमें भी विद्या और आचरणकी सम्पत्ति मान लेना चाहिए, क्योंकि ब्राह्मणत्व वैसा ही व्रात्यमें भी है सो यहाँ भी सम्भव होना चाहिये। यह ब्राह्मणत्व अतिसामान्य है। और साध्य है विद्या आचरणकी सम्पत्ति वाला सो किसी ब्राह्मणमें तो विवक्षित अर्थ लगता है और जो व्रात्य ब्राह्मण है उसमें यह अर्थ नही लगता। लेकिन ब्राह्मणपना तो विद्या और आचरणके न होनेपर भी उसमें भी सम्भव है इस लिए यह अति सामान्य हो गया, इस कारण उसके योगसे वक्ताका जो अभिप्रेत अर्थ है, जो अर्थ उसने अपने आशयमें विचारा था वह तो सद्भूत था। उसका तो मतलब यह था कि जो ब्राह्मण उच्च कुलीन हैं उनमें विद्या और आचरण सम्पत्ति सम्भव होती है मगर इस बातको छोड़कर वह अन्य असद्भूत अर्थकी कल्पना करता है तो यह सामान्य छल हुआ। किसी वाक्यमेंसे किसी शब्दके दो अर्थ लगाकर और जो इष्ट अर्थ नही है उस प्रसिद्ध अनिष्ट अर्थको लगाकर मुह बन्द करना यह तो हुआ वचन छल और सारे वाक्यके ही अर्थको दूषित करना यह हुआ सामान्य छल। तो यह सामान्य छल अयुक्त है, क्योंकि हेतुमें दोष है। जो अनैकान्तिक आदिक कहे गए हैं वे दोष इस अनुमानमें दूसरेके द्वारा लगाये गए हैं। सो यहाँ हेत्वाभाससे दूषित किया

जाय तो यह ठीक है किन्तु सामान्य छलका प्रयोग अशोभनीय है।

सामान्य छलकी सोदाहरण अयुक्तताका कथन—जैसे अनुमान बनाया कि विद्या आचरणकी सम्पत्ति ब्राह्मणमे ही होती है। ब्राह्मण होनेसे तो यह हेतु अनैकान्तिक दोषसे दूषित है। ब्राह्मण तो यह भी है और ब्राह्मणत्व भी है। तो ब्राह्मणत्व दोनोके समान होनेपर भी विद्या और अचारणकी सम्पत्ति कुलीनमे पायी गई। तो यह हेतु अनैकान्तिक दोषसे दूषित है। अनैकान्तिकपना प्रकट करना सामान्य छल नही कहलाता। अनैकान्ति दोषका उद्भावन करना प्राज्ञसम्मत है, समान छल और बात है। यदि अनैकान्तिक दोषके उद्भावनको सामान्य छल कह दिया जाय तो अनेक अनुमानोंमें सामान्य छलका प्रसग हो जायगा जैसे कहा कि शब्द अनित्य है प्रमेय होने से घटकी तरह। तो इस अनुमानमें प्रमेयत्व हेतु अनैकान्तिक दोषसे दूषित है। प्रमेय शब्द भी है और प्रमेय आकाश भी है, लेकिन जो जो प्रमेय होता है वह वह अनित्य होता है यह व्याप्ति तो नही बनती। शब्द प्रमेय है और उसमें अनित्यत्वका प्रयोग ठीक है। मगर जितने भी पदार्थ प्रमेय हों, वे सब अनित्य हो, वह बात नही बन सकती, आदिक वाक्यमें भी सामान्य छलका प्रसग आ जायगा। यहाँ पर भी प्रमेयत्व किसी घट आदिकमे तो अनित्यपनेको सिद्ध करता है, पर आकाश आदिक चूँकि प्रमेय हैं और अनित्य नही मिल रहा है तो आकाशादिकमे अनित्व न होने पर भी प्रमेयत्वपना पाया जाता है इसी तरहसे आचरण विद्या सम्पत्ति न होनेपर भी ब्राह्मणपना पाया जा रहा है ब्राह्मणत्व जातिका यह हेतु अनैकान्तिक दोषसे दूषित हो गया। तो अति सामान्य योगमें भी अनैकातिकपना होनेसे यह अनुमान दूषित हुआ है। तो सामान्य छल करके जीतकी व्यवस्था नही बनी किन्तु हेतुमे दोष देकर ही यह व्यवस्था बनी, तो जहाँ हेतु निर्दोष हो उससे तो अनुमानकी सिद्धि होती है, और जो हेतु निर्दोष नही उनसे शुद्ध अनुमानकी सिद्धि नही होती। सब सामान्य छल जीत और हारके लिए प्रयुक्त नही हो सकता।

उपचार छलमे भी जयपराजयव्यवस्थानिबन्धताका अभाव—उपचार छल भी जीत हारकी व्यवस्थाका कारणभूत नही बनता। उपचार छलका लक्षण है कि धर्म विकल्पका निर्देश करनेपर अर्थके सद्भावका निषेध करना सो उपचार छल है, ऐसा यौगोके न्याय सूत्रमें कहा गया है। जैसे—धर्मके क्रोशनादि विकल्प उपचार करके उसका निर्देष करना किसीने कहा कि यह मच चिल्लाता है या गाता है। जैसे कही नाटक हो रहा है तो उस नाटकमें कोई पात्र ही तो गाता है, पात्र ही रोता है, सब कुछ करता है। यदि नाटक खेलते न बना तो लोग कहते हैं कि क्या रखा है वहाँ? वहाँ का तो मच कोसता है। अथवा नाटक खेलते अच्छा बन गया तो कहते हैं लोग कि वाह! कितना अच्छा मच था। मचने कितना सुन्दर नाटक गाया? ऐसा कहनेपर उसमें जो मच शब्दका प्रयोग किया गया है वह प्रयोग करने वाले वादीने

तो उपचारसे किया है। क्या बोलने वाला यह खुद नहीं जानता है कि यह मंच, ये तखत आदिक नहीं कोसते हैं, किन्तु उन मचोंपर आकर अच्छा अभ्यास करने वाले बालक यही गाते हैं यही कोसते हैं, लेकिन उपचारसे ऐसा कहा जाता है। तो वहां कोई यह कहे कि देखिये इनकी बुद्धि ये कहते हैं कि मंच कोसता है। मंच गाता है, अरे ये तखत, मच आदिक गा सकते हैं क्या ? मचपर उपस्थित हुए पुरुष ही बोलते हैं और गाते हैं। इस तरह कहकर उसका मुख बद करना और उसका पराजय बताना, अपनी जीतकी घोषणा करना यह सब क्या है ? यह सब है एक उपचार छल। तो शकाकारका यह अभिप्राय है कि जीत छलसे होती है। युक्तिसगत बात, प्रमाणसिद्ध बात करनेका कोई महत्व नही है जब कि विजगीषाका प्रसग हो जहाँ जीतहारका प्रसंग हो वहां तो छलसे काम लिया जायगा और छल ही धर्म है लेकिन जैन सिद्धान्त कहता है कि समर्थ वचन बोलनसे जिसके वचनमे दोष आये वह दूषित हो गया, उसकी हार हो गयी और समर्थ वचन बोलनेसे जिसका साधन पुष्ट हो, गया उसकी जीत हो गयी। तो यो सामान्य छलसे जैसे जीतहारका कारण न बने, वचन छल इसी प्रकारसे यह उपचार छल भी जीतहारका कारण नही बनता। यद्यपि छल प्रयोग दूसरेकी हारके लिये बना शकाकारके मनसे, क्योंकि जो वक्ताका अभिप्राय है उसका निषेध कर दिया ? लेकिन यह विद्वानोकी दृष्टिमें जीतका कारण नही बन सकता। विद्वानोंका तो एक ही निर्णय है कि वक्ताके अभिप्रायको पहिले देखो उसका उल्लघन न करे फिर दोष देवो। फिर जो उसमें दोष आये तब तो वक्ताकी हार है लेकिन अभिप्राय वक्ताका कुछ और है और उसको बदलकर वह अभिप्राय दूसरा जमा दे तो यों दोष देनेकी बातसे कोई उसकी जीत न मान लेगा ?

गौण अर्थको प्रधान करके बनाये गए उपचार छलसे जातिवादीका निग्रह—जैसे जब कोई सिरपर टोकरी रखे हुए केला लादे हुए बेचनके लिए जा रहा है और वह कहता है केला लो केला ! तो जिसे केला चाहिये वह यों बोलते है कि ऐ केला यहां आवो। और, उस कहने वालेको कोई टोंकदे कि अरे भाई तुम केलाको कैसे बुला रहे ? केला यहां आ ही कैसे सकता है ? तो उसकी यह त छलभरी बात है। कौन नहीं जानता कि ऐ केला" कहनेसे उसका अर्थ क्या है ऐ केला लावो —यह कहना उपचार कथन है ? उस उपचारकी बातका सन्देह करे कि केला यहाँ कहां आयगा ? केला वाला आयगा। इस प्रकार अभिप्राय लेके उसके वचनको अभिप्रायमें घटित करता है तो यह उसका छल है। छलसे जीत बनेगी। जीत बनती है युक्तिसगत वचन बोलनेसे, हेतु कहनेसे। शब्दका प्रयोग लो में दो तरहसे किया जाता है प्रधानरूपसे और गौणरूपसे। तो जिसने केला कहक बुलाया उसे प्रधानरूपसे नहीं कहा, गौणरूपसे कहा। उस केला वालेको केला उपचार करके कहा लेकिन कोई पुरुष गौण अर्थको तो छुपा दे और प्रधान लगा बैठे तो यह उसका छल है। कोई वचन प्रयोग प्रधानरूपसे किया जाता है, अ

कोई प्रतिवादी प्रधान अर्थको तो छुपा दे और गौण अर्थको आगे रख दे तो यह भी उसके लिए छल है, गौणार्थाभिमुखका उस समय उसमें कोई दूषण दे तो वह कहलाता है छल। इस प्रकार कोई पुरुष प्रधानभूत वचन कहता है तो उस समय उसके प्रधान भावका तो छुपा दे और गौण भावका वर्णन करे तो यह उसका छल कहलाता है। जिस समय वक्ताने गौण अर्थका अभिप्रायमें लिया, जैसे कि कहा कि मच गाता। तो यह गौणरूपसे कह रहा है उपचारसे कह रहा है। उस अर्थको तो फेंक दिया गुप्त और कह बैठे वाह! मच कहीं गा रहा है, तो यह है उसका एक छल। तो यो गौण अर्थको प्रधानभूत अर्थ मानकर वचनका माध्यमका निषेध करता है तो उस समय प्रतिवादीने अपनी बुद्धि प्रतिषिद्ध की अपनेको निर्बुद्धि प्रसिद्ध किया दूसरे का अभिप्राय निषिद्ध नहीं हुआ ऐ केला मात्रो ऐसा कहनेपर जानते हैं कि इसका अभिप्राय क्या है? तो लोगोंको उसका दोष देकर उसका स्मि दा करे या उसकी हार दिखावे तो यह बात न बन सकेगी। जीत उसकी होगी जिसके वचन प्रमाणसिद्ध है। जो जिसके प्रमाणमे दब जाता है हार उसकी है। तो इससे जीत और हारके निर्णयके लिये वाकाकार जो छल जाति निग्रह व वितण्डा प्रयोग करके और उसे तत्त्व संज्ञा देकरके जीत हारकी व्यवस्था बनाता है यह उसकी कुबुद्धि है।

छलमात्रसे जय मानने वाले दार्शनिकके अनिष्ट प्रसंगका कथन—दार्शनिक लोग आत्महित के लिए तत्त्वकी संख्या बनाते हैं। जैसे जैनसिद्धान्तमे तत्त्व ७ माने हैं जीव अजीव, आश्रव, बंध संवर निर्जरा और मोक्ष। किन्तु यौगके यहाँ १६ तत्त्व माने जा रहे हैं जिसमे छल जाति निग्रह तत्त्व भी कहा गया है। तत्त्व कहीं कुतत्त्वको भी कहते हैं क्या? आत्महितके लिए जो उपयुक्त हों उनको ही तत्त्व कहा जाता है। तो इस प्रकार जो वाकाकार इन छलोंके द्वारा जय-विजयकी व्यवस्था बनाना चाहता है उसकी यह केवल एक अनुदारतापूर्ण कल्पना है। यह दूषण प्रेक्षावानोंमे नहीं लग सकता है। और, जब बुद्धिमानोंमे छलोंका दोष न पाया तो वे यथार्थ समझते हैं। जिसके युक्तिसंगत वचन हैं उसकी जीत है और जिसके युक्तिविरुद्ध वचन हैं उसकी पराजय हुई है, क्योंकि यदि छल जाति निग्रह स्थानोंका ही प्रयोग कर-करके कोई जीत-हारकी व्यवस्था बनावे अथवा गौण अर्थ जिस वक्ताके अभिप्रायमें है उसका निषेध करके मुख्य अपनी बात रखे और दूषण दे या मुख्य अर्थका निषेध करके गौण अपनी बात रखकर दूषण दे, यदि इतने मात्रसे दूसरेका निग्रह होता है, पराजय होती है, तो भला यह यौग जय सर्वशून्य वादियोंके प्रति मुख्य रूपसे प्रमाण आदिकके प्रतिषेधको करके निग्रह करता है उनकी हार बनाता है तो शून्यवादकी यह बात भी तो संव्यवहारसे, प्रमाण आदिकमे तो इसे मान लिया ना, फिर इतने मात्रसे प्रतिवादीकी पराजय मान ली गई है सो अपने पक्षकी सिद्धिसे ही दूसरेको पराजय होती है, यह बात फिर लुप्त हो जायगी। वास्तविकता यह है कि अपने पक्षकी सिद्धिसे ही स्वसिद्धान्तकी जीत है और परकी पराजय है। वहाँ तक

छल प्रयोगके सम्बन्धमें वर्णन किया और यहाँ सिद्ध किया गया कि अपने पक्षकी सिद्धिसे ही जीतकी व्यवस्था है और दूसरेके पक्षमें दोष देनेसे पराजयकी व्यवस्था है। छल मात्रसे जय और पराजयकी व्यवस्था नहीं बनती।

जातिमात्रसे जय-पराजय व्यवस्थाके अभावका प्रतिपादन—जिस प्रकार छल मात्रसे जय-पराजयकी व्यवस्था नहीं है उसी प्रकार जाति मात्रसे भी जय पराजयकी व्यवस्था नहीं होती। जातिका सामान्य लक्षण कहा गया है कि साधर्म्य और वैधर्म्यसे दूषण देनेको जाति कहते हैं। याने सदृशता और विसदृशता प्रदर्शित करके वादीके कहे हुए वचनमे दूषण देनेको जाति कहते हैं। यह जातिका सामान्य लक्षण है। जातिके भेद अनेक होते हैं, उन सब भेदोंमें यह लक्षण पहुंच गया इसीलिए इसे सामान्य लक्षण कहा है। जाति अनेक होती हैं और जातिकी अनेकता भी सदृशता और विसदृशताके दिखानेके दूषणके भेदसे होती है। इसीको योग सिद्धान्तमें न्याय भास्करने कहा कि साधर्म्यसे दूषणमें अनेक विकल्प बनते हैं। उन विकल्पोंके भेदसे जातिमें अनेकता बनती है और वे सब जातियाँ विधिके प्रयोगपर जिसमें साध्य विधिरूप हो उस हेतुके प्रयुक्त करते समय २४ प्रतिषेध हेतु वाली जातियाँ होती हैं वे २४ प्रकारकी हैं साधर्म्यसमा, वैधर्म्यसमा, उत्कर्षसमा, अपकर्षसमा वर्ण्यसमा, अवर्ण्यसमा, विकल्पसमा, साध्यसमा प्राप्तिसमा, अप्राप्तिसमा, प्रसंगसमा, प्रतिदृष्टान्तसमा, अनुपपत्तिसमा, संशयसमा, प्रकरणसमा, अहेतुसमा, अर्थापत्तिसमा अविशेषसमा उपपत्तिसमा उपलब्धिसमा, अनुपलब्धिसमा, नित्यसमा, अनित्यसमा कार्यसमा।

साधर्म्यसमा जातिका परिचय—उक्त २४ प्रकारके प्रतिषेध हेतुक जातियों मेंजो प्रथम साधर्म्यसमा जाति है उसके सम्बन्धमें योगसिद्धान्तमे न्याय भास्करने इस प्रकार कहा है कि सदृशतामे साध्यका उपसंहार किया जानेपर साध्यधर्मसे विपरीत की उपपत्तिसे साधर्म्यके माध्यमसे प्रतिवाद के द्वारा दूषण देना यह साधर्म्यसम प्रतिषेध कहलाता है। इसका उदाहरण है कि जैसे किसीने प्रयोग किया कि आत्मा क्रियावान है, क्योंकि क्रियाके हेतुभूत गुणका आश्रय होनेसे। यहाँ क्रियाका हेतुभूत गुण है प्रयत्न और प्रयत्नका आश्रयभूत है आत्मा। इस कारणसे आत्मा क्रियावान है। जो जो क्रियाके हेतु गुणोंका आश्रय रहता है वह वह सब क्रियावान हैं। जैसे लोढा पत्थर आदिक। छोटे छोटे कंकड ये क्रियाके हेतुभूत गुणके आश्रय वाले हैं। तो ये क्रियावान हुए ना। इसी प्रकार आत्मा भी क्रियाके हेतुभूत प्रयत्न नामक गुणका आश्रय है इस कारण आत्मा भी क्रियावान है। इस तरह साध्यका अन्वय दिखाकर इस साधर्म्यके उदाहरण द्वारा साध्यका उपसंहार किया गया तो उस समय प्रतिवादी साध्यधर्मके विपरीत बातकी उपपत्ति दिखाकर साध्यके उदाहरणसे ही वादीके वचनको दूषित करता है वह किस प्रकार? प्रतिवादी उस समय प्रयोग करता है कि आत्मा निष्क्रिय है क्योंकि विभुद्रव्य होनेसे। जो जो विभु

द्रव्य होता है अर्थात् सर्वव्यापक द्रव्य होता है वह वह निष्क्रिय होता है। जैसे आकाश आकाश सर्वव्यापक है अतएव वह भी निष्क्रिय है। इस प्रकार साधर्म्यके रूपसे अन्य अनुमान बनाकर साधर्म्यका उदाहरण ही देकर वादीके वचनका खण्डन किया गया है, तो यहाँ साधर्म्यसम जातिके प्रयोगसे वादीको हरानेका प्रयत्न किया गया है। तो यौग सिद्धान्तका कहना है कि वादविवादमे साधर्म्यसमा जातिका प्रयोग करके वादीको हराया जा सकता है और इस तरह अपनी जीत और दूसरेकी हार करनेका कारण यह जाति है। कोई कहे कि क्रियावानकी सदृशता होनेसे क्रियावान तो होता रहे और निष्क्रियावानकी सदृशता होनेसे निष्क्रिय न हो तो ऐसा कहनेपर कहते हैं कि उसमें और इस उदाहरणमे कोई विशेष अन्तर नही है। क्रियावानकी सदृशतासे क्रियावान तो हो जाय और निष्क्रियताकी सदृशतासे निष्क्रिय न हो ऐसी कोई वात नही है। जैसे कि वादीने आत्माको क्रियावान सिद्ध करनेके लिए हेतु दिया था और उसका सपक्ष साधर्म्यका उदाहरण दिया था उसके विरोधमे प्रतिवादीने जो अनुमान बनाया था वह निष्क्रिय सिद्ध करनेके लिए इसी प्रकारका विधिरूप साध्यका अनुमान बनाया है। तो देखिये जैसे वादीने साधर्म्यका उदाहरण देकर आत्माको क्रियावान सिद्ध करनेके लिए अनुमान किया है तो उसका ही प्रतिषेध करनेके लिए अनुमान किया है तो उसका ही प्रतिषेध करनेके लिए प्रतिवादीने साधर्म्यका उदाहरण देने वाले हेतुसे अनुमानसे आत्माको निष्क्रिय सिद्ध किया है। अब यहा वादी यह तो कह नही सकेगा कि क्रियावानकी सदृशतासे आत्मा क्रियावान तो बन जायगा, पर निष्क्रियताकी सदृशतासे आत्मा निष्क्रिय न बन सकेगा। यह बात क्यो नहीं कही जा सकती है? क्योकि दोनो अनुमानोमे साधर्म्यकी समानता है। तो यो वादीके अनुमानमे साधर्म्य सम दूषणाभास लगाया गया। आत्माको क्रियावान साध्य करनेपर क्रियाके हेतुभूत गुणोकी आश्रयता रूप हेतुकी अपने साध्यके साथ व्याप्ति विभु होनेके कारण निष्क्रियताकी सिद्धि होनेमे निराकृत नही हो पाती है और न यह भी बात हो सकती है कि कोई कहे कि व्याप्तिका विच्छेद मत हो और व्याप्तिमे दूषण लग जाय तो यह भी बात सम्भव नही क्योकि साध्य और साधनकी व्याप्तिका निराकरण करनेमे समर्थका ही दोषरूपसे निराकरण किया गया है यहाँपर आत्माको क्रियावान सिद्ध करनेके लिये जो हेतु दिया था। अनुमान साधा गया था तो उसको प्रतिवादीने दोदापट्टी करके भले ही साधर्म्यसम दूषण बना दिया हो तो इतने मात्रसे वादीकी हार हो जाय और इस जातिके प्रयोगसे प्रतिवादीकी जीत हो जाय ऐसी बात नही है। यदि व्याप्तिको निराकृत करनेके लिए समर्थ कोई वचन हो तो प्रतिवादीको जो इष्ट है उस जीतहार की व्यवस्था बन सकती है यो जातिका प्रयोग करके दूसरेका पराजय करा देना यह बात बुद्धिमानोकी गोष्ठीमे सम्भव नही है। तो साधर्म्यसमा जातिके द्वारा भी जय और पराजयकी व्यवस्था नही बन सकती।

साधर्म्यसमा जातिका और भी विशिष्ट परिचय—शकाकार साधर्म्य-

समा जातिसे जीत–हारकी व्यवस्था बना रहा है। दाकाकारके सिद्धान्तमें वार्तिककार तो यह कहता है कि सदृशतासे साध्यका उपसंहार करनेपर सदृशतासे विपरीतकी सदृशतासे उदाहरण देकर दूषण देना और वैधर्म्यसे साध्यका उपसंहार करनेपर उस वैधर्म्यकी सदृशतासे दूषण देना इसका नाम साधर्म्यसमा है अर्थात् जब कोई एक अन्वय व्याप्ति वाला, विधिसाध्य वाला साधर्म्य सदृशता दिखाकर साध्यका उपसंहार करे तो उसके प्रति यदि कोई उस साधर्म्यसे विपरीत अन्य साधर्म्य दिखाकर दूषण दे तो साधर्म्यसमा है अथवा किसीने विसदृशतासे साध्यका उपसंहार किया तो विसदृशताके ही उल्टे उदाहरण देकर साधर्म्यरूपसे दूषण देना इसको साधर्म्यसमा कहते हैं। जैसे वादीने कहा कि शब्द अनित्य है, उत्पत्तित्व धर्मवाला होनेसे घट पट आदिककी तरह। ऐसा वादीके द्वारा कहे जानेपर दूसरा जातिवादी प्रतिकूल होकर वचनको परिवर्तित कर देता है—कहता है, दूषित करता है कि यदि अनित्य घटकी सदृशतासे यह शब्द अनित्य है तो नित्य भी आकाशके साथ इसकी अमूर्तत्व हेतुसे सदृशता बनती है, तो शब्द नित्य द्रव्य भी सिद्ध होता है। यहाँ वादीने कहा था कि शब्द अनित्य है उत्पत्ति धर्मवाला होनेसे। जो अनित्य नहीं होता है वह उत्पत्ति धर्मवाला नहीं होता है, जैसे कि आकाश। ऐसा वादीने कहा तो प्रतिवादी, जातिवादी उसे दूषित करता है कि यदि नित्य आकाशकी विसदृशतासे शब्द अनित्य है तो इसका साधर्म्य भी आकाशके साथ अमूर्तपनेका है। इस कारण यह नित्य प्राप्त हो जायगा। यदि कहो कि आकाश के साथ शब्दका साधर्म्य पाया जाता है तो भी नित्य नहीं होता है। तो फिर यह न कहना चाहिये कि अनित्य घटकी सदृशतासे और नित्य आकाशकी विसदृशतासे शब्द अनित्य होता है। यहाँ वादीने किसीसे यह कहा कि शब्द अनित्य होता है उत्पत्ति धर्म वाला होनेसे जैसे कि घट और साथ ही यह यह भी कह रहा है कि आकाश जैसे कि अनित्य भी नहीं है, उत्पत्ति धर्म वाला नहीं है, तो जो अनित्य नहीं होता वह उत्पत्ति धर्म वाला नहीं होता, जैसे कि आकाश। सो यों कहनेपर, आकाशकी विसदृशता बताने पर फिर तो जैसे आकाश अमूर्त है ना तो शब्द भी अमूर्त माना जाता सो आकाशकी तरह शब्द नित्य बन पडेगा, लेकिन अब जब आकाशसे विसदृश है ऐसी बात कहकर शब्दको तो अनित्य कहा और उसे ही अमूर्त बताये शंकाकार अथवा आकाशका गुण शब्द मानने वाले शब्दको अमूर्त बताते ही हैं तब फिर उन्हींके ही कथनसे साधर्म्यसमा जातिके द्वारा दूषण आ गया। अतः ऐसी साधर्म्यसमा जाति कहकर जातिवादीकी जीत बनती है और वादीकी हार बनती है। ऐसा वह कहता है लेकिन साधर्म्यसमा जातिसे कहनेपर फिर तो आकाशके विरुद्ध जैसे शब्द अनित्य है तो आकाशके विरुद्ध शब्दको अमूर्त न रहना चाहिये, मूर्त हो जाना चाहिए। किन्तु आकाश गुणवादी ऐसा मानता नहीं। अतः साधर्म्यसमा जाति जय और पराजयकी व्यवस्थाका कारण नहीं है।

वैधर्म्यसमा जातिका परिचय—वैधर्म्यसमा जातिकी बात सुनो वैधर्म्यसमा जातिमें क्या होता है कि वैधर्म्यसे, विसदृशतासे साध्यका उपसंहार करनेपर साध्य धर्म

की विपरीततासे वैधर्म्यके द्वारा अथवा साधर्म्यके द्वारा दूषण दिया जाता है। जैसे कि आत्मा निष्क्रिय होता है वह व्यापक नहीं होता जैसे लोष्ठ आदिक। और, आत्मा है विभु, इस कारण निष्क्रिय है ऐसा वादीने कहा तो दूसरा प्रतिवादी अथवा जातिवादी बोलता है कि आत्माके निष्क्रिय होनेपर फिर क्रिया हेतुरूप जो गुण प्रयत्न है, उसका आश्रयपना न हो सकेगा आकाशकी तरह, और प्रयत्न गुणका आश्रय है आत्मा। जो लोग आत्माको विभु निष्क्रिय मानते ऐसे वैशेषिक सिद्धान्तवादी भी आत्माको प्रयत्न गुणका आधार मानते हैं। तो यदि आत्मा निष्क्रिय है व्यापक होनेसे, तो फिर आत्मा में प्रयत्न नहीं आ सकता है और प्रयत्न आत्मामे माना गया है इस कारण यह निष्क्रिय नहीं है यह तो हुआ वैधर्म्यसे दूषण देना अब साधर्म्यसे दूषण देना सुनिये। वह यों है कि आत्मा क्रियावान ही होता है, क्योंकि क्रियाके हेतुभूत प्रयत्न गुणका आश्रय होनेसे जो जो क्रियावान होता है वह क्रियाके हेतुभूत प्रयत्न गुणका आश्रय होता है। जैसे लोष्ठ आदिक। और, आत्मा भी क्रियावान है। क्रिया हेतुका गुणका आश्रयभूत है इस कारण क्रियावान ही है यों वैधर्म्यसम जातिके द्वारा वादीकी हार की गई है, ऐसा यह मानता है जातिवादी, लेकिन यह बात युक्त नहीं घटित होती। कारण यह है कि यदि कोई अनुमान गलत होता है तो हेत्वाभास आदिक कोई बात घटित होती है तब अनुमान गलत होता है। उसके लिए वैधर्म्यसमा जाति नामकी कोई जाति कल्पित की जाय और उससे दूषितकी जाय सो बात नहीं बनती। वादीने जो आत्माको निष्क्रिय सिद्ध करनेके लिए विभु हेतु बताया था सो आत्मामे विभुपना है ही नहीं। तब यह असिद्ध हेत्वाभास हो गया और क्रिया हेतु गुणाश्रयताके कारण क्रियाश्रय होनेसे अनुमान बाधित हो गया। उसीके बलपर यह साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा जाति लगाई जा रही है तो मूल दूषण तो हेत्वाभासका है। अत हेत्वाभाससे ही अनुमान दूषित हो गया। वैधर्म्यसमा जातिकी कल्पना करनेकी आवश्यकता नहीं है।

उत्कर्षसमा जातिका परिचय—उत्कर्षसमाका लक्षण सामान्यरूपसे न्याय-सूत्रमें यों कहा है कि साध्य और दृष्टान्तमें धर्मके भेदसे धर्मके समारोपसे और दोनो ही साध्य होनेसे उत्कर्षसमा अपकर्षसमा वर्ण्यसमा अवर्ण्य विकल्पसमा व साध्य-समा जाति हुआ करती हैं। यानें इन जातियोंके बननेमे मूल कारण यह है कि साध्य और दृष्टान्तमे धर्मका समारोप किया गया है और दोनो प्रकारसे साध्य बनाए गए हैं उनसे फिर ये उत्कर्षसमा आदि जातियों बनती हैं। इनमेसे उत्कर्षसमा जातिका लक्षण देखिये। साध्यमे दृष्टान्त धर्मका समारोप करने वालेसे जिस कारणसे समा-रोप किया जा रहा है वह उत्कर्ष समा जाति है। जैसे किसीने अनुमान बनाया कि आत्मा क्रियावान है क्रियाके हेतुभूत प्रयत्नका आश्रय होनेसे लोष्ठकी तरह। ऐसा कहनेपर प्रतिवादी दूषण देता है कि क्रियाका हेतुभूत प्रयत्न गुणका आश्रय होनेसे लोष्ठकी तरह आत्माको क्रियावान यदि सिद्ध किया जा रहा है तो लोष्ठकी तरह आत्माको स्पर्शवान भी हो जाना चाहिए। यह उत्कर्षसमा जातिमें वादीको दूषण

दिया जा रहा है। जैसे कि वादीने कहा कि आत्मा क्रियावान् है, क्योंकि क्रियाका हेतुभूत प्रयत्न नामका गुण आत्मामें है। जब कि आत्मामें प्रयत्न गुण है तो उस प्रयत्न गुणका काम होगा क्या ? क्रिया होगी। क्रिया प्रयत्न साध्य होती है। यों आत्मा क्रियावान बन गया तो वहाँ प्रतिवादी दूषण देते हैं कि यदि क्रियाके हेतुभूत गुणका आश्रय जीव है, लोष्ठकी तरह और इसी कारण क्रियावान है। तो जैसे लोष्ठका उदाहरण देकर आत्माको क्रियावान सिद्ध किया है तो ऐसे ही, लोष्ठका उदाहरण लेकर आत्माको स्पर्शवान भी हो जाना चाहिये। देखिये जैसे लोष्ठ क्रियावान भी है, स्पर्शवान भी है, तो लोष्ठका उदाहरण जिसके लिये दिया जा रहा है वह आत्मा क्रियावान भी हो और स्पर्शवान भी बन जाय। यदि स्पर्शवान नहीं माना जाता है तो आत्माको क्रियावान भी न माना जाना चाहिए क्योंकि लोष्ठके दृष्टान्त की अविशेषता है। क्रियाके हेतुभूत प्रयत्न गुणके आश्रयत्व नामक हेतुकी समानता है। लोष्ठ भी प्रयत्न गुणका आश्रय है, आत्मा भी प्रयत्न गुणका आश्रय है तो लोष्ठकी तरह जैसे आत्मा क्रियावान बना तो फिर लोष्ठकी तरह आत्मा स्पर्शवान भी हो जाय, वहाँ भी यह कहा जा सकता कि आत्मा स्पर्शवान है, क्योंकि क्रियाके हेतुभूत प्रयत्न गुणका आश्रय होनेसे। तो हम उत्कर्षसमा जातिमें, साध्यमें दृष्टान्त धर्मका समारोप करके उसके अतिरिक्त और कुछ भी सिद्ध किया जा रहा है, तो उसे उत्कर्षसमा जाति कहते हैं। तो यहाँ लोष्ठके उदाहरणसे जैसे आत्माको क्रियावान सिद्ध किया जा रहा है इसी तरह लोष्ठकी तरह आत्मा स्पर्शवान भी बन जाय और यदि स्पर्शवान न माने आत्माको तो आत्माको क्रियावान भी न मानना, क्योंकि हेतु तो दोनो जगह समान घट जाता है।

अपकर्षसमा जातिका परिचय—अब अपकर्षसमा जातिके सम्बन्धमें सुनिये उत्कर्षसमा जातिका सिलसिला रखकर जो लोग उस पक्षमें ही क्रियावान जीवके साधनका प्रयोग करनेपर साध्यमें साध्यविशिष्ट धर्मोंमें धर्मके अभावको दृष्टान्तमें आरोपित करते हुए बोलता है तो वह अपकर्षसमा जातिको बताता है। जैसे यह कहा गया कि जैसे लोष्ठ क्रियाको आश्रयभूत है और अव्यापक देखा गया है, तो उसीकी तरह आत्मा असर्वगत भी बन जाय। विपर्ययोंमें अर्थात् सर्वगतपनेमें वादीके द्वारा विशेष ही वाच्य होना चाहिए। तो यह उपकर्षसमा जाति भी अपकर्षसमा जातिके कारण वादीके वचनको दूषित नहीं करती, किन्तु हेतुमें ही कोई कमी रह जाती है उस हेत्वाभासके कारण अनुमान दूषित होता है।

वर्ण्यसमा व अवर्ण्यसमा जातिका वर्णन—अब परखिये वर्ण्यसमा और अवर्ण्यसमा नामकी जाति। वर्ण्यसमा पृथक् है, अवर्ण्य समाजाति पृथक् है। वर्ण्य कहते हैं प्रसिद्ध करने योग्यको और अवर्ण्य कहते हैं प्रसिद्ध न करने योग्यको। तो वर्ण्यके साथ जो समान हो उसे कहते हैं वर्ण्यसमा जाति और जो अवर्ण्यके साथ समा हो उसे कहते

है अवर्ण्यसमा जाति, जैसे कि इसी साधनके कहे जानेपर कि आत्मा क्रियावान है, क्रिया के हेतुभूत प्रयत्न गुणका आश्रय होनेसे, तो इस साधनके जानेपर दूसरा प्रतिवादी अथवा जातिवादी उसे दूषित करता है कि यदि आत्मा क्रियावान वर्ण्य है, साध्य किया गया तो लोष्ठ आदिक भी साध्य हो जायें, पक्ष हो जाय। यदि लोष्ठ आदिक अवर्ण्य स्थापनीय नहीं हो रहे तो आत्मा भी अवर्ण्य हो जाय। प्रसगमे साध्य न बनेगा क्योंकि हेतुकी तो दोनो जगह समानता है। यह वर्ण्यसमा और अवर्ण्यसमा जातिसे सम्बन्ध वक्तव्य चल रहा है, किसी भी प्रतिज्ञाको सिद्ध करनेके लिए जो हेतु दिया गया है और उसका जो दृष्टान्त दिया गया है तो उसमे यह जातिवादी यह विकल्प करता है कि वह प्रतिज्ञा वर्ण्य है या अवर्ण्य, मायने प्रसिद्ध करने योग्य है या प्रसिद्ध न करने योग्य है? लोगोको जताये जानेके लिए है, या छुपानेके लिऐ है ? यदि कहो कि लोगोको जतानेके लिए है तब फिर दृष्टान्त भी जतानेके लिए हो जाय, क्योंकि हेतु जैसे पक्षमे पाया जा रहा है ऐसे ही दृष्टान्तमे भी पाया जा रहा है। तो पक्षकी तरह फिर दृष्टान्त बन गया। जैसे पक्षको, प्रतिज्ञाको आगे आगे रखते हो वहाँ साध्य को सभामे सिद्ध करते हो इसी तरह मूल बात, आगे रखनेकी बात, सभामे जाहिर करनेकी बात दृष्टान्त भी बना दो और यदि कहो कि साध्य अवर्ण्य है तो दृष्टान्त अवर्ण्य है, प्रसिद्ध करने योग्य नही है, दुनियाको सही जताने योग्य नही है। यदि पक्ष वर्ण्य है तो दृष्टान्त भी वर्ण्य होना चाहिये। इस तरह वर्ण्य समाजाति और अवर्ण्य समाजाति मे साध्यकी सिद्धि न हो पायगी।

वर्ण्यसमा और अवर्ण्यसमाजातिकी दूषणाभासता—उक्त प्रकार वर्ण्यसमा और अवर्ण्यसमा जातिका वर्णन करते हैं लेकिन अनुमान इस जातिके कारण दूषित हो गया सो बात नही किन्तु हेतुमे ही किसी प्रकारका दूषण है सो उस हेत्वाभासके कारण अनुमान दूषित होगा। वहाँ जातिके माननेकी जरूरत नही है और इस तरह वर्ण्यसमा और अवर्ण्यसमा बताकर यदि किसी साध्यका, पक्षका अनुमानका खण्डन कर रहे हो तो कोई भी अनुमान बन नहीं सकता, क्योंकि जो भी अनुमान बनेगा उसका कोई दृष्टान्त होगा। तो वहाँ भी यह प्रश्न किया जा सकेगा कि बतलावो प्रतिज्ञा वर्ण्य है या अवर्ण्य दुनियामें प्रसिद्ध करने योग्य है या गोपनीय है। यदि प्रसिद्ध करने योग्य है तो फिर साध्यकी तरह, उस पक्षकी तरह इस दृष्टान्त को भी उसी दर्जेमे प्रसिद्ध करने योग्य करियेगा। दृष्टान्तको जरा सा कहकर फिर उसकी उपेक्षा करके आगे मत बढिये। जैसे प्रतिज्ञाको मुख्य बताया है, सिद्ध करने योग्य बताया है तो इसी प्रकार इस दृष्टान्तको भी सिद्ध करने योग्य कर लीजिए। स्थापनीय बना लीजिए। और यदि दृष्टान्त अवर्णनीय है, प्रसिद्ध करने योग्य नही है तब साध्यको भी अवर्ण्य कर लीजिए इसे भी प्रसिद्ध मत करिये, इसे भी लोगोंको न जनाइये। तो इस तरह वर्ण्यसमा और अवर्ण्यसमा जातिके द्वारा किसीके खण्डन करने पर फिर तो कोई भी अनुमान न बन सकेगा। तो वर्ण्यसमा और अवर्ण्यसमा जातिके

द्वारा अनुमानका निराकरण न हुआ, किन्तु वादीने जो अनुमान कहा है उसमें हेत्वाभास निरखिये पक्षाभास निरखिये, तब जाकर वह अनुमान दूषित हो सकता है। तो जब हेत्वाभास आदिकके द्वारा अनुमान दूषित बना तब फिर उसमें ही दूषित कहलाया वर्ण्यसमा अवर्ण्यसमा जाति बोलकर जय और पराजयकी व्यवस्था न बनायी जा सकेगी, किन्तु प्रमाण और प्रमाणाभास सिद्ध करके ही जय पराजयकी व्यवस्था बनाई जा सकती है।

विकल्पसमा जातिका परिचय — यौग सिद्धान्तमें एक विकल्पसमा नामकी जाति मानी गयी है। विकल्पका अर्थ है वशेष अथवा भेद। जो साध्यरूप धर्मका विकल्प है, उसको अन्य धर्मके विकल्पसे दूषित करने वाले पुरुषके विकल्प समाजाति बनती है। जैसे कि इस ही अनुमानमें कि इसमें क्रियाका आश्रय है क्योंकि क्रियाके हेतुभूत गुणका आश्रय होनेसे। तो इस हो साधनके कहनेपर प्रतिवादी अथवा जातिवादी दूषण देता है कि जो साधन बनाया गया है कि आत्मा क्रियाके हेतुभूत गुणसे युक्त है, तो क्रियाका हेतुभूत गुण है प्रयत्न। उस प्रयत्नसे युक्त जितनी भी वस्तुयें हैं उनमेंसे कुछ तो गुरु (वजनदार) दिखते हैं जैसे कि लोष्ठ आदिक और कुछ चीजें लघु दिखती हैं जैसे कि वायु। तो क्रियाके हेतुभूत गुणसे युक्त होकर भी कुछ तो क्रियाका आश्रयभूत होता है जैसे लोष्ठ आदिक, और कोई निष्क्रिय भी होता है जैसे कि आत्मा। तो इस जातिमें साध्य विशिष्ट धर्म हुआ क्रियावानपना तो यहाँ क्रियामें भेद डालकर अन्य धर्मके भेदसे दोष दिया गया है। जैसे कि जो जो प्रयत्न गुण वाले हैं वे गुरु (वजनदार) भी दिखते और लघु भी दिखते। अब यहाँ गुरु लघुकी कोई चर्चा तो न थी लेकिन इस जातिके द्वारा दूषण दिया जा रहा है। और यह बात स्पष्ट भी है कि प्रयत्न गुण याने अर्थात् हलन चलन क्रिया करने वाले पदार्थोंमें कुछ पदार्थ गुरु (वजनदार) हैं जैसे लोष्ठ आदिक और कुछ पदार्थ लघु हैं जैसे वायु। तो इसी तरह क्रियाके हेतुभूत प्रयत्न गुणसे सहित होकर भी कुछ पदार्थ हुए क्रियावान और कुछ पदार्थ हुए निष्क्रिय, तो इसमें क्या आपत्ति ? अन्य धर्मोंमें भी तो यह द्विधा भेद देखा गया है। इस तरहसे साध्यधर्ममें अन्य धर्मके विकल्प उठा उठाकर दूषण देवे तो वह विकल्पसमा जाति कहलाती है। लेकिन ऐसी विकल्पसमा जाति उठाकर अनुमान ही दूषित बनाया जाय तो इस तरह सच्चा अनुमान भी दूषित बन सकता है।

साध्यसमा जातिका परिचय — अब एक जाति मानी गई है साध्यसमा जाति। जातिवादीने कहा है कि साध्य हुआ करता है प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय, निगमन। इन सब अवयवोंसे जोड रखने वाला है साध्यधर्म। जिस किसी भी अनुमान में जो साध्य बनाया गया है वह साध्यरूप धर्म प्रतिज्ञा हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन सबके साथ मेल रखता है। तो पाँचों अवयवोंके साथ योग रखने वाला धर्म

साध्य होता है उस ही को दृष्टान्तमे आरोपित करनेपर साध्यसमा जाति बनती है। जैसे कि उसी अनुमानमे कि आत्मा क्रियावान है, क्रियाके हेतुभूत प्रयत्न गुणका आश्रय होनेसे। तो अब इस साधनके बोलनेपर प्रतिवादी, जातिवादी बोलता है कि तो जैसे लोष्ठ है वैसे ही आत्मा मान लो क्योंकि दृष्टान्तमे लोष्ठका दृष्टान्त दिया है। तो जैसा जैसा लोष्ठ है वैसा ही वैसा आत्मा मान लिया जाय तो जैसा जैसा आत्मा है तैसा ही यह लोष्ठ भी हो जाय तो यहाँ सक्रिय यह साध्य बनाया है तो जैसे कि आत्माके लिए सक्रिय साध्य किया गया है ऐसे ही लोष्ठके लिए भी वह सक्रिय साध्य बन गया। तो अब किसको सिद्ध किया जा रहा है ? यह विवाद हो गया। लोष्ठमें साध्य सिद्ध किया जा रहा, क्योंकि अब तो यहाँ यह दृष्टि होगी कि जैसा लोष्ठ है वैसा ही आत्मा है। और फिर जैसा आत्मा होगा वैसा ही लोष्ठ होगा। तो अब लोष्ठ तो साध्यका लक्ष्य नही है, पक्ष नही है यहापर कि लोष्ठको क्रियावान सिद्ध किया जा रहा हो सो लोष्ठ क्रियावान जैसे साध्य नही है इसी प्रकार आत्मा भी क्रियावान साध्य मत हो। यहाँ दृष्टान्तको और पक्षको एक कोटिमे रखकर दोनोमें साध्यकी बात कही जा रही है, पर आत्माको सक्रिय बनाना साध्य है। लोष्ठको सक्रिय बनाना साध्य नही है, किन्तु यहाँ पक्ष और दृष्टान्त हो गए बराबरके। अब जैसे लोष्ठ साध्य है सक्रिय होना उसी प्रकार आत्मामे भी क्रियावान होना साध्य है और, जैसे आत्माको क्रियावान सिद्ध करना साध्य है इसी प्रकार लोष्ठमे भी क्रियावान होना साध्य बन जायगा। और लोष्ठ यदि क्रियावान साध्य नही बताते तो आत्मामें क्रियावान साध्य मत हो और यदि आत्माको क्रियावान साध्य कहते हो तब फिर कोई विशेष अन्तर बताना चाहिये। इस प्रकार यह साध्यसमा जाति बताई गई है।

उक्त जातियोकी दूषणाभासता तथा जातिमात्रसे जय पराजयकी अप्रसिद्धि—इन सब जातियोमे अर्थात् उत्कर्षसमा, अपकर्षसमा, वर्ण्यसमा, अवर्ण्यसमा, विकल्पसमा और साध्यसमा इन जातियोमें दूषणाभासता है। यह दूषण नही है, यहाँ झूठा दूषण लगाया जा रहा है, क्योंकि सद्भूत साधनमें जो कि दृष्टान्त आदिक सामर्थ्यसे युक्त हैं, अब ऐसे साधनके होनेपर किया क्या गया था, यह कि साध्य और दृष्टान्तमे धर्मसाध्यके विकल्प बना दिये थे। तो साध्य अथवा दृष्टान्तमें धर्म विकल्प कर देने मात्रसे प्रतिषेध नही किया जा सकता। जहाँपर लौकिक या अलौकिक पुरुषोमे बुद्धिसाम्य हो उस ही को तो दृष्टान्तमे रखा जाता है। वह साध्य कैसे बनेगा ? कोई भी अनुमान बोला गया है, वादीने बोला है तो उस अनुमानका समर्थन करनेके लिए जो दृष्टान्त देगा वह दृष्टान्त वादीकी बुद्धिमें भी जच रहा है और प्रतिवादीकी बुद्धिमें भी जच रहा है। जब बुद्धिमें वह दृष्टान्त जच रहा है। तो अब साध्य बनानेका प्रसंग क्या है ? साध्य तो उसे बनाया जाता है जो कि असिद्ध हो, इष्ट हो, अबाधित हो। जब दृष्टान्तवादी व प्रतिवादीकी सम्मतिसे ही सिद्ध है

तो उसको साध्य बनाकर विकल्प उठाकर फिर उसमें इन जातियोंका दूषण देना, यह भी संगत नहीं है। तो प्रथम तो यह बात है। दूसरी बात यह है कि यह जो जातिरूप दूषण बनाया गया है वह दूषण जातिके कारण न बनेगा। किन्तु हेतु झूठा हो पक्षाभास हो, जो इससे पहिले बताये गये हैं हेत्वाभास आदिक वे दूषण बनते ही तो उससे अनुमान निराकृत होता है। जातिमात्रसे अनुमानका निराकरण नहीं किया जा सकता है। जिन आभासोंसे दूसरोंके अनुमानका निराकरण होता है उनका वर्णन विशेषरूपसे किया ही गया है। तो जय और पराजयकी व्यवस्था प्रमाण और प्रमाणाभाससे होती है जातिके कारण नहीं। वादीने प्रमाण उपस्थित किया, उसपर प्रतिवादीने दोष डाला, उस दोषको अगर दूर कर सके तो वादीकी जीत है, प्रतिवादीकी हार है। और उस दोषको वादी दूर न कर सके तो प्रतिवादीकी जीत है और वादीकी हार है। किसी वादीने प्रमाणाभास ही डाल दिया और उसमें दोष प्रतिवादीने दिखाया। अब उस दोषको अगर नहीं टाल सकता तो प्रमाणाभासवादी की हार है प्रतिवादीकी जीत है। तो जय पराजयकी व्यवस्था प्रमाण, प्रमाणाभासमें दूषण आने न आनेके बलपर है कहीं जातिके द्वारा नहीं। जैसे छलसे बुद्धिमानोंकी दृष्टिमें जीतहार नहीं है इसी प्रकार जाति उपस्थित करके भी बुद्धिमानोंकी दृष्टिमें जीत और हार नहीं होती।

प्राप्तिसमा व अप्राप्तिसमा जातिका वर्णन—अब प्राप्तिसमा जातिका वर्णन करते हैं। प्राप्तिसम का लक्षण योगसिद्धान्तमें किया गया है कि ठीक साधन प्रयुक्त करनेपर प्राप्तिके द्वारा जो दूषण दिया जाता है उसे प्राप्तिसमा जाति कहते हैं। और, इसी प्रकार अप्राप्तिसमाका भी लक्षण किया गया है कि सम्यक साधनके प्रयोग करनेपर अप्राप्तिके द्वारा जो दूषण दिया जाता है उसे अप्राप्तिसमा कहते हैं। जैसे कि कुछ भी अनुमान बोलनेपर प्रतिवादीके द्वारा यह पूछा जाय कि यह बतलावो कि हेतु साध्यको पा करके साध्यको सिद्ध करता है या हेतु साध्यको न पा करके सिद्ध करता है? यदि कहो कि हेतु साध्यको प्राप्त करके सिद्ध करता है साध्यको तो अब हेतु और साध्य दोनों ही प्राप्त कहलाते तो दोनों जब एक साथ सम्भव हो गए तो उन दोनोंमेंसे एकको तो हेतु मान लिया और दूसरेको साध्य मान लिया यह बात कैसे मान ली गई। अब हेतु और साध्य दोनों ही प्राप्त हैं एक साथ उनका सत्त्व है तो उनमेंसे एकमें हेतुता कर देना और दूसरेमें साध्यता जोड़ देना, यह कैसे बनी? इस तरहसे जो दूषण दिया जाता है उसे प्राप्तिसमा जाति कहते हैं। यह तो प्राप्तिसमा जातिके सम्बन्धकी बात हुई। अब यदि हेतु साध्यको न पा करके साध्यको सिद्ध कर रहा है तब तो कोई सा भी एक हेतु सारे साध्यको सिद्ध करदे, सब हेतु साध्यको न पाकर अगर साध्यको सिद्ध करता तो एक कोई सा हेतु दिया जाय वह एक ही हेतु सब साध्योंको सिद्ध करदे, क्योंकि अब तो साध्यकी प्राप्ति बिना हेतु साध्यको सिद्ध करने लगा ऐसा माना जा रहा है, परन्तु क्या ऐसा कहीं देखा जाता ? अप्राप्त प्रदीप

पदार्थोंका प्रकाशक नहीं देखा गया, इस तरह दूषण देनेको प्रत्यक्षितासमाजाति कहते हैं।

प्राप्तिसमा व अप्राप्तिसमा जातिकी दूषणाभासता प्राप्तिसमा व अप्राप्तिसमा ये दोनों ही जातियाँ दूषणाभास रूप हैं। ये सम्यक्‌उत्तर दूषण नहीं हैं, क्योंकि कहीं–कहीं तो हेतु प्राप्त साध्यको सिद्ध करने वाला है। और, कहीं–कहीं हेतु अप्राप्त साध्यको सिद्ध करने वाला है। जैसे इस पर्वतमें अग्नि है धूम होनेसे, तो यहाँ धूम भी प्राप्त है अग्नि भी प्राप्त है, उसका अनुमान बनाया गया। धूम अग्निमें सम्बन्धित भी है, एक साथ भी है और फिर भी अनुमान सही है। तब प्राप्तिसमा जातिका कोई मूल्य नहीं रहता। और देखिये! अनुमान बनाया गया कि अब रोहिणी का उदय होगा कृतिकाका उदय होनेसे तो कृतिकाका उदय रोहिणीके उदयमें तो अप्राप्त है, कृतिकाका समय और है, रोहिणीके उदय होनेका समय और है। कृतिका और रोहिणी एक साथ तो सम्भव नहीं। अथवा अनुमान बनाया कि कल मंगलवार होगा आज सोमवार होनेसे। तो हेतु जो है 'आज सोमवार है' वह कलके मंगलवारमें तो नहीं प्राप्त है। कलमें मंगल है आजमें सोम, तो अप्राप्त भी साध्य। इस हेतुसे सिद्ध कर दिया गया तो प्राप्तिसमा और अप्राप्तिसमा जाति वास्तविक दूषण नहीं है, यह दूषणाभास है।

प्रसङ्गसमा जातिका परिचय—अब एक जाति है प्रसङ्गसमा जाति। दृष्टान्तको भी साध्य विशिष्टरूपसे जाननेमें कोई साधन कहना चाहिए, इस प्रकार प्रसंगके साथ दूषण देना प्रसंगसमा जाति कहलाता है। जैसे कि इसी अनुमानमें कि आत्माको क्रियाका आश्रय होना चाहिए क्योंकि क्रियाके हेतुभूत गुणका सम्बन्ध होने से जैसे लोष्ठ। तो इस अनुमानमें जब लोष्ठ बोला गया तो उस समय प्रतिवादी दूषण देता है कि लोष्ठका उदाहरण तो दे दिया, पर लोष्ठको सिद्ध कुछ नहीं किया। लोष्ठ क्रियावान है क्रियाके हेतुभूत गुणका यानी प्रयत्नका सम्बन्ध होनेसे। दृष्टान्तमें इस तरहका हेतु तो कहा ही नहीं गया और हेतुके बिना साध्यकी सिद्धि होती नहीं। तो दृष्टान्त भी सिद्ध नहीं होता। इस तरह दृष्टान्तको भी साध्य विशिष्ट रूपसे जाननेके लिए साधन कहना चाहिए और तुमने कहा नहीं। तो यह प्रसंगसमा जाति का दूषण लग गया। इस तरह कहकर जातिवादी अपनी जीत बताना चाहता है और उस वादीको हार कराना चाहता है। लेकिन बुद्धिमान लोग सब जानते हैं कि प्रसंग-समा जाति कहकर जो दूषण दिया गया है वह दूषण नहीं है, दूषणाभास है।

प्रसंगसमा जातिकी दूषणाभासताका प्रतिपादन - देखिये जैसे रूपको देखने वाले पुरुषोंको प्रदीप ग्रहण करना पड़ता है और वे दिखते हैं—लेकिन स्वयं प्रकाश-मान प्रदीपको देखने वाले पुरुषोंको प्रदीप ग्रहण नहीं करना पड़ता। जैसे कोई कमरेमें घड़ा वगैरह ढूँढना चाहता है तो उसे दीपक ग्रहण करना पड़ेगा। दीपक जल रहा हो या हाथमें टार्च लेवे तो रूपको देखनेकी इच्छा करने वाले पुरुषोंको प्रदीपका

ग्रहण करना पड़ता है, यह बात तो विश्वासके योग्य है, लेकिन कोई प्रदीपको उठानेके लिए आया और वह फिर उस प्रदीपको ग्रहण करनेके लिये दीपक हाथमें ले, ऐसा तो नहीं देखा गया। दीप तो स्वयं प्रकाशमान है। उस दीपको ढूंढ़नेके लिये दूसरे दीपकको ग्रहण करनेकी जरूरत नहीं रहती है। उसी तरह जानो कि इस अनुमानमें आत्माको क्रियावत्त्व सिद्ध किया जा रहा है। तो साध्य क्या हुआ ? आत्माका क्रियावत्त्व। उसकी प्रसिद्धि करनेके लिए, उसको सबके दिमागमें सही जमानेके लिए लोष्ठका दृष्टान्त दिया गया। अब दृष्टान्तरूप लोष्ठकी सिद्धिके लिये अन्य साधनकी आवश्यकता नहीं रहेगी, क्योंकि दृष्टान्त वही दिया जाता है जो वादी और प्रतिवादी दोनोंको ही विवादका विषय नहीं होता। दोनों ही जिसपर राजी हों ऐसा ही दृष्टांत दिया जाता है। तो ऐसे दृष्टान्तमें स्वयं ही दृष्टांतपना आयगा। अब यहाँ हेतु नया और देना यह निरर्थक है, उसका कोई फल नहीं है। तो प्रसंगसमा जाति वास्तविक दूषण न रहा। यह तो व्यर्थका विकल्प पैदा करके दूसरेका मुख बंद करनेकी ही बात है। इसको बुद्धिमान लोग स्वीकार न कर सकेंगे कि प्रसंग समा जाति कहकर यह प्रतिवादी तो जीत गया और वादी हार गया। विद्वान लोग तो यह देखेंगे कि इसमें समर्थ वचन हैं अथवा नहीं। दृष्टान्त तो किसी बातको स्पष्ट करनेके लिए दिया जाता है। कोई दृष्टान्त न भी दे तो भी तत्त्वकी सिद्धि हो जाती है। दृष्टान्त तो स्पष्टताके लिए दिया जाता है। और, दृष्टान्त ऐसा ही दिया जायगा जो वादीको भी सम्मत हो और प्रतिवादीको भी सम्मत हो। जब दोनों माने गए तब किसी दृष्टान्तको अब उसमें साध्य सिद्ध करनेके लिये प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं है।

प्रतिदृष्टान्तसमा जातिका वर्णन—एक जातिका नाम है प्रतिदृष्टान्तसमा जाति, प्रतिदृष्टान्तरूपसे दूषण देनेका नाम है प्रतिदृष्टान्तसमा जाति। जैसे कि यही अनुमान किया गया कि आत्मा क्रियावान है क्रियाहेतुभूत गुणका आश्रय होनेसे। तो इस अनुमानमें साधनका प्रयोग करनेपर दूसरा प्रतिवादी, जातिवादी प्रतिदृष्टान्तके द्वारा दूषण देता है किस प्रकार ? कि क्रियाके हेतुभूत गुणका आश्रय आकाश भी है और वह निष्क्रिय देखा गया है। उस ही तरह आत्मा भी निष्क्रिय हो जायगा। कोई पूछे कि आकाशमें ऐसे किस गुणकी आश्रयता है जो क्रियाका हेतुभूत है ? तो सुन लीजिये ! वायुके साथ जो संयोग हुआ है आकाशका, द्रव्य-द्रव्यमें संयोग हुआ करता है योगसिद्धान्तमें। आकाश भी द्रव्य है, वायु भी द्रव्य है और जब वायु चलती है तो वायुके साथ आकाशका संयोग हुआ या नहीं हुआ ? लेकिन तीन कालमें भी आकाश में क्रिया सम्भव नहीं है। जैसे आत्मा चलता है, पुद्गल चलता है, इस तरह क्या आकाश भी चलता है ? और क्रियाके हेतुभूत गुणका आश्रय तो बन गया अर्थात् वायु का और आकाशका संयोग है। कोई यह कहे कि वायुके साथ जो आकाशका संयोग है वह क्रियाका हेतुभूत नहीं है, यह भी बात सारहीन है, क्योंकि वायुके संयोगसे वन-

स्पतिमें क्रिया होती कि नहीं ? वृक्ष चलने लगता। कहीं कहीं वृक्ष तो उस वायुके वेग के वाले सयोगसे गिर पड़ते हैं, तो वायुके सयोगसे ही वनस्पतिमें क्रिया हुई। तो ऐसा वह सयोग क्रियाका कारणभूत है। वनस्पतिमे क्रियाके कारणभूत वायुके सयोगके समान वायुका सयोग आकाशमें भी है, तो वायुसयोगकी समानता तो आ गई। आकाशमे वायुसयोग, वनस्पतिमे वायुसयोग। तो जब वनस्पतिमे वायुका सयोग होने से वनस्पतिमे क्रिया बन गयी तो आकाशमें वायुका सयोग होनेसे आकाशमे भी क्रिया बन जायगी। परन्तु यह वायु आकाशमे जो क्रिया नही पैदा करती है वह अकारण होनेसे नही होती, ऐसी बात नहीं है, किन्तु परममहापरिमाणसे प्रतिबद्ध होनेके कारण नही होती अर्थात् आकाश सर्वव्यापक है तो अब क्रिया कहाँ सम्भव है ? तो परम-महापरिमाण वाला होनेसे आकाशमे क्रिया नही है।

वायु वनस्पति सयोग व वाय्वाकाश सयोगकी विसदृशता सिद्ध करने का वितर्क—अब शकाकार कहता है कि क्रियाका कारणभूत वायु और वनस्पतिका सयोग और किस्मका है और वायु और आकाशका सयोग और किस्मका है। वनस्पति और वायुका सयोग तो क्रियाका कारणभूत है। इसके समान वायु और आकाशका सयोग नही है, वह क्रियाका कारणभूत नही है। समाधानमे कहते हैं कि इस तरहका विकल्प उठानेपर तो कोई सा भी हेतु अनैकांतिक नही बन सकता है। अनैकांतिक हेतु उसे कहते हैं जो पक्षमें भी जाय, सपक्षमे भी जाय और विपक्षमें भी जाय, लेकिन जैसे कि यहाँ कह दिया गया है कि वायु और वनस्पतिका सयोग तो क्रियाको कारणभूत है, पर वायु और आकाशका सयोग क्रियाका कारणभूत नही है। वायु और वनस्पतिके सयोगकी तरह वायु और आकाशका सयोग नही है। यो कह देनेपर सभी उन अनुमानो मे जो कि अनैकान्तिक दोषसे दूषित हैं यह कहा जा सकता है। जैसे अनुमान बनाया कि शब्द नित्य है मूर्त होनेसे सुख आदिककी तरह। अब देखिये यह अनुमान अनैका-न्तिक हेत्वाभास होनेसे गलत है। शब्द यद्यपि अनित्य है लेकिन हेतु जो दिया गया है कि मूर्त होनेसे। तो यह तो स्वरूपासिद्ध हेतु है और साथ ही जो जो अमूर्त होता है वह वह अनित्य होता है, यह बात तो नही बनती। इस अनुमानमें जो मूर्तत्व हेतु दिया गया है वह मूर्तत्व हेतु आकाशमें भी है, अमूर्त अन्य भी अनेक पदार्थ हैं, काल भी अमूर्त है लेकिन वह अनित्य नही है। तो मूर्तत्व हेतु अनित्य साध्यके विरुद्ध नित्य द्रव्योमे भी पहुँच गया इस कारण वह अनैकांतिक हेतु हुआ, लेकिन कोई यह कह बैठे कि वाह ! शब्दमे जो अमूर्तत्व है वह और किस्मका है और आकाशमें जो अमूर्तत्व है वह और किस्मका है। शब्दमें रहने वाले अमूर्तत्वके सदृश आकाशमे रहने वाला अमूर्तत्व नही है। तो फिर आकाशके साथ अमूर्तत्व हेतुसे अनित्य साध्यकी सिद्धि करने के लिए अनैकान्तिक दोष कैसे बनेगा ?

व्यक्तित्वदृष्टिसे हेतुवोको विभक्त माननेपर सकल अनुमानोके उच्छेद

का प्रसग—व्यक्तिरूप हेतुताके कारण पक्ष विपक्षमे प्राप्त हेतुको विभिन्न माननेपर तो समस्त अनुमानोका उच्छेद हो जायगा, क्योंकि सदृशतामे ही अनुमानकी प्रवृत्ति होती है और सदृशताके बारेमें वहाँ यह प्रडास लगा दिया जावगा कि हेतु जैसा वहाँ है वैसा ही ठीक यहाँ नही है। जो धूमके धर्म हैं अर्थात् पत्तों वाली अग्नि है, उसमे धुवाँ बहुत उठता है। तो जो धूमके धम हैं वे ही धम कही रसोई आदिमें भी धूममें देखे गये हैं क्या जिस धूमका धर्म रसो आदिकमें देखा गया है ना, वह ही धम तो अन्यत्र नही देखा जाता है हाँ उन्हीं धर्मोंसे सदृश होनेके कारण धूम धमसे अनुमान बनाया जाता है। तो सदृशतामे ही तो अनुमान बना। ठीक व्यक्तिगत जो धूम धर्म रसोईघर मे दीखा, वह ही तो अन्यत्र नहीं है, लेकिन सदृशतासे अनुमान बनता है। जैसा धूम रसोईमें था वैसा ही यहाँ दिख रहा है इस कारण यहाँ अग्नि है तो सदृशतामे अनुमान बनता है। लेकिन वहाँ भी कोई कह बैठे कि जो धूम वहाँ था वही यह धूम नहीं है तो कोई भी अनुमान नही किया जा सकता। इस तरह समस्त अनुमानोका उच्छेद हो जायगा। इस कारण वादी जो कि किसी हेतुमें अनैकान्तिकपना दिखाना चाहता है और पर्वत आदिकमें अनुमानकी प्रवृत्ति बताना चाहता है तो उसको उस धर्मके सदृश पक्षगत हेतुका धम मानना चाहिए। इस प्रकार क्रियाका कारणभूत वायु वनस्पतिके सयोगके सदृश वायु आकाशका सयोग भी है, इस कारण वह क्रियाका कारण ही होना चाहिए और उस प्रकार प्रतिदृष्टान्तके द्वारा याने आकाशको उसके मुकाबलेमें रखकर जो दूषण दिया जाता है वह प्रतिदृष्टान्तसम नामका प्रतिषेध है लेकिन यह प्रतिषेध अयुक्त है। क्योंकि यह प्रतिषेध दूषणाभासरूप है। वह किस तरह ? यदि जाति वादी यह बोलता है कि जिस प्रकार यह तुम्हारा दृष्टान्त लोष्ठ आदिक है उसी प्रकार हमारा भी यह दृष्टान्त आकाश आदिक है। तो उस समय एकका व्याघात हो जाता है। एक का दृष्टान्तपना होनेपर दूसरेका अन्यका अदृष्टान्तपना हो ही जायगा। विरुद्ध दो दृष्टान्त तो एक जगह नही समाते दोनोंमें दृष्टान्तपना आ जाय यह बात नही बन सकती। अगर वह इस प्रकार बोलता है कि जैसा उसका यह दृष्टान्त नहीं है तो इसी प्रकार यह हमारा भी दृष्टान्त नही है। ऐसा कहनेमें भी व्याघात आता है क्योंकि प्रति दृष्टान्त जो कि शब्दके रूपमें रखा गया है उसे अगर अदृष्टान्त मान लेते हैं तो दृष्टान्त में भी अदृष्टान्तपनेका व्याघात हो जायगा। क्योंकि उसका भी कोई जब प्रतिदृष्टान्त न मिलेगा तो प्रतिदृष्टान्तके अनुभवमें उसको दृष्टान्तपनेकी उपपत्ति हो जायगी, और दृष्टान्तका अदृष्टान्तपना माननेपर प्रतिदृष्टान्त अदृष्टान्तपनेका व्याघात हो जायगा। दृष्टान्तके अभावमें उसमें क्योंकि तत्वकी उपपत्ति होने लगी है।

प्रतिदृष्टान्तसमा जातिकी दूषणाभासताका स्पष्ट परिचय—निष्कर्ष यह है कि प्रतिदृष्टान्त बोलकर जो एक दूषण बताया गया है वह दूषण नही है किन्तु वह दूषणाभास है। यदि कोई यह कहता है कि आत्मा क्रियावान है। क्रियाके हेतुभूत गुणका वह आश्रय है तो वहाँ यह तो निरखना चाहिए कि क्रियाका हेतुभूत

गुण प्रयत्न, वह उसके आश्रयके उपादानभूत हैं। द्रव्यमें गुणका आश्रय हुआ है। और ऐसा होता ही है। गुण द्रव्यके आश्रय होता है। लेकिन प्रति दृष्टान्त देकर वादीके कथनको झुठलानेके लिये जो यह बात कही है कि क्रियाके हेतुभूत गुणका आश्रय आकाश है और वह निष्क्रिय है। तो क्रियाके हेतुभूत गुणका आश्रय आकाश है और वह निष्क्रिय है, तो क्रियाके हेतुभूत गुणका आश्रय किस तरह है ? इसको बताते हैं यों कि जब वायु चली तो वायुका और आकाशका संयोग बन गया। अब यह संयोग तो द्रव्य-द्रव्यका है। प्रथम तो यह बात है कि आकाश अमूर्तिक है, आकाशमें वायुका संयोग हो ही नहीं सकता। मूर्त पदार्थमें मूर्त पदार्थका संयोग होता है, उस दृष्टिसे तो यदि कोई यह भी कह दे कि शरीरका और आत्माका संयोग नहीं है इस समय भी नहीं है तो वहकह सकता है कि हाँ, आत्माका और शरीरका संयोग नहीं है, क्योंकि आत्मा अमूर्त है, संयोग मूर्तमें होता है मगर यह तो उस संयोगसे बढ़कर भी बन्धन है ना, निमित्त नैमित्तिक भावका बन्धन है। निमित्त नैमित्तिक भावका, आत्मा का और कर्मका बन्धन होकर भी आत्मा और कर्मका संयोग कभी भी नहीं होता है। तो ऐसी जब वायु चली तो चली वह, उसका वृक्षसे तो संयोग हो सकता है क्योंकि वायु भी मूर्तिक है. वृक्ष भी मूर्तिक है, लेकिन वायुके चलनेका स्थान तो है वह जो आकाशका स्थान है, लेकिन वायुका और आकाशका संयोग नहीं हुआ करता। तो वादीके द्वारा तो यह कहा गया था, वादीका तो यह अभिप्राय था कि चूँकि प्रयत्नका आधार है आत्मा, इस कारणसे क्रियावान है, लेकिन उसको अन्य रूपमें ढालकर प्रतिवादी यहाँ प्रतिदृष्टान्तसमा जाति बना रहा है। वह प्रतिदृष्टान्तसमा जाति दूषण नहीं है, वह तो दूषणाभास है उससे तो अनुमानमे दूषण नहीं आता। तो प्रतिदृष्टांत समा जातिको दूषणरूपमें देने वालेके अन्दरमे आशय खराब है। जैसे उदाहरण विरुद्ध देकर, कुछ थोड़ीसी समानता दिखाकर, समानता बनवाकर और उस दृष्टान्तको दूषित कर देना और साध्यको सिद्ध न करने देना यह जातिवादीका अभिप्राय है। समर्थ वचन कुछ नहीं है। समर्थ वचनसे ही जीतकी व्यवस्था है। प्रतिदृष्टान्तसमा जातिके द्वारा प्रतिवादीकी जीत हो गयी है। और वादीकी हार हो गयी हो यह बात विद्वानोकी समझमे कभी नहीं आ सकती। विद्वजन तो समर्थ वचनके द्वारा जय और पराजयकी व्यवस्था बनाया करते हैं, प्रमाण देते हैं। प्रमाणमे दूषण दिया जाय, दूषणका परिहार हो गया तो वादीकी जीत है, दूषणका परिहार न हो सका तो वादीकी हार है और प्रतिवादीकी जीत है, किन्तु प्रति,दृष्टान्तसमा जाति बताकर जय पराजयकी व्यवस्था नहीं बनायी जा सकती।

अनुत्पन्नसमा जातिका वर्णन—यौग सिद्धान्तमें एक अनुत्पत्तिसमा जाति मानी गयी है जिसके लक्षणमें उनके न्यायसूत्रमें कहा गया है कि उत्पत्तिसे पहिले कारणका अभाव होनेसे जो प्रतिकूलता होती है उसे अनुत्पत्तिसमा जाति कहते हैं। जैसे अनुमान बनाया गया कि शब्द विनश्वर है प्रयत्नके बाद होनेसे घटक आदिककी

तरह । जैसे कटक आदिक आभूषण स्वर्णकारके प्रयत्नके बाद होते हैं अतएव विनश्वर हैं इसी प्रकार ये शब्द भी तेष आदिकके प्रयत्नपूर्वक होते हैं इस कारण ये भी विनश्वर हैं ऐसा वादीने अनुमान किया। उसपर प्रतिवादी अर्थात् जातिवादी कहता है कि उत्पत्तिसे पहिले जो शब्द अनुत्पन्न है उसमें विनश्वरताका जो कारण प्रयत्नके बाद होना कहा गया है वह तो नहीं है । अर्थात् शब्द जब प्रयत्न नहीं हुआ उससे पहिले अर्थात् अनुत्पन्न स्थितिमें उन शब्दमें प्रयत्नके बाद होना ऐसा कारण तो नहीं पाया जा रहा है इससे सिद्ध है कि शब्द अविनश्वर है और वादीने शब्दका प्रयत्नके बाद जन्म नहीं होता है । इस प्रकार अनुत्पत्तिसमा जातिके द्वारा वादीके अनुमानको दूषित करना सो अनुत्पत्तिसमा जाति कहलाता है ।

अनुत्पन्नसमा जातिकी दूषणाभासता—यह अनुत्पन्नसमा जाति याने अनुत्पत्तिके द्वारा प्रतिकूलता बताना यह दूषणाभास है। क्योंकि न्यायका इसमें अत्यन्त उल्लघन है बात यह है कि उत्पन्न हुए शब्दको यहाँ धर्मी बनाया गया है। उत्पन्न हुआ शब्द अनित्य है प्रयत्नके बाद होनेसे तो यहाँ उत्पन्न हुए ही शब्द धर्मीका प्रयत्नान्तरीकपना अर्थात् उत्पत्ति धर्मकपना बताया गया है । अनुत्पन्न शब्दकी तो कोई बात ही नहीं की गई है। और फिर उत्पत्तिसे पहिले शब्दका तो असत्त्व है। शब्द है ही नहीं फिर यह उलहना किसके आश्रय किया जा रहा है । शब्द उत्पन्न होनेसे पहिले असत् है। असत्में तो कोई धर्म कहा ही नहीं जा सकता उत्पन्न हुए शब्दमे ही विनश्वरता की सिद्धि की जा रही है । उत्पत्तिसे पहिले शब्द ही नहीं है, फिर यह उलहना किसमें दिया जायगा । अनुत्पन्न अथवा असत् शब्दमे यह प्रयत्नके बाद हुआ अथवा अनित्य हुआ यह व्यपदेश नहीं किया जा सकता। तो शब्द ही नहीं है, उत्पत्ति ही नहीं हुई है उसमे अर्थात् असत्में यह व्यपदेश करना कि यह प्रयत्नके बाद हुआ अथवा अनित्य है यह कैसे बन सकता है ? यदि असत् पदार्थमें किसी धर्मका व्यपदेश किया जाने लगे तो खरविषाण आदिक असत् पदार्थोंमें भी कुछसे कुछ व्यपदेश कर दिया जाना चाहिए तो उत्पत्तिसे पहिले शब्द असत् रहा फिर यह उलाहना न बना । यदि कहो कि उत्पत्तिसे पहिले भी सत् है शब्द, तो यो सत्त्व मान लेनेपर फिर तो प्रयत्नके बाद हुआ इस प्रकारका कारण नश्वरत्वकी सिद्धिमे देना ठीक ही बैठ गया । फिर कैसे इसका प्रतिषेध किया जा रहा है ? याने शब्दको मान रहे हो तुम उच्चारणसे पहिले भी, अब, उत्पत्तिसे पहिले जो शब्दकी हालत है और उत्पत्तिके बाद जो शब्दकी हालत है उसमें फर्क रहा ना । उत्पन्न हुआ उसके बाद फिर न रहा । तो देखो प्रयत्नके अनन्तर हुआ इस कारण यह नश्वर सिद्ध हो गया तो यहाँ अनुत्पत्ति समाजातिका दूषण देना यह दूषणाभास है ।

संशयसमा जातिका वर्णन—एक जातिका नाम है संशयसमा जाति । किसी भी वस्तुमें कुछ सिद्धि की जा रही है जैसे शब्दमे प्रयत्नानन्तरीयकत्वके द्वारा अनित्यत्व

साध्य किया जा रहा है और उदाहरण दिया घटका तो घट वस्तुमें जो सामान्य धर्म है वह भी तो वस्तुके साथ सिद्ध हो रहा है। और साधनभूत धर्म ऐन्द्रियकत्वकी दोनो में है तो ऐसी स्थितिमे एक वस्तु तो अनित्य है व उसका सामान्य घटत्व नित्य है अत वहाँ सशयकी गु जाइस है। जैसे कि सामान्य और घट अर्थात् घटत्व और घट इनमे ऐन्द्रियकपना समान है, अर्थात् इन्द्रिय द्वारा घटका ज्ञान हो रहा है और घटके ज्ञानके साथ घटत्वका भी बोध हो रहा है, तो सामान्य और घटका इन्द्रियपना समान होनेपर भी अब नित्य और अनित्यकी सदृशतासे एक सशय हो जाता है। तो ऐसा सशय बताना सशय समाजाति है जैसे की वादीने कहा कि शब्द अनित्य है प्रयत्नके बाद होने से घटकी तरह। तो ऐसा कहनेपर दूसरा कोई प्रतिवादी अथवा जातिवादी कोई उसमे वास्तविक दूषण नहीं निरख रहा है तो वह सशयके साथ वह दूषण देता है कि देखो! प्रयत्नके बाद होनेकी बात होनेपर भी शब्दमें शब्द सामान्यके साथ याने शब्दत्वके साथ साधर्म्य ऐन्द्रियकत्व नित्य घटत्वके साथ भी है और अनित्य घटके भी साथ है। तो वहाँ सशय उपस्थित कर देना कि शब्दमे नित्यत्व धर्म है अथवा अनित्य धर्म है, इसे सशयसमाजाति कहते हैं। यहाँ अनुमान यह बनाया गया कि शब्द अनित्य है प्रयत्नके बाद होनेसे घटकी तरह। तो जैसे घटमें नित्य पटके साथ घटत्व भी पाया जा रहा है, सो जैसे–घट ऐन्द्रियक है ऐसे ही घटत्वका भी बोध हो रहा और घट अनित्य है और घटत्व नित्य है और दोनोका यहाँ ऐन्द्रियक धर्मके द्वारा सादृश्य पाया जा रहा है तो उसमें सशय हो गया, इसी प्रकार शब्दत्वको छोडकर शब्द अलग तो नही हैं सो जैसे शब्द प्रयत्नके बाद हुआ है उसी प्रकार शब्दत्वमें भी माना जायगा कि वह प्रयत्नके बाद हुआ है उसी प्रकार शब्दत्वमें भी माना जायगा कि वह प्रयत्नके बाद होनेके साधर्म्यसे शब्दमें अब यह सशय हो गया कि शब्द नित्य है या अनित्य क्योंकि शब्दत्व नित्य है वे शब्द अनित्य बता रहे हैं और सदृशता दोनोंमे है तब फिर नित्य है या अनित्य ? इस प्रकार सशय उठाकर दूषण देना सो सशय समा जाति कहलाता है।

सशयसमा जातिकी दूषणाभासता—यह सशय समा जाति वास्तविक दूषण नही है, इसमें दूषणाभास है, क्योंकि जो कुछ भी यहाँ प्रतिवादीने हेतु दिया गया है जैसे कि एकेन्द्रियकत्व वह शब्दके अनित्यत्वके साथ प्रतिबन्ध नही रखता। अविनाभावरूप नियम नही रखता। जैसे कि प्रात.काल कुछ अधेरे उजेलेमें घूमते हुए आ रहे हो और सामने खडा हुआ कोई पुरुष दीखा, उसे देखकर पहिले तो यह सशय हो गया कि यह पुरुष है या ठूठ ? लेकिन जब केश बन्धन आदिक देखकर विशेषरूप से यह निश्चय कर लिया कि यह पुरुष है तो अब जो धर्म ऐसे पाते जाते हैं कि पुरुष में भी घटित होता है और ठूठमे भी घटित होता है जैसे कि ऊँचाईपना। ऊँचाईपना ठूठमें भी है और पुरुषमें भी है। लेकिन अब इस साधर्म्य मात्रसे इसपर सशय नही हो सकता क्योंकि ऊँचाईका साधर्म्य होनेपर भी विशेष चिन्होके द्वारा यह निश्चय कर

लिया गया है कि यह पुरुष है अन्य सावर्म्य देखकर संशय बताना ठीक नहीं है। इसी प्रकार प्रयत्नके बाद हुए इस विशेषणके द्वारा शब्दमें अनित्यपना निश्चित कर दिया गया। अब ऐन्द्रियकत्व पाये जानेसे वहाँ संशय नहीं किया जा सकता। अन्यथा किसी दृष्टिसे घट और घटत्वमें किसी साधर्म्यकी समानता लेकर उसमें कोई संशय बताये तो वह युक्त नहीं है। दृष्टान्तमें घट और घटत्वकी युगपता बताकर ऐन्द्रियकत्व धर्मके द्वारा उसमें संशय बताये तो वह युक्त नहीं है।

प्रकरणसमा जातिका परिचय एक जाति मानी गई है प्रकरणसमा-जाति। घट और घटत्व दोनोकी सदृशतासे, साधर्म्यसे, प्रक्रियाकी सिद्धि होनेके कारण समाजाति बनायी जाती है। जैसे कि अनुमान बनाया गया कि शब्द अनित्य है प्रयत्नके बाद होनेसे घटकी तरह। तो इस अनुमानमें अनित्यके साधर्म्यभूत प्रय-त्नान्तरिकत्वसे शब्दकी अनित्यताको कोई सिद्ध कर रहा है याने यहाँ वादी शब्दको अनित्य सिद्ध कर रहा है। प्रयत्नके बाद हुआ यह हेतु देकर क्योंकि प्रयत्नके बाद जो होता है वह अनित्य होता है। अनित्यत्वका साधर्म पाया गया है प्रयत्नान्तरीयकत्व तो इस तरह वादी शब्दको अनित्य सिद्ध कर रहा है। लेकिन प्रतिवादी प्रत्यनु-मान देकर सामान्यसे साधर्म्य रखनेसे उसकी नित्यताको सिद्ध कर रहा तो यहाँ पक्ष और विपक्षमें प्रक्रिया समान हो गयी। वादी पक्षको अनित्य सिद्ध कर रहा। तो प्रतिवादी जो अनित्य नही है वहाँ नित्यताको सिद्ध कर रहा। प्रक्रिया दोनोंकी बरा-बर है। जैसे कि वह सिद्ध कर रहा है कि शब्द अनित्य है प्रयत्नके बाद होनेसे। तो प्रतिवादी उसके जवाबमें कह रहा है कि घटत्व अनित्य है ऐन्द्रिक होनेसे। तो यहाँ उसीके समान दूसरा अनुमान बनाकर विपक्षमें अर्थात् जो अनित्य नहीं है, उसमें साध्यको सिद्ध कर देनेकी बात थोपी गई है तो यह प्रकरणसमा जाति हुई। लेकिन प्रक्रियाका उल्लंघन न होनेसे इस तरहका दूषण देना अयुक्त है क्योंकि विरुद्ध होनेसे। प्रतिपक्षकी प्रक्रिया अर्थात् अनुमान रचना सिद्ध होनेपर ही प्रतिषेधका विरोध हो सकता है और प्रतिषेधकी उत्पत्तिमें प्रतिपक्षकी प्रक्रियाकी सिद्धि स्वयं हुल हो जाती है, तो साध्यकी पहिले ही सिद्धि होनसे फिर इस हेतुसे क्या सिद्ध किया जा सकता है?

अहेतुसमा जातिका परिचय एक जाति मानी गई है अहेतुसमा जाति। तीनों कालमें हेतुके असिद्ध होनेसे अथवा अनेक विकल्प करके तीन कालके विकल्प उठा करके हेतुको अहेतुके बराबर बता देना इसे अहेतुसमा जाति कहते हैं। जैसे कि यह अनुमान बनाया व दीने कि शब्द अनित्य है प्रयत्नके बाद होनेसे। इसी तरहका कुछ भी अनुमान कोई भी वादी उपस्थित करे तो उस साधनमें दूषण तो नजर नहीं आता, अब उस दूषणको न देखते हुए दूसरा बोल देता है कि क्या साध्यसे पहिले साधन है बतावो या साध्यके बादमें साधन है? या साध्यके साथ साधन है? कोई भी पुरुष अनुमान बनायेगा तो उसमें साध्य और साधन तो होते ही हैं। अब उस सदंभमें

यह विकल्प उठा दिया जाय कि बतलावो कि तुम्हारा यह साधन साध्यसे पहिले है या साध्य होनेके बादमें है या साध्यके समान कालमें है ? इन तीन विकल्पोंमेंसे यदि पहिली बात मानोगे कि साधन साध्यसे पहिले है तो इसका अर्थ यह हुआ कि साधन तो था, पर साध्य नहीं, अर्थ नहीं। जिसको सिद्ध करना चाहते वह कुछ है ही नहीं। तो जिस कालमें साधन है उस कालमें साध्य नहीं है। तो जब साधनके समयमें साध्य नहीं है तो उसे साधन भी कैसे कहा जा सकता ? जैसे अग्नि साध्य है, धूम साधन है तो यह धूम अग्निसे पहिले हो जाय अर्थात् अग्नि तो न हो अग्नि बादमें कभी उत्पन्न हो और धूम उठ गया तो क्या वह धूम अग्निका साधन कहा जा सकता है ? पदार्थके न होनेपर उसमें साधनपना नहीं आ सकता। यदि दूसरे विकल्पकी बात मानोगे कि साध्यके बाद याने उत्तर कालमें साधन होता है, तो इसका अर्थ है कि साधन नहीं है और साध्य हो गया, क्योंकि साधन साध्यके बाद मानोगे तो साधन न होनेपर पहिले ही साधन बनाया सो साधनके अभावमें साध्यमें साध्यपना कैसे सम्भव हो सकता है ? यदि कहो कि साध्य और साधन दोनों ही एक साथ होनेमें यह आपत्ति है कि जो एक साथ हुए तो वे स्वतन्त्र प्रसिद्ध कहलाते हैं। जैसे बछड़ेके शिरमें दो सींग एक साथ हैं तो उन दोनों सींगोंको स्वतन्त्र माना जायगा। तो स्वतन्त्र रूपसे प्रसिद्ध हुए साधन साध्यमें साध्य साधन भावका असम्भवपना है, जैसे हिमालय पर्वत और विन्ध्य पर्वत। इनमें स्वतन्त्रता है। कोई इन दोनोंमें एकको साधन बनाये, एकको साध्य, यह क्या हो सकता है ? नहीं। तो इस प्रकार साध्यके पूर्व साधन माननेपर भी अनुमान नहीं बन सकता। साध्यके उत्तरमें साधनको माननेपर अनुमान नहीं बन सकता और साध्यके समान कालमें साधनको माननेपर भी अनुमान नहीं बन सकता। तो इस तरह वह हेतु अहेतुके बराबर हो गया। यों इसमें हेतुसमता बताकर दूषण देना यह कहलाता है अहेतुसमा जाति। लेकिन यह अहेतुसमा जाति दूषण नहीं है किन्तु दूषणाभास है। कारण यह है कि हेतुकी प्रत्यक्ष प्रसिद्धि है और फिर उस प्रत्यक्षसे सिद्ध होने वाले हेतुसे साध्यकी सिद्धि की जाती है। जैसे अनुमान किया गया कि इस पर्वतमें अग्नि है धूम होनेसे, तो यहाँ जो साधन है धूम वह प्रत्यक्षसे सिद्ध है। अब प्रत्यक्षसे सिद्ध हुए धूमके द्वारा अग्निकी प्रसिद्धि की गई है, तो इसमें जो विकल्प उठाया गया था वह केवल एक वादीका मुँह बन्द करनेके लिए उठाया गया। इसे बुद्धिमान लोग दूषणरूप मे स्वीकार नहीं कर सकते।

अर्थापत्तिसमा जातिका वर्णन—एक अर्थापत्तिसमा जाति है। अर्थापत्ति समा जातिका लक्षण किया गया है कि अर्थापत्तिसे प्रतिपक्षकी सिद्धि हो जानेसे अर्थापत्ति समा जाति होती है। अर्थात् अर्थापत्ति उठाकर दूषण देना, प्रतिकूलता उत्पन्न करना सो अर्थापत्तिसमाजाति है। जैसे कि इस ही अनुमानमें जो कि वादीके द्वारा कहा गया। शब्द अनित्य है, प्रयत्नके बाद होनेसे घटकी तरह। तो यहाँ साधनके कहे जानेपर दूसरा प्रतिवादी कहता है कि यदि प्रयत्नके बाद होनेसे शब्द अनित्य है घट

की तरह तो अर्थापत्तिसे नित्य आकाशका साधर्म्य होनेसे शब्द नित्य हो जायगा। वादीने तो अनुमान दिया है कि प्रयत्नके बाद होता है शब्द इस कारण शब्द अनित्य है लेकिन प्रतिवादी इसी अनुमानकी तुलनामें एक दूसरा अनुमान बनाकर अर्थापत्ति उठाकर कहता है कि तो शब्द नित्य है स्पर्शवान होनेसे। शब्द स्पर्शमें नहीं आता। तो जैसे आकाश अस्पर्शवान है, उसका स्पर्श नहीं होता और वह नित्य है तो अस्पर्शवत्ता जैसे नित्य आकाशमें देखी गई है और साथ ही प्रतिवादीके सिद्धान्तमें शब्द आकाशका गुण है। तो जैसे आकाश अस्पर्शवान है इसी प्रकार शब्द भी अस्पर्शवान है। लोकदृष्टिमें भी उसका स्पर्श व्यवहार समझमें नहीं आता। यों उसके मुकाबलेमें स्वरूपत्व साधन बनाकर शब्दमें नित्यपना अर्थात् वादीके द्वारा कहे गए साध्य को विपरीतपना सिद्ध करनेकी बात बाद देना सो अर्थापत्तिसमजाति कहलाती है।

अर्थापत्तिसमा जातिकी दूषणाभासता—यह अर्थापत्तिसमा जाति दूषण नहीं है किन्तु दूषणाभास है। इसका कारण यह है कि इसके अनित्य सुख आदिकके साथ अनैकान्तिक दोष है। प्रतिवादीने जो अनुमान कहा है अर्थापत्ति जाति उठाकर उसमें अनैकान्तिक दोष है अर्थात् यहाँ अनित्य सुख आदिकके साथ भी अनेकांतिक दोष है। अनेकांतिकता होनेसे अर्थात् अस्पर्शवान यह जो हेतु जातिवादीके द्वारा कहा गया है वह हेतु अनेकांतिक दोषसे दूषित है। जो अस्पर्शवान है वह अनित्य होता है। अब प्रतिवादीके सिद्धान्तमें यह बात आयी थी तो घटाओ इसको। जिस जिसमें स्पर्श नहीं होता वह वह सब नित्य होता है। तो बतलाओ सुखका स्पर्श भी होता है क्या? सुख ठण्डा है गर्म रूखा, चिकना आदि है क्या? तो सुख भी अस्पर्शवान है तो हेतु तो सुखमें आ गया पर सुख अनित्य है। इसी प्रकार अन्य भी भाव हैं क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक। ये सभी अस्पर्शवान हैं। इनमें स्पर्श तो नहीं है लेकिन ये नित्य नहीं है अनित्य हैं। तो प्रतिवादीने तो मुकाबलेमें अर्थापत्ति पेश करके अर्थापत्तिसमा जाति बनाया है उसका कहना तो गलत है। वह अनेकांतिक दोषसे दूषित है। तो अनैकान्तिक दोषसे दूषित होनेसे दूषित अनुमान किसी अनुमान का बाधक नहीं बन सकता है। यों अर्थापत्तिसमा जातिके द्वारा जो यह प्रतिवादी, जातिवादी अपनी जीत और परकी हारको घोषित करना चाहता है यह उसका मूढ़तापूर्ण प्रयास है, क्योंकि सभामें बैठे हुए विद्वान लोग समर्थ वचनसे ही जीत और असमर्थ वचनसे ही हार मानते हैं। यहाँ वादीका तो समर्थ वचन था और प्रतिवादीने जो अर्थापत्ति उठाकर दूषण दिया है वह उसका असमर्थ वचन है, क्योंकि उसके अनुमानमें स्वयं अनेक दूषण आ रहे हैं, इस कारण अर्थापत्तिसमा जातिसे जीत हारकी व्यवस्था नहीं बन सकती।

अविशेषसमा जातिका वर्णन—अब अविशेषसमा जातिका वर्णन करते हैं। एक धर्मकी उपपत्ति होनेसे अविशेषरूपमें समस्त अविशेषोंका प्रसंग होनेसे सत्त्वकी

उपपत्ति बना बतानेसे अविशेषसमा जाति होती है। जो उदाहरण दिया जायगा और जिसका पक्ष बनाया जायगा उन ही दोनोंमें एक धर्म बताया जाता है जिससे कि साध्य की सिद्धि की जाती है। अब जिसे एक धर्म बता रहे हैं उसके कारण उसमें समानता है तो अन्य भी कोई ऐसे धर्म बताकर जिसका कि पक्ष और दृष्टान्तमें समानता हो उसको पेशकर अन्य किस ही साध्यको सिद्ध कर बैठना यह अविशेषसमा जाति कहलाती है। जैसे इस ही अनुमानमें कि शब्द अनित्य है प्रयत्नके बाद होनेसे, इसमें जो साधन बताया गया है कि प्रयत्नके बाद होनेसे तो उस साधनके बोलनेपर प्रतिपक्षी अथवा जातिवादी कहता है, वादीके कथनको दूषित करनेका यत्न करता है कि प्रयत्न के बाद होना यह हुआ एक धर्म जिसे कि शब्दमें भी घटाया जा रहा और दृष्टान्त घट में भी घटाया जा रहा है। तो उस एक धर्मकी उपपत्ति है इसमें और इस कारण अनित्यपनेका अविशेष है अर्थात् अनित्यपना मान लिया गया है, तो अब एक और ऐसा धर्म देखिये कि जो दोनोंमें पाया जाता, जैसे सत्त्व धर्म। यो कह दीजिये कि शब्द अनित्य है सत्त्व होनेसे, क्योंकि एक धर्म दोनोंमें समान रूपसे पाया जाय उसके द्वारा साध्य सिद्ध किया जा रहा है तो यहाँ अब सत्त्व हेतु कह देंगे-जो दोनोंमें पाया जा रहा है। तो सत्त्व धर्म कहकर फिर समस्त पदार्थोंमें अनित्यपनेकी अविशेषता आ जायगी, और इस तरह फिर यह एक दूषण आता है सत्त्व होनेके कारण। सभी पदार्थ अनित्य कहाँ हैं ?

अविशेषसमा जातिकी दूषणाभासता—अविशेषसमा जातिमें दूषणाभासपना है। वस्तुत: दूषण नहीं है क्योंकि उस प्रकार साधना करना अशक्य है। जैसे प्रयत्नके बाद होना यह साधन धर्म अनित्यत्वरूप साध्यको शब्दमें सिद्ध करता है इसी प्रकार सब अर्थोंमें एक सत्त्व धर्म बनाकर साध्यके विरुद्ध अर्थात् विपक्ष याने नित्य आकाश आदिकमें भी सत्त्वके होनेपर भी विपरीतकी ही उपलब्धि है याने प्रकृतमें जो साध्य बताया गया है अनित्य होना उससे विपरीत है नित्य याने सत्त्व धर्म अनित्य पदार्थोंमें भी सगत होता है और नित्यमें भी सगत होता है। तो इस तरह यह अनैकान्तिक हेत्वाभास हो गया। और उस ही हेत्वाभासकी बात कह करके इस साधनको दूषित कर दिया जायगा, जो कि प्रतिवादीने जाति नामसे दूषण रूपमें उपस्थित किया तब यह दूषण तो न रहा, यह दूषणाभास हो गया।

उपपत्तिसमा जातिका परिचय—एक जाति है उपपत्तिसमा जाति। दोनों कारणोंकी उपपत्ति होनेसे उपपत्तिसमा जाति बनती है। जैसे इसी अनुमानमें कि शब्द अनित्यत्वके बाद होनेसे तो यहाँ "प्रयत्नके बाद होनेसे" इस साधनके प्रयुक्त कर दिये जानेपर प्रतिपक्षी अथवा जातिवादी कहता है कि यदि अनित्यपना होनेमें कारण प्रयत्नानान्तरीयकपना है शब्दमें और इसी कारणसे ये शब्द अनित्य हैं तो देखिये कि नित्यत्वका भी कारण अस्पर्शवत्त्वपना है इस कारण नित्य भी हो जाय। अर्थात् शब्द

को प्रयत्नानन्तरीयकपना बोलकर अनित्य सिद्ध किया जा रहा है वादीके द्वारा, तो प्रतिवादी यहाँ दूषित करता है उपपत्तिसमा जाति बनाकर कि जैसे प्रयत्नानन्तरीयकत्व होनेसे शब्द अनित्य है तो शब्द स्पर्शवान नहीं है तो अस्पर्शवान होनेसे जैसे आकाश अनित्य है तो अस्पर्शवान होनेसे शब्द नित्य हो जायगा। अब यहाँ दो, साध्योंके दो कारण समानरूपसे कहे गए। तो नित्यपना और अनित्यपना दोनोंके कारणके हेतुवोंमें साधनोंमें उपपत्ति बताकर दूषित कर देना इसको उपपत्तिसमा जाति कहते हैं, लेकिन यह दूषणाभास है। ऐसा बोलने वालेने स्वय ही अनित्यपनेका कारण प्रयत्नानन्तरीयकपना मान ही लिया है। और, जब प्रयत्नानन्तरीयकपना, शब्दमें, मान लिया गया, तब फिर अन्य बात कैसे उत्पन्न हो जायगी ? जब एक बात प्रथम सिद्ध हो गयी तब उपपत्तिसमा जातिके व्याध्यमसे उसमें अब साध्यसे विपरीत साध्य सिद्ध करना यह सम्भव नहीं होता।

उपलब्धिसमा जातिका परिचय—एक जातिका नाम है उपलब्धिसमा जाति। विशिष्ट कारणका अभाव होनेपर भी साध्यके उपलम्भ होनेसे उपलब्धिसमा जाति बनती है अर्थात् साध्यधर्मकी सिद्धिका कारणभूत कुछ न बननेपर भी और साध्य धर्मकी उपलब्धिसे वहां वादीको दूषित करनेको ही उपलब्धिसमा जाति कहते हैं। जैसे इसी अनुमानमें कि शब्द अनित्य है प्रयत्नानन्तरीयक होनेसे। तो यहाँ इस साधनके बोलनेपर अब प्रतिवादी अथवा जातिवादी दूषण देता है कि देखिये जब वृक्षकी शाखा आदिक टूटती है तो शाखा आदिके भगसे उत्पन्न हुए शब्दमें प्रयत्नानन्तरीयपना तो नहीं है और वह शब्द अनित्य है तो यह कहना कि जो प्रयत्नानन्तरीयक होता है वह अनित्य होता है यह अप्रसिद्ध है, देखो शाखा आदिकके भगसे उत्पन्न होने वाला शब्द अनित्य तो है पर प्रयत्नानन्तरीयक नहीं है। किसी पुरुषके प्रवचनके अनन्तर उत्पन्न हुआ नहीं है। इस तरह योग सिद्धान्तमें उपलब्धिसमा जाति बतायी गई है लेकिन वह दूषण नहीं है, दूषणाभास है, क्योंकि जो बात इस प्रकृतमें सिद्ध की जा रही है, दूषण देते हुए प्रतिपक्षीने जो बात अनुमानमें साध्य साधनकी कही है। तो उस साध्यके साथ साधनका अविनाभाव नहीं है। साधनके बिना साध्य नहीं होता, यह नियम नहीं है। किन्तु साध्यके अभावमें साधनका अभाव होता है, ऐसा इसमें नियम उपपन्न होता है। जैसे कि इस पर्वतमें अग्नि है धूम होनेसे, तो यहाँ यह नियम नहीं बनाया जा सकता है कि जहां जहाँ अग्नि होती वहाँ धूम अवश्य होता। लेकिन यह नियम बनाया जायगा कि अग्नि यदि नहीं है तो धूमका अभाव है। तो साध्यके अभावमें साधनके अभावके होनेका नियम है। किन्तु, जहाँ जहाँ साध्य हो वहाँ साधन होना ही चाहिए ऐसा इसमें नियम नहीं है। और दूसरी बात यह है कि अनित्यधर्मे प्रयत्नानन्तरीयकपना ही गमक नहीं है, किन्तु उत्पत्तिमत्त्व आदि अनेक साधन भी अनित्यत्वके गमक हैं। इस कारण उपपत्तिसमा जातिसे वादीकी हार करना और जातिवादीकी जीत घोषित करना यह सम्भव नहीं है

अनुपलब्धिसमा जातिका परिचय—एक अनुपलब्धि समा जाति भी है कि पक्ष आदिकको अनुपलब्धिके अनुपलम्भसे पक्षादिक अभावके अभावकी सिद्धिमे उससे विपरीतकी उपपत्ति बताना यह अनुपलब्धिसमा जाति है। जैसे एक अनुमान बनाया कि उच्चारणसे पूर्व शब्द अविद्यमान है अनुपलब्धि होनेसे जैसे कि उत्पत्तिके पहिले घट आदिक अविद्यमान हैं। उच्चारणसे पहिले विद्यमान शब्दकी अनुपलब्धि नहीं है। ऐसा नही कह सकते क्योंकि शब्दके आवरणकी अनुपलब्धि होनेसे। जैसे घटपर आवरण डाल दिया, अब वहां घटकी अनुपलब्धि हो रही है। तो यह बात तब ही कह सकते जब घटके आवरणकी उपलब्धि होती रहे, इसी प्रकार आवरणसे पहिले शब्दकी अनुपलब्धि नही बताई जा सकती। अगर अनुपलब्धि बतायें तो आवरक बताना पडेगा सो आवरककी अनुपलब्धि होनेसे शब्दकी अनुपलब्धि नही कही जा सकती। जैसे उत्पत्तिसे पहिले घट आदिककी अनुपलब्धि नही कही जा सकती, क्योंकि आवरणकी अनुपलब्धि है। परन्तु जिसको देखनेसे पहिले विद्यमानकी अनुपलब्धि हो उसके ही आवरणकी अनुपलब्धि नही होती। जैसे भूमिमें आवृत्त हुआ जल है तो कहेंगे कि जलकी अनुपलब्धि है। क्योंकि जलका आवरण भूमि पायी जा रही है। सो ऐसे ही शब्दके सुननेसे पहिले शब्दके आवरणकी अनुपलब्धि है। इस तरह वादीने अनुमान दिया, उसपर प्रतिवादी जातिवादी कहता है उस शब्दकी अनुपलब्धि का अनुपलम्भ होनेसे शब्दकी अनुपलब्धिके अभावकी सिद्धि किए जानेपर शब्दके अभावका विपरीतपना होनेसे भावकी उपपति हो जायगी। यों यह अनुपलब्धिसमा-जाति बन जायगा। लेकिन, यह अनुपलब्धिसमा दूषण नही है, यह दूषणाभास है क्योंकि अनुपलब्धिकी भी अनुपलब्धि स्वरूपसे उपलब्धि पायी जाती है अर्थात् अनुपलब्धि अनुपलब्धित्व रूपसे तो उपलब्ध है। भा जैसे कि उपलब्धि उपलब्धिका विषय है इसी प्रकार अनुपलब्धि अनुपलब्धि रूपसे उपलब्धिका विषय है। यदि अनुपलब्धि रूपमे यदि अनुपलब्धि उपलब्धिका विषय न बने तो ऐसा सम्वेदन फिर कैसे बन सकता है कि मेरेको घटकी उपलब्धि है परन्तु उसकी अनुपलब्धि नहीं है, यह सम्वेदन यह सिद्ध करता है उपलब्धि अनुपलब्धिका विषय है और अनुपलब्धि भी अनुपलब्धि रूपसे उपलब्धिका विषय है। इससे अनुपलब्धिसमाजाति दूषणके लिए नहीं हो सकती है।

अनित्यसमाजातिका परिचय—२२ वीं जाति है अनित्यसमाजाति। इसका लक्षण न्याय सूत्रमें इस प्रकार बताया है कि साधर्म्य होनेसे समान धर्मकी उपपत्ति होनेके कारण समस्त पदार्थोंमे अनित्यत्वका प्रसग होना इसे अनित्यसमा जाति कहते हैं। जैसे अनुमान किया कि शब्द अनित्य है कृतकपना होनेसे घटकी तरह। वादीके द्वारा इस प्रकार अनुमान कहे जानेपर प्रतिवादी अर्थात् जातिवादी यहाँ दूषण देता है कि यदि घटके साथ शब्दका साधर्म्य कृतकत्व आदिकके द्वारा अनित्यपनेको सिद्ध करता है तो समस्त वस्तुएं अनित्य हो जायेंगी, क्योंकि अनित्य घट

आदिकके साथ अथवा अनित्य धर्मके साथ सत्त्व धर्म भी रहता है और उस सत्त्वधर्म को मुख्य करके हेतु करके फिर साधर्म्य मात्रसे अर्थात् साध्यका सर्वत्र अविशेष है अतएव सभी वस्तुएँ अनित्य बन जायेंगी सो अनित्यसमाजाति कही गई है लेकिन इस अनित्य समाजातिमें दूषणाभासपना है क्योंकि प्रतिसेधकी असिद्धिका प्रसंग आता है अर्थात् प्रतिपक्षकी असिद्धिके प्रसंग आते हैं। यदि यह अनित्यसमाजाति दूषणाभास न हो तो प्रतिपक्षकी भी असिद्धि बन जायगी अर्थात् वादीके मतव्यका खण्डन करनेके लिए प्रतिवादीने जो कुछ भी उत्तर दिया है। सिद्ध करना चाहा है उसकी भी असिद्धि हो जायगी। देखिये इस प्रसंगमें प्रतिसेध्य तो बताया जा रहा है पक्षको और प्रतिसेधक हो रहा प्रतिपक्ष और ऐसा होता ही है। जिसने पहिले बोला वह तो उसका पक्ष हुआ। अब उसपर कोई बोले असिद्ध करनेके लिए तो वह प्रतिपक्ष प्रतिसेधक हुआ। अब यहां देखिये कि पक्ष और प्रतिपक्ष दोनोंमें सदृशता है एक प्रतिज्ञा योगके सम्बन्धसे। प्रतिज्ञा आदिकका विधान जैसे पक्षमें किया गया है उसी तरह प्रतिज्ञा आदिकका विधान प्रतिपक्षमें भी किया गया है। तो प्रतिज्ञा आदिकके लगाव बिना पक्ष और प्रतिपक्षकी मुद्रा ही नहीं बनती। तब प्रतिज्ञा आदिकके सम्बन्ध होनेपर जैसे पक्षकी असिद्धि की गई है इसी प्रकार प्रतिपक्षकी भी असिद्धि हो जायगी। यदि कहो कि साधर्म्य होनेपर भी पक्ष और प्रतिपक्षमेंसे पक्षकी ही असिद्धि होगी, प्रतिपक्षकी न होगी तो उत्तरमें कहते हैं कि इसी प्रकार यह भी तो कहा जा सकता है कि घटके साथ साधर्म्य होनेसे कृतकत्व धर्म द्वारा शब्दमें ही अनित्यताकी सिद्धि होगी। समस्त पदार्थोंमें केवल सत्त्वके साधर्म्यमात्रसे अनित्यताकी सिद्धि न होगी अर्थात् जैसे शब्द कृतक है और सत् भी है तो जैसे शब्दमें कृतकत्व हेतु पाया जा रहा है सो सत्त्व भी तो पाया जा रहा। अब जैसे कृतकत्वके द्वारा अनित्यपनेकी सिद्धि की जा रही है, उसी तरह सत्त्वके द्वारा भी अनित्यपनेकी सिद्धि कोई करे तो वह युक्त नहीं होगा। इस प्रकार जब कि सत्त्वके द्वारा अनित्यकी सिद्धि करेंगे तो सत्त्व तो सभी पदार्थोंमें है। फिर तो सभी पदार्थ अनित्य बन जायेंगे ऐसी सदृशता देकर सब पदार्थोंमें अनित्यताकी सिद्धि नहीं हो सकती।

नित्यसमा जातिका परिचय २३ वीं जाति है नित्यसमाजाति। शब्दको अनित्य कहनेपर नित्यत्वका दूषण देना नित्यसमा जाति है। अर्थात् पक्षका जो अनित्यत्व धर्म है उस अनित्यत्व धर्मको नित्यत्वके आपादन करनेसे उसमें जो पक्षको दूषित कर दिया जाता है वह नित्यसम जाति कहलाती है। जैसे कहा गया कि शब्द अनित्य है तो यहाँ शब्दका अनित्य कहा जानेपर प्रतिवादी यह दूषण देता है कि शब्दका आश्रयभूत वह अनित्यत्व धर्म अर्थात् शब्दमें जो अनित्यत्व धर्मकी सिद्धिकी जा रही है सो शब्दमें रहने वाला वह अनित्यत्व धर्म क्या नित्य है या अनित्य ? यदि कहो कि नित्य है तो शब्द भी नित्य हो जायगा। अन्यथा इस नित्य अनित्यत्वका आधार शब्द नहीं बन सकता। यदि कहो कि शब्दमें रहने वाला अनित्यत्व धर्म अनित्य है तो भी

यही दोष आता है कि अनित्यत्वका अनित्य मान लेनेपर अर्थ क्या हुआ कि शब्द नित्य हो गया। शब्दमे रहने वाला अनित्यत्व धर्म यदि अनित्य है याने सदा नही रहता है तो न रहा अनित्यत्व सदा, इसका अर्थ यह हो बैठेगा कि शब्द नित्य हो गया। इस तरह कहकर वादीके अनुमानको दूषित कर देना यह नित्यसमा जाति कहलाती है। किन्तु इसमें भी दूषणाभासपना है क्योंकि प्रकृत साधनका यह अविनाभावी नहीं है। उत्पन्न हुए पदार्थके प्रध्वसको अनित्य कहा करते हैं और उस अनित्यका परिज्ञान करनेपर अनित्यत्वको अगीकार करनेपर फिर उसके प्रतिषेधका विरोध है। अब निषेध नही किया जा सकता और यदि स्वय शब्दमे अनित्यत्वको अगीकार न किया तब फिर प्रतिषेध ही किसका किया जायगा ? यहा प्रतिषेध किया जा रहा था अनित्यत्वका और अनित्यत्वको अगीकार नहीं किया तो प्रतिषेध निराश्रय हो गया इस कारण नित्यत्वका दूषण देनेसे नित्यत्वका आपादन करनेसे शब्दमे अनित्यता निराकृत नही की जा सकती।

कार्यसमा जातिका परिचय – २४ वी जाति है कार्यसमा जाति। इस जाति का न्याय सूत्रमे यह लक्षण किया गया है कि प्रयत्नसे अनेक कार्य होते हैं इस कारण कार्यसमा जाति हो जाया करती है। जैसे वादीने अनुमान बनाया कि- शब्द अनित्य है प्रयत्नके अनन्तर होनेसे, ऐसा कहा जानेपर प्रतिवादी दूषण देता है कि प्रयत्नके अनन्तर घट आदिकोंका उत्पत्तिसे पहिले जो कि असत् हैं इनका आत्मलाभ भी प्रतीत होता है और आवरण करने वाले पदार्थोंके हटा देनेसे पहिले सत् रहने वाले पदार्थों की अभिव्यक्ति भी प्रतीत होती है, अर्थात् वादीने जो अनुमान किया है कि शब्द अनित्य है और उसमें हेतु दिया है कि प्रयत्नके बाद होनेसे, तो प्रयत्नके बाद तो दोनो ही बातें हो सकती हैं। पदार्थोंकी उत्पत्ति हो जाय अथवा पदार्थोंकी अभिव्यक्ति हो जाय, जैसे घट रखे हैं और उनपर कपडेका पर्दा डाल दिया। अब पर्दा हटानेका प्रयत्न किया पुरुषने तो उस प्रयत्नके बाद हुआ क्या ? घटोकी अभिव्यक्ति। और कुम्हारने मिट्टी सानकर चाकपर रखकर घडा बनाना शुरू किया तो घडा बनेगा, वह भी प्रयत्न के बाद बनेगा। तो यहाँ प्रयत्नसे क्या हुआ ? घटकी उत्पत्ति। तो प्रयत्नके द्वारा दोनो ही प्रकारके कार्य हो जाते हैं– घटकी उत्पत्ति भी हो सकती है और घटकी अभिव्यक्ति भी हो सकती है। प्रयत्नके बाद पहिले सत् रहने वाले पदार्थोंकी तो अभिव्यक्ति हुई है और पहिले न रहने वाले पदार्थोंकी उत्पत्ति हुई है। तब प्रयत्नानन्तरीयकपना इस हेतुके अब दोनो साध्य हो गए—उत्पत्ति भी साध्य है और अभिव्यक्ति भी। तो जहाँ अभिव्यक्ति होती है वहाँ तो अनित्यता नही मानी जा सकती। जहाँ उत्पत्ति होती वहाँ ही अनित्यता मानी जा सकती है। तो अब यहा शब्दका अनित्य कैसे सिद्ध किया जा सकता है ? प्रयत्नानन्तरीयकपना अभिव्यक्ति भी सिद्ध करता है और अभिव्यक्ति सिद्ध करनेके कारण नित्यत्वको सिद्ध करता है। इस तरह प्रयत्नके अनेक कार्य बताकर प्रकृत कार्यके विरुद्ध कार्य उपस्थित करके उस हेतुका अन्य साध्य

बता देना यह कार्यसमा जाति कहलाती है। अब परखिये इस नित्यसमा जातिमें भी दूषणाभासपना है, क्योंकि प्रकृतसाधनका यह अविनाभावी नहीं है। देखिये शब्द जो कि पहिले असत् है उसको अब स्वरूप लाभ हुआ याने शब्द बना सो यही जन्म कहलाता है और यही प्रयत्नके बाद हुआ है, क्योंकि उच्चारणसे पहिले अनुपलब्धिका निमित्तभूत आवारक पदार्थके अभावमें भी अनुपलब्धि होनेसे सत्त्व असम्भव है। अतएव वादीके द्वारा कहे गए उस अनुमानमें कि शब्द अनित्य है प्रयत्नके अनन्तर होनेसे इसमें जो प्रतिवादीने कार्यसमा जाति बताकर दूषित किया है वह उसका दूषण सही नहीं है, किन्तु दूषणाभास है।

जातिमात्रसे जय पराजयकी व्यवस्थाकी अशक्यता—उक्त प्रकारसे जो २४ प्रकारकी जातियाँ बताकर यौग सिद्धान्तने जीत और हारकी व्यवस्था बनायी सो यों जीत और हारकी व्यवस्था बनायी सो यों जीत हारकी व्यवस्था तो बन ही नहीं पाती। विद्वद्जन उन सबके बीच समझ लेते हैं कि यह जबरदस्तीका उत्तर है और यह असमर्थ वचन है। जिस जिस जगह हेतुमें दूषण आया, अनुमान दूषित हुआ उन उन सब जातियोंमें साधनाभास, पक्षाभास आदिक दोष जो कि पहिले बताये गए यहाँ घटित होते हैं सब अन्य अन्य शब्दोंमें यौगसिद्धान्त उनको जातिका रूप देता है। सो उन जातियोंके कथनसे जय पराजयकी व्यवस्था भी नहीं बनती, और पहिले तो यही बात है कि यौग सिद्धान्तमें कल्पित जातियोंका उक्त सामान्य और विशेष स्वरूप का बनाना अयुक्त है, क्योंकि इस तरहसे लक्षण बनानेपर जो साधनाभास है हेत्वाभास हैं उनमें भी साधर्म्य आदिकके द्वारा बताया गया दूषण होनेके कारण उन साधनाभासोंमें भी जातित्वका प्रसंग आ जायगा फिर वे साधनाभास भी न कहला सकेंगे। उनमें साधनाभासता न रहेगी। इसपर प्रतिवादी कहता है कि यह बात तो इष्ट ही है, उन साधनाभासोंमें यदि जातित्वका प्रसंग आता है तो आने दो, इसमें हम कोई दोष नहीं समझते। जैसे कि मिथ्या साधनके प्रयोग करनेपर जो जातियोंका प्रयोग किया गया है, जातिवादीने जो जातिका प्रयोग किया है सो या तो उसने साधनके दोषका परिज्ञान न होनेसे किया है या फिर प्रसंगके छलसे उसका दोष बतानेके लिए किया है। अब उत्तरमें कहते हैं कि यह बात भी असंगत है, क्योंकि यौगसिद्धान्तमें हुए उद्योतकर ऋषिने भी साधनाभासके प्रयोगमें जातिके प्रयोगका निराकरण किया है अर्थात् साधनाभासमें जातिका स्वरूप लगाकर साधनाभासको तो गौण दोष कह दिया जाय और जाति दूषणको मुख्य बना दिया जाय, ऐसी बातको उद्योतकरने भी पसंद नहीं किया है।

साधनाभासको जानकर जातिप्रयोग करनेकी निरर्थकता—अच्छा, यह बतलावो कि जातिवादी इस समय क्या यह समझता है कि यह साधनाभास है या सा समझता नहीं है। यदि वह जानता है कि यह साधनाभास है तो अब ही इस

वादीके साधनाभासपना रूप हेतु दोष इस प्रतिवादीने जाना तब एक साधनाभास ही बोलना चाहिए, जाति न बोलना चाहिए, क्योंकि वहाँ जातिवादके प्रयोगके प्रयोजनका अभाव है। जाति बोलकर क्या करना चाहिए था ? अनुमानको गलत बताना चाहिए था, लेकिन जब पहिले इस प्रतिवादीने साधनाभास जान लिया तो साधनाभासके ही ही द्वारा वह अनुमान गलत साबित हो गया, अब अन्य क्या प्रयोजन रहा ? जिससे कि साधनाभास जानकर भी अब यह जातिदोषको बतानेका प्रयत्न करे और यह भी बात नही बनती कि प्रसगके व्याजसे दोषको दिखानेके लिए ही जाति कही गई। क्योंकि फिर इसमे दोषका सशय बन जायगा।

साधनाभासवादीके प्रति जातिप्रयोग करनेसे भी जातिवादीके पराजयका निर्णय -यदि प्रतिवादीके द्वारा जातिके प्रयोग किए जानेपर साधनाभासवादी अर्थात् पूर्वपक्षवादी अपने द्वारा कहे गए साधनमें दोषको देखता हुआ अर्थात् वह वादी साधनको तो कह गया, पर उसे यह भी विदित है कि इस साधनमे यह दोष है। सो यो अपने कहे गए साधनमें दोषको देखता हुआ सभामें इस तरह बोल दे कि मेरे द्वारा कहे गए साधनमे दोष तो यह है, इसे इस प्रतिवादीने बताया नही और जाति का प्रयोग करने लगा इस प्रकार यदि पूर्वपक्षवादी यो कहदे तो फिर जातिवादी की जीतका प्रयोजन तो अब न रहा, क्योंकि ऐसा कहनेमे वादी प्रतिवादी दोनोका ही अज्ञान सिद्ध हो जाता है। वादीने चूक करके साधनाभास बोल दिया, तो सभामे बैठे हुए विद्वत्जन उसका अज्ञान तो जान ही रहे हैं और फिर प्रतिवादीने उसको चुप करनेके लिए जातिका प्रयोग किया और उस जातिकी दूषणाभासका अथवा जातिका ही एक प्रयोग करने वाला रहा। दोषको न समझ सका इससे पूर्वपक्षवादी स्वय ही कह डाले तब दोनोका अज्ञान सभासदोकी बुद्धिमे सिद्ध हो जाता है। वहाँ यह भी नही है कि प्रतिवादीकी हार न होती तो बराबरी तो रहती। सो बराबरी भी नही रहती क्योंकि जहा पूर्णतया जय सम्भव नही है। वहाँ बराबरी मानी जा सकती है। योगोके सिद्धान्तमे कहा भी है कि जहाँ बिल्कुल हार होती हो वहा सदेह ही डाल दे तो वह भी अच्छी बात है। पूरी हार होनेसे हारका सन्देह बन जाय तो वह भलाई है। तो इस तरह सन्देह तक भी नहीं बनता, समता भी नही बनती। वहा तो सब को जातिवादीकी हारका परिज्ञान है। यदि वह प्रतिपक्षी जातिका प्रयोग भी नही करता तो भी उसकी पराजय सबके लिये सिद्ध थी, जैसे कि पूर्वपक्षवादीने साधनाभास बोला याने मिथ्या हेतु बोल दिया। अब वादीके मिथ्या भाषणके बाद प्रतिवादी चुपचाप रह गया तो उसमें भी अज्ञानकी प्रसिद्धि है। और, कदाचित् प्रतिपक्षी कुछ कह दे, जातिका प्रयोग करदे तो उसमे भी दोनोंके अज्ञानकी सिद्धि है। सभामे बैठे हुए विद्वान लोग दोनोको समान दृष्टिसे देखते हैं अर्थात् अज्ञानरूपसे देखते हैं, तब जाति का प्रयोग करना निरर्थक रहा ना। साधनाभासको बताते तब तो उसमे उसका महत्त्व था। पूर्वपक्षवादीने कोई बात कही और उसमें जो दलील दी, हेतु कहा वह था मिथ्या

तो यदि दूसरा याने प्रतिपक्षी प्रतिवादी वादीके कहे गए साधनमें ही दूषण बतादे कि इसका कहना यों हेत्वाभास है तब तो प्रतिवादीकी जीत कहला सकती है लेकिन साधनाभास तो बताया नही, और जातिका प्रयोग करने लगो तो इसका अर्थ तो यो होता है कि जैसे किसीको उत्तर देते तो बने नही और उत्तर न दे सकनेके कारण कुछ यहाँ वहाँकी अथवा गाली गलौज जैसी बात कह डाले तो इससे विद्वान उस प्रतिपक्षी की जीत तो न मान लेंगे। वे तो समझेंगे कि यह खीज गया है। और खीज करके अनाप सनाप बोलता है।

स्वय माघनाभासताका उद्भावन न करने वाले साधनाभासवादीके जातिप्रयोग करनेसे जातिवादीकी पराजयका निर्णय—अब और भी देखिये! जिस समय साधनाभासवादी अपने साधनमें जो दोष है उसको ढाँककर और दूसरेके द्वारा कही गई जातिका उद्भावन करता है, जातिको ही खोल देता है तो उस समय भी जातिवादीकी जीत अथवा समता नही हो पा रही है। वहाँ भी जातिवादीकी पराजय ही सम्भव है। उक्त कथनका निष्कर्ष यह है कि वादीने कोई बात कही और उसमें जो साधन दिया वह था झूठा तो साधनमें जो गलती है उस साधनाभासपनेको यदि प्रतिवादी बता देता है तब तो प्रतिवादीकी जीत है और वादीकी हार है लेकिन वादीके द्वारा कहे गए साधनाभासमें साधनाभासताकी बात तो कहे नही कोई और छल व्याज करके जातिका प्रयोग करे तो सभामें बैठे हुए सभाजन दोनोका ही अज्ञान समझेंगे। तो इस तरह भी जातिवादीकी जीत नही, न समता है। तब यह कहना कि प्रसगके व्याजसे दोषको दिखानेके लिए ही जातिका प्रयोग है, सो वह अयुक्त है क्योंकि इससे उनके प्रयोजनकी सिद्धि नही हुई बल्कि दोषमें सशय हो, गया।

साधनाभासताका अपरिज्ञान होनेपर भी जातिप्रयोगमे जातिवादीकी पराजय—अब यदि यह कहो कि प्रतिवादी यह साधनाभास है यह न जानकर, यह न बताकर जातिका प्रयोग करता है तो इसके उत्तरमें भी सुनो! यह साधनाभास है, ऐसा न जानकर, ऐसा न करकर यदि प्रतिवादी जातिका प्रयोग करता है तो भी उस का परिश्रम व्यर्थ है। जातिका प्रयोग करना निष्फल है क्योंकि इसमे भी जातिवादी की हार ही है, जीत नही है। देखिये! वादीने समीचीन साधनका प्रयोग किया, तो वादीके द्वारा सही साधनका प्रयोग किया जाना प्रतिवादीकी हारके लिए हो है। जातिवादी यहाँ शकाके रूपमें रखता है कि भाई! चुप हो जानेपर तो लोग जान ही जाते कि यह हार गया। तो उस चुप हो जानेसे भला तो यह है कि चाहे झूठा भी उत्तर बने, पर जातिका प्रयोग करदें और झूठा भी उत्तर देकर उस वादीको निरुत्तर करदे तो इसमें इतना तो मुनाफा हो गया कि जो बिल्कुल हार हो रही थी, लोग समझ रहे थे कि यह कुछ भी नही जानता, यह तो पूरा हार गया, तो उससे तो यह भला है कि कमसे कम सन्देहकी बात तो आ गई। अब जातिवादीके इस प्रलापको

सुनकर कमसे कम सभासद यह तो जान लेंगे, सन्देह कर लेंगे कि किसकी जीत हुई और किसकी हार हुई। इस प्रतिवादीकी बिल्कुल हार हुई तो नहीं दिखती, यह तो दनादन बोलता चला जा रहा है इस कारण जयके लिए जातिका प्रयोग कर देना कुछ सफल होता ही है। इसके उत्तरमें कहते हैं कि यह बात कहना भी असगत है। जातिका प्रयोग कर देनेपर भी सर्वथा पराजय जैसा होनेको था वह अब भी हार है। क्योंकि जिस प्रकार सभामें बैठे हुए विद्वत्जनोंने यह देखकर कि वादीने जो कुछ अपना पक्ष रखा उसपर यह प्रतिवादी उत्तरपक्षवादी चुप रह गया तो मालूम होता है कि इस प्रतिवादीको उत्तरका ज्ञान नहीं है। तो उन सभासदोंने, उन निर्णायकोंने उत्तरका अपरिज्ञान न समझनेके कारण प्रतिपक्षीकी पराजय निर्णीत करली है उसी प्रकार अगर यह प्रतिपक्षी जातिका प्रयोग भी करदे तो क्या विद्वत्जन यह नहीं जानते कि इससे उत्तर देते बना नहीं और यहां वहांकी बात ढूंढकर इसके चुप करनेके लिए जातिका प्रयोग कर रहा है। तो जिस प्रकार चुप रह जानेपर प्रतिवादीकी हार सभासदोंके द्वारा करनेपर भी प्रतिवादीकी हार सभासदोंके द्वारा जान ली जाती है, क्योंकि सभासद दोनों स्थितियोंमें समझ रहे हैं कि इस प्रतिवादीको उत्तर का परिज्ञान नहीं हुआ और जो जातिका प्रयोग किया है वह भी तो असत्य उत्तर है तो झूठा उत्तर क्या उत्तर कहलाता है, वह तो अनुत्तरकी ही तरह है। तो प्रतिपक्षी यदि चुप रहे तो भी हार है और जातिका प्रयोग करे तब भी उसकी हार है, जातिका प्रयोग करके जय कोई प्राप्त नहीं कर सकता।

पूर्वपक्षवादीकी उत्तरानुद्भावनमें हारकी आशंका व उसका समाधान

अब यहाँ शंकाकार कहता है कि वादीने कोई अपना मतव्य रखा और साधन भी उपस्थित किया। वह सम्यक् हो या मिथ्या हो यह बात तो जाने दीजिए, लेकिन किसी भी स्थितिमें यदि प्रतिपक्षीने जातिका प्रयोग किया, झूठा भी उत्तर दिया और उसके निराकरणमें उत्तराभासका उद्भावन अर्थात् यह झूठा उत्तर है ऐसा उसका मर्म खोल देनेकी बात यदि पूर्वपक्षवादी कर सका तब ही तो सभाके लोग इस प्रतिवादीकी हार हुई है ऐसा निर्णय कर पायेंगे। प्रतिवादीने कुछ भी कहा, जाति प्रयोग किया। यदि पूर्वपक्षवादी इस उत्तराभासकी बात खोल दे तब ही तो जातिवादीकी हार सभासद लोग निर्णीत कर सकेंगे, अन्यथा पर्यनुयोज्यकी उपेक्षा हो जानेसे अर्थात् प्रतिवादीने यह झूठा उत्तर दिया है, इस बातको न कह सकनेसे निग्रहप्राप्त प्रतिवादीका निग्रह न कर सकनेसे वादीकी ही हार होगी। समाधानमें-कहते हैं कि इस तरह तो जय और पराजयकी व्यवस्था कभी बन ही नहीं सकती। जब केवल बोलने पर ही दोषापत्ति करनेपर ही जातिकी व्यवस्था मानते हो तो प्रतिवादीने उत्तराभास बोला तो उसपर वादी भी बोल उठा, फिर उसपर प्रतिवादी भी बोलेगा। तब तो किसीकी जीत और किसीकी हार या तत्त्वका निर्णय ये कभी बन ही नहीं सकते। अब तो इस स्थितिमें यही कल्पना बनायी जा रही है कि जो चुप रह जायगा उसकी हार है और

जो बोलता चला जायगा उसकी जीत है। सो अब यहां दूसरेके खिलाफ बोलनेकी शक्ति समझमें आयी तो उससे जीत मान लो और बोलनेकी शक्ति समझमें न आयी उससे हार मान लो। यह कोई जय और पराजयकी व्यवस्था नहीं है। इस तरह व्यवस्था बनायी गई तो कुछ भी निर्णय न हो सकेगा। जैसे जातिवादी बोलता ही चला जा रहा है, चुप नहीं होता, इस तरह क्या वादी भी बोलता हुआ न चला जायगा ? ठीक उत्तर न ज्ञात होनेपर भी उत्तराभास तो जो चाहे दे सकता है। तो यों जातिके प्रयोग द्वारा जय और पराजयकी व्यवस्था नहीं बनाई जा सकती, क्योंकि दोनों ही वादी और प्रतिवादी बोलते ही चले जायें, वहाँ सच और झूठकी कोई परीक्षा नहीं होती है क्योंकि अब तो यहां बोलनेपर ही यह निर्भर किया जा रहा है कि किस की जय हुई और किसकी हार। इस तरह जिसने जातिका स्वरूप परखा वह और दूसरा वक्ता भी बोलता चला जायेगा उत्तरपक्षवादी वादीकी कही हुई बातमें कुछ भी परिहार करनेमें अगर शक्ति रखता है तो पूर्वपक्षवादीकी हार हुई और नहीं रखता है तो पूर्वपक्षवादीकी जीत हुई। सो यही बात जातिवादीमें भी लगाई जा सकेगी। जातिवादीकी कुछ बात कहे जानेपर यदि वादी कुछ बोल सका तो जातिवादीकी हार हुई, वादीकी जीत हुई न बोल सका तो जातिवादीकी जय हुई। ये कोई तत्त्व निर्णय के तरीके नहीं हैं। प्रसंग यह चल रहा है कि जातिका प्रयोग करके सभामें जीतकी व्यवस्था बनाना असंगत है, इसका कारण यह है कि वादीकी कही हुई बातपर प्रतिवादीने जातिका प्रयोग किया। अब वादी भी उसी प्रकार जाति प्रयोग करदे और प्रतिवादी भी करे तो इस तरह कहीं भी विराम न मिलेगा और जय पराजयकी व्यवस्थामें अनवस्था हो जायगी।

प्रतिवादीके जातिरूप असत् उत्तरके प्रयोगमात्रसे वादीके जात्युद्भावन की अशक्तिका अनिर्णय — अब शंकाकार यह कह रहा है कि जब वादीके प्रति जाति स्वरूप असत् उत्तरका प्रयोग कर दिया गया तो इतने ही मात्रसे यह निश्चय सबको हो गया कि वादीमें प्रतिवादीकी कही हुई बातके परिहार करनेकी शक्ति नहीं है तथा यह भी सिद्ध हो गया कि वादीमें प्रतिवादी द्वारा जातिरूप उद्भावसे दोषको दूर करने की शक्ति नहीं है, तब अब वादी जातिका प्रयोग करे तो उसका प्रयोग करना व्यर्थ है। एक बार सभासदोंके चित्तमें आ गया कि वादीमें प्रतिवादीके दोषोंको दूर करने की शक्ति नहीं है अथवा वह अपने साधनमें आये हुए दोषका परिहार नहीं कर सकता है तब फिर वादी यदि जातिका प्रयोग करे तो उसका मूल्य विद्वानोंके चित्तमें न रहेगा। फिर जय पराजयकी व्यवस्थामें अनवस्था न होगी। समाधानमें कहते हैं कि इस प्रकार प्रतिवादीकी जातिके प्रयोगसे ही वादीमें दोषके परिहारकी अशक्तिका निश्चय कर लिया है। तो यों ही प्रथम ही प्रतिवादीके द्वारा जातिका प्रयोग करनेसे, पहिले ही वादीके समीचीन साधनके कहने मात्रसे ही यह निश्चय हो गया कि प्रतिवादीने जो उत्तराभास कहा है उसकी पोल खोलनेकी शक्ति इस वादीमें बराबर है।

तब प्रतिवादीने जो प्रथम ही जातिप्रयोग किया उसकी विफलता क्यों न हो जायगी ? अर्थात् पहिले भी (प्रथम बार भी) जातिका प्रयोग करना निरर्थक हो जायगा। उससे जीत रूप प्रयोजनकी सिद्धि नहीं हो सकती है। शंकाकार कहता है कि वादीने जो समीचीन साधन कहा है उसका साधन वचनसे यह निश्चय होगा कि वादीके समीचीन साधनको ही कहनेका सामर्थ्य है, किन्तु यह सिद्ध न होगा कि प्रतिवादीके द्वारा दिया गया जातिके उद्भावन करनेका इसमें सामर्थ्य है। समाधानमें कहते हैं कि इस तरह तो जातिका प्रयोग करनेपर भी उस जातिवादीके याने उत्तराभासवादीके सम्बन्धमें यह निश्चय हो जाता है जाति प्रयोग करनेपर भी इस उत्तराभासवादीके जातिवादीको याने प्रतिवादीके समीचीन उत्तरको देनेका सामर्थ्य नही है। किन्तु यह निश्चय न हो जायगा कि उद्घाटित किये गये जातिके परिहारका सामर्थ्य नही है। तब जय पराजयकी व्यवस्थामे अनवस्था सर्वथा ज्योंकी त्यों खडी रह गयी।

जातिप्रयोगसे जय व्यवस्था माननेपर जातिप्रयोगका अनवस्था न होनेसे तत्त्वनिर्णयका अनवकाश—शकाकार कहता है कि समीचीन उत्तर देनेका सामर्थ्य न होनेसे ही दूसरेके द्वारा कही गयी जाति परिहारके असामर्थ्यका निश्चय होता है, क्योंकि परके द्वारा उद्भावित जातिके परिहारकी असामर्थ्यका सद्भाव होनेपर ही समीचीन उत्तरके बोलनेका सामर्थ्य नही होता है। उत्तरमें कहते हैं कि तो इस तरह समीचीन साधनके कहनेकी सामर्थ्यसे ही इस वादीके प्रतिवादी द्वारा कही गयी जातिके दूषणाभासताके उद्भावन करनेकी शक्तिका भी निश्चय हो जावो, क्योंकि जिस वादीमे प्रतिवादी द्वारा कही गयी जातिके उद्भावन करनेकी शक्ति नही है उसमें समीचीन साधनके कहनेका भी सामर्थ्य नही बन सकता। भला जो सही साधनका प्रयोग कर सकता है उसको क्या जाति छल निग्रह आदिक हथकडोकी दूषणाभासताका पता न हो सकेगा ? उसमें इतनी बुद्धि है ही। शकाकार कहता है कि समीचीन साधनके कहनेमें समर्थ होकर भी वादी कभी कभी जाति प्रयोगसे असत् उत्तरसे कुछ व्याकुल चित्त हो जाय तो उसमें जातिके उद्घटित करनेका सामर्थ्य होना अवश्यभावी नही हो सकता है। उत्तरपक्षवादी ऐसा समझता है कि वादी सच्चे साधनका प्रयोग करता है लेकिन वह भी कभी प्रतिवादीकी दोदापट्टीसे व्याकुलचित्त हो जाय और वह प्रतिवादीको जाति छल आदिकका प्रयोग करनेमें समर्थ न रहे, ऐसा भी तो हो सकता है और तब तीसरा जातिप्रयोग उसे करना चाहिये था, तो उत्तरमें कहते हैं कि फिर तो समीचीन उत्तरके कहनेमें असमर्थ हुए जातिवादीके भी अपने द्वारा कहे गए और परके द्वारा प्रकट किए गए उत्तराभासके परिहारमे सामर्थ्यकी सम्भवना होनेसे फिर तो चौथी बार जातिका प्रयोग करना अपेक्षणीय हो जायगा। और, फिर वादी भी अर्थात् जिसने पहिले साधनको कहा है ऐसे साधनवादी को भी उस प्रतिवादीकी चौथी जातिका परिहारके, निराकरणके लिए ५ वीं जातिका प्रयोग अपेक्षणीय हो जायगा। फिर उसके मुकाबलेमे जातिवादीके भी वादीकी कही हुई जातिके निराकरण करनेकी

योग्यता जितानेके लिए छठवीं बार जातिका प्रयोग करना आवश्यक हो जायगा। यों जाति प्रयोग ही की परम्परा चलती जायगी, फिर इसका कहीं ठहराव भी नहीं हो सकता। यों जय पराजयकी व्यवस्था न अनवस्थान सिद्ध ही हो जाता है। उक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि जाति प्रयोग करके जीतकी व्यवस्था नहीं बनायी जा सकती। वादी किसी मंतव्यको सिद्ध करनेके लिए प्रमाण उपस्थित करे और उसमें प्रतिवादी कोई साधनाभास पक्षाभास आदिक दोष न दे सके तो वादीकी जय है, प्रतिवादीकी पराजय है। और, कदाचित् उसमें दोष दे दिया साधनाभास आदिक कोई दोष था और उसका निराकरण वादी न कर सका तो वादीकी पराजय है और प्रतिवादीकी जय है। तो प्रमाण प्रमाणाभासके माध्यमसे तो जय-पराजयकी व्यवस्था बनती है, किन्तु जातिप्रयोगसे छल आदिकके प्रयोगसे जय-पराजयकी व्यवस्था नहीं बनती।

प्राप्त दोषका निग्रह न हो पानेसे अनवस्थादोषकी असंभवताकी आशंका — यहाँ जातिवादकी कथन प्रणालीमें अनवस्थाका दोष बताया जा रहा है। वादीके कथनपर प्रतिवादीने जाति बनाकर दोष दिया तो उसपर वादी भी दोष दे सकेगा। जाति व छलमें कोई समीचीन उत्तरके देनेका तो नियन्त्रण है नहीं, तो इस तरह अनवस्था दोष आ जायगा। कभी भी वाद समाप्त नहीं हो सकता, इसपर जातिवादी कहता है कि जाति प्रयोगसे जयव्यवस्था माननेमें अनवस्था दोष नहीं आ सकता है, क्योंकि यहाँ प्रतिवादीने पर्यनुयोज्योपेक्षणकी उद्भावना नहीं की है। वादीने कुछ कहा, उसपर प्रतिवादीने किसी जातिका प्रयोग किया उसके बाद जब प्रतिवादीके निग्रह प्राप्त दोषका उद्भावन नहीं कर रहा है अर्थात् प्रतिवादीके लिए वादी उसके कथनमें किसी दोषका उद्भावन नहीं कर रहा है तो अनवस्था दोष कैसे आयेगा? प्रतिवादी अपनी ओरसे ही किसी प्रकारकी जातिको ही उपस्थित कर रहा है और साथ ही उस प्रसंग में अब यह प्रश्न उत्पन्न होगा कि किसकी हार हुई है तो वहाँ बैठे हुए निर्णायक लोग पूर्वपक्षवादीके पर्यनुयोज्योपेक्षणको प्रकट करते हैं अर्थात् यहाँ यह प्रतिवादी दोषको प्राप्त होता था पर इसको यह वादी अभिव्यक्त न कर सका। और साथ ही यह भी बात है कि जातिवादीने तो छल किया ही सो वह निग्रह प्राप्त है ही, लेकिन जातिवादी स्वयं अपनी गलतीको तो न खोलेगा, और वादी है चुप, तो निर्णायक लोग उस प्रतिवादीके निग्रहप्राप्त दोषको यह वादी बयान न कर सका, इस तरह प्रकट कर देता है, इस कारण अनवस्थाका दोष नहीं आता। अनवस्थाका दोष तो तब आये जब निर्णायक लोग बीचमें उसमें किसी दोषको न बतायें। यदि वादी प्रतिवादी ही बोलते रहें और निर्णायकका कोई अधिकार न हो तब तो अनवस्था दोष आयगा। यहाँ शंकाकार यह बात कह रहा है कि वादीने कुछ कहा, उसपर प्रतिवादीने छल जातिका प्रयोग किया। अब उसके बाद निर्णायक लोग 'वादीने पर्यनुयोज्यकी उपेक्षा अर्थात् प्राप्त दोषकी उपेक्षा की' यह दोष बता देगा।

शंकाकार द्वारा परिकल्पित जयतिवन्धनरूप उत्तराप्रतिपत्तिके विकल्पो द्वारा समाधान— अब उक्त शंकाके समाधानमें पूछते हैं कि फिर तो निर्णायक लोग ही जाति आदिक प्रयोगका भी उद्भावन करदें, दोष प्रकट करदे, पूर्वपक्षवादी क्यो प्रकट करे। जब वादीके कहनेपर प्रतिवादीने जातिरूप बात कही और प्रतिवादीके दोषको कहनेकी आवश्यकता वादीको नहीं बता रहे। निर्णायक ही उसका निराकरण करदे तो प्रथम ही प्रथम जाति आदिकसे प्रयोगका भी निर्णायक उद्भावन करदे। यदि कहो कि वह निर्णायक पूर्वपक्षवादीके ही पर्यनुयोज्योपेक्षणको प्रकट करता है और जाति आदिकके प्रयोगको प्रकट नहीं करते। तो उत्तरमें कहते हैं कि यह तो उन निर्णायकोका बहुत बड़ा माध्य स्वभाव हो गया कि एकके दोषको प्रकट न करे। यह माध्यस्थ्य नहीं है, पूर्णपक्षपात है कि प्राश्निक लोग वादीके दोष बतायें और प्रतिवादीके दोषको न प्रकट करें। तो जब निर्णायकोमें माध्यस्थभाव न रहा तो अब दोदाघाट्टीकी बात रही। फिर तो जो चुप रह गया है वादी उसको यह प्रतिवादी यह कहकर ही कि इसको उत्तरका ज्ञान नहीं है, जो कुछ मैंने कहा है उसका यह उत्तर नहीं दे पा रहा है, उत्तरके परिज्ञानका अभाव है, इस प्रकार प्रकट करते हुए ही प्रतिवादी वादीका निग्रह करता है ऐसा मानना चाहिए। और जब ऐसा मानना चाहेंगे तो इस पक्षमे भी यहाँ यह बतलाता प्रतिवादी किस प्रकारके उत्तरके अपरिज्ञानकी उद्भावनाके द्वारा अपनी विजय घोषित करता है ? उत्तरवादीको उत्तरका ज्ञान नहीं है ऐसी जो घोषणा करता है उसका अर्थ क्या है ? क्या प्रतिवादीके द्वारा उपस्थित किये गए जातिके अपरिज्ञानका उद्भावनरूप अर्थ है ? उत्तरवादीको उत्तरका परिज्ञान नहीं है, इसका अर्थ क्या यह है कि प्रतिवादीके द्वारा उपस्थित किए गए जातिदोषका परिज्ञान नहीं या इसका यह अर्थ है कि वादीके द्वारा उद्भावित जात्यतरका निराकरण कर दिया गया है। उत्तरवादीने कोई दूसरी जाति बतलाया, दूसरा दोष बताया और उसका निराकरण कर दिया गया क्या यह अर्थ है है उत्तर अप्रतिपत्तिका अथवा उत्तरकी अप्रतिपत्तिका यह अर्थ है कि उत्तरका परिज्ञान ही नहीं है।

स्वोपन्यस्त जात्यपरिज्ञानके उद्भावनरूप उत्तराप्रतिपत्तिका निराकरण— उक्त तीन विकल्पोमेंमें यदि यह कहो कि प्रतिवादी जो अपनी विजय घोषित कर रहा है वह इस बलपर घोषितकर रहा है कि वादीको हमारी बातके उत्तरका ज्ञान नहीं है और उत्तरका परिज्ञान नहीं है, इसका अर्थ यह है कि मैंने जो जातिदोष उपस्थित किया है उसका परिज्ञान नहीं है, ऐसा माननेपर तो प्रतिवादीकी हार अवश्यभावी हो गयी। तब प्रतिवादी खुद कह रहा है कि जो सदोष वचन हैं उनका इस वादीको ज्ञान नहीं है। तो इतने कथनमात्रसे यह सिद्ध हो गया कि प्रतिवादीका वचन है सदोष और वादीका कथन है निर्दोष। प्रतिवादी यही तो कहेगा ना कि देखो मैंने

अपकर्षसमा जाति अथवा उत्कर्षसमा जाति या अन्य जातिका प्रयोग किया है, पर इस वादीने न जान पाया कि यह सदोष प्रयोग है। तो ऐसा कहनेसे, एक तो प्रतिवादीने यह प्रसिद्ध कर दिया कि मेरे द्वारा उपस्थित की गई बात जाति दोषरूप थी, उसका इसे अपरिज्ञान है। रहो अपरिज्ञान अथवा न रहो, इसका कोई निर्णय नहीं करे, तो भी इतना तो निश्चित हो गया कि प्रतिवादीने जो कथन किया है वह जातिदोषसे दूषित है और साथ ही यह भी प्रसिद्ध हो गया कि वादीने जो कुछ भी अपना मन्तव्य पेश किया है उसका प्रतिवादीसे ठीक उत्तर नहीं बन सका तभी तो छल जातिका प्रयोग किया है। साथ ही यह भी प्रसिद्ध हो गया कि यह प्रतिवादी असभ्यता करने वाला है। और, यह भी प्रसिद्ध हो गया कि प्रतिवादी वादीके साधनकी समीचीनताको प्रकट कर रहा है। क्योंकि प्रतिवादी अपने मुखसे यह कह देता है कि देखो! इस वादीने मेरा दोष, मेरा कपट, मेरा छल नहीं जान पाया है, तो इसके कहनेसे तो प्रतिवादीकी हार हो गई और वादीकी जीत हुई। तो जातिके पेश करनेसे लाभ कुछ न मिला, बल्कि पराजय ही हुई। इस कारण यह सिद्धान्त बना कि जय-पराजयकी व्यवस्था छल जाति आदिकके प्रयोगसे होती है, यह कथन बिल्कुल गलत है। समर्थ और असमर्थ वचनसे ही जीत-हारकी व्यवस्था हो सकती है।

प्रतिवादी द्वारा घोषित वादी द्वारा अविज्ञात दोषको स्वयं उद्भावित करते हुए प्रतिवादीकी पराजयका अनिराकरण—शंकाकार कहता है कि वादीने हमारे दोषको नहीं जान पाया और उस दोषको मैं स्वयं ही जाहिर कर रहा हूँ। ऐसी स्थितिमें प्रतिवादीकी हार न होनी चाहिए। यहाँ इस वादीने नहीं जान पाया ऐसा, उसका अपराध ही तो बताया जा रहा है। तो समाधानमें पूछते हैं कि वादीने यह दोष नहीं जान पाया, यह तुमने कैसे निश्चय किया? क्या यह जानकर निश्चय किया कि वादी चुप हो गया और प्रतिवादी बोलता ही जा रहा है। यदि ऐसा मतव्य हो तो ठीक नहीं है क्योंकि वादी सभ्य है, विद्वान् है। वादका विस्तार नहीं होगा, यह सोचकर वह चुप रह गया। अपने वचनोंपर नियंत्रण रखने वाले वादी लोग कभी भी सिद्धान्तसे विचलित नहीं हो सकते। बल्कि वादी जो चुप रहा वह जानता था प्रतिवादीके जातिदोषको और उसको स्वयं प्रकट भी कर देना चाहता था कि प्रतिवादी यहाँ यह छल जाति कर रहा है, लेकिन स्वयं न कहकर चुप रहकर उस प्रतिवादीके दोषको प्रतिवादीके द्वारा ही कहलवा दिया है; तो ऐसा जो दूसरेसे कहलवा देना है वह उसका विवेक है, अज्ञान नहीं है। इस कारण वादी यदि चुप रह गया तो इसका अर्थ यह नहीं कि वादी प्रतिवादीके छल और जातिको नहीं जानता है।

वादीके प्रतिवादीप्रयुक्तजातिदोषज्ञानका अभावरूप अप्रतिपत्तिकी असिद्धि—वादी जानता है कि यदि मैं स्वयं प्रतिवादीके कहे हुए जातिरूप दोषको प्रकट कर दूँ तो यह जातिवादी इसके परिहारके लिए फिर और कुछ बोलेगा और

इस तरह फिर कहीं वादका अवसान न हो सकेगा। साथ ही इस वादीने दो बातें भी चुप होकर सिद्ध करदी हैं। एक तो यह कि देखो इस प्रतिवादीके अज्ञानकी महिमा कि इस प्रतिवादीमें ऐसा अज्ञान बना हुआ है कि जिसने स्वय ही अपने कहे हुए वचन मे दोष समूहको प्रकट कर रहा है कि उसने जो कुछ भी कहा है वादीका चुप करने के लिए उसके वचनमे स्वयं यह दोष है। दूसरी बात यह प्रतिवादी अपने कहे हुए वचनमे दोष बताकर वादीके साधनकी समीचीनताको प्रकट कर रहा है। तो इस स्थितिमे वादीके चुप रह जानेसे वादकी जीत ही हुई है और प्रतिवादीकी हार हुई है इस तरह स्पष्टी कि जीत और हारकी व्यवस्थाके कारण समर्थ वचन और असमर्थ वचन हैं यदि यहां जातिवादी यह कहे कि पूर्व पक्षवादीने जो साध्य उपस्थित किया है उसपर मैं यह कहूँगा कि मेरे द्वारा प्रयुक्त यह जाति है और तुमने मेरे बतानेसे पहिले नहीं जाना और अब जाना तो उसके बतानेके बाद ही तो तुमने मेरे कथनका दोष जाना है पहिले तो नही जाना इस कारण अज्ञानके ही कारण यह पूर्वपक्षवादी चुप हो गया है अथवा प्रतिवादीने चुप कर दिया है और प्रतिवादी अपनी बातको बोलता ही गया। ऐसा कहनेपर समाधानमें कहते हैं कि इस वादके निर्णयमे क्या प्रमाण है ? केवल कसम खाना ही प्रमाण है। वही शरण है। वादीने प्रतिवादीकी जाति दोषको पहिले नही जाना और प्रतिवादीके स्वय दोष उगलनेपर जाना। इस बातकी सिद्धि नही की जा सकती है। शकाकार कहता है कि यह पूर्वपक्षवादी यदि मेरे जाति दोषको जानता भी हो और जान करके भी चुप रह गया हो अथवा इसपर कुछ और बोल देवे तो भी वाद ने समीचीन उत्तर तो नही दिया। उसकी जातिरूप दोष कहनेके बाद तो समीचीन उत्तरवादीका नही आया। फिर कैसे वादीकी हार न होगी ? समाधानमें कहते हैं कि यह बात तो जातिवादीके लिए भी समानतासे कही जा सकती है। जातिवादी जातिको उपस्थित भी करे तो भी जातिवादी समीचीन उत्तर तो नही दे सका। तब समीचीन उत्तर न देनेके कारण इस जातिवादीकी भी कैसे हार सिद्ध न होगी, क्योंकि जातियाँ जितनी हैं वे सब दूषणाभास रूप हैं। इस प्रकार उत्तरके अप्रतिपत्तिके सम्बन्धमे उठाये गए विकल्पसे प्रथम विकल्पकी बात नही बन सकती अर्थात् प्रतिवादीके द्वारा बताई गई जातिका वादीको ज्ञान नही है। इस प्रकार जो एक उद्भावन किया है, यही उत्तरकी अप्रतिपत्ति कहलाती है। और, इस प्रकार उत्तरकी अप्रतिपत्ति होनेसे वह वादी चुप हो गया है। इस तरह इस वादीको प्रतिवादी हरा ही देता है। यह बात सिद्ध न होगी।

जात्यन्तरनिराकरणरूप उत्तराप्रतिपत्तिकी मीमासा—अब यदि दूसरा विकल्प मानते हो कि वादीने जाति विशेष जो प्रकट की है इसका निराकरण हो गया है इससे यह ज्ञात हुआ कि वादीका उत्तरका परिज्ञान नही है और ऐसे उत्तरके अपरिज्ञानरूप स्थितिके कारण यह वादी हार जाता है। ऐसा दूसरा विकल्प कहना भी युक्त नही है, क्योंकि प्रतिवादीके द्वारा उपस्थित की गई जात्यंतरका निराकरण

नही हुआ, यह कैसे प्रतिवादी समझ जाता है ? क्या अपने द्वारा उपस्थित की गई जाति स्वरूपके परिभाषणसे या उसकी अनुपलब्धिसे ? अपने द्वारा उपस्थित की गई जातिके स्वरूपके अनुवादसे तो यह नही समझा जा सकता कि वादीको उत्तर की अप्रतिपत्ति है । जैसे कि यह उत्कर्षसमा जाति नहीं है अपकर्षसमा होनेसे । इस तरह जातिस्वरूपके अनुवादसे आत्यंतरका निराकरण उद्भावित कर दिया गया यह बात नही बनती, क्योंकि इसमें तो प्रथम पक्षमें कहा हुआ दोष ही आता है । अनुपलब्धिसे भी यह बात नही बता सकते कि वादीको उत्तरकी अप्रतिपत्ति है । क्योंकि अनुपलम्भ मात्रसे तो अप्रमाण है और विशिष्ट अनुपलम्भकी बात कही सो वह प्रतिवादीके द्वारा उपस्थित की गई जातिस्वरूपकी उपलब्धि रूप है सो वहाँ भी उत्तरकी अप्रतिपत्तिका समर्थन नहीं होता । तब यह बात सिद्ध हो जाती है कि जातिवादी अपने प्रतिवादीको अर्थात् पूर्वपक्षवादीको जो कि आत्यन्तरको प्रकट कर रहा हो उसको यह प्रतिवादी हरा देता है, इस कारणसे कि वादीके द्वारा प्रकट किए गए आत्यंतरका निराकरण हुआ, इस तरह वादीको उत्तरका ज्ञान न था यह घोषित कर दिया गया । इस विकल्पसे भी वादीको पराजय सिद्ध नही की जा सकती है ।

उत्तरापरिज्ञानरूप उत्तराप्रतिपत्तिकी मीमांसा— अब यदि तीसरा विकल्प कहते हो कि वादीको उत्तरका परिज्ञान ही नही है । इतने मात्रसे वादीकी पराजय होती है । क्योंकि जब प्रतिवादी यह कहता है कि इसने उत्तर नही जाना है इस प्रकार के उत्तरकी अप्रतिपत्ति मात्रको प्रकट करता है । पूर्वपक्षवादीका यह प्रश्न होना अर्थसंभावी है कि मैंने उत्तर दिया और यह अनुत्तर कैसे हो गया ? और जातिवादी द्वारा उत्तरकी अप्रतिपत्ति है । इस बातको विशेष रूपसे प्रकट करना चाहिए । उसके द्वारा उपस्थित की गई भी यह जाति इसने नही जाना है और जाति विशेषको उपस्थित किया है, यह बात उसे प्रकट करना चाहिए और इस प्रसगमें पहिले कहे गए समस्त दोष आते हैं अर्थात् उत्तरकी अप्रतिपत्ति है, यह बात सिद्ध नही हो सकती यों उत्तरकी अप्रतिपत्तिके उद्भावनके सम्बन्धमें जो तीन विकल्प किए गए हैं उन तीन ही प्रकारोंमें जातिवादीकी हार नियमित सिद्ध हो गई है और फिर यह सोचकर कि बिल्कुल हार हो जानेसे तो लोगोंकी दृष्टिमें संदेह डाल देना यह युक्त है । और ऐसा जानते हुए भी जब जाति आदिका प्रयोग करता है तो यह वचन इस नैयायककी अनैयायिकताको ही सिद्ध कर रहा है । इस प्रकार इस सम्बन्धमें यह निर्णय करना चाहिए कि जातिके प्रयोगसे जीत नही हुई है किन्तु अपने पक्षकी सिद्धिसे ही जीत है और अपने पक्षकी अप्रसिद्धिसे ही हार है ।

जातिप्रयोगमें जय पराजयकी व्यवस्थाके निबन्धनत्वका अभाव— मिथ्या उत्तर रूप जातियाँ यदि सैकड़ो भी कही जायें तो उससे जातिवादीकी जीत न हो जायगी और यहाँ जीतहारसे मतलब इतना ही है कि लोग तत्त्वका सही स्वरूप

जान जायें और सही स्वरूप जानकर अपने कल्याणमे लग जायें। केवल दुनियाको यह बतानेके लिए कि मेरी जीत हुई है और इसप्रतिवादीकी हार हुई है यह आशय तो, एक कलहका रूप रखता है कल्याण भावनाकी यह जय पराजय व्यवस्था नहीं है यहा छल जाति आदिकका आशय न बनाकर केवल यही भावना वादी और प्रतिवादी दोनोमे होना चाहिए कि कल्याण किस प्रकार हो। वस्तुस्वरूप सही किस प्रकार है। केवल उस वस्तुस्वरूपकी घोषणा हो जाय, प्रजाजन जान जायें और उस तरह ये सब सन्मार्गपर चल सकें यह बात बतानी युक्त है। इसीसे ही जय पराजयकी व्यवस्था की बात कही जाती है। और इस प्रकार इस प्रसगमे यह ही निर्णय करना श्रेयस्कर है कि जो कोई वादी प्रमाण उपस्थित करे और उस प्रमाणमे प्रतिवादी दोष देवे, उस दोषका यदि वादी परिहार कर देता है तो इससे वादीके पक्षको सिद्धि हो जाती है और प्रतिवादीका दूषण जाहिर हो जाता है कि यह प्रतिवादो ऐसे समीचीन मतव्यमे दोष उपस्थित करनेका ही दूषण करनेका ही आशय रख रहा है। तत्त्व निर्णयसे इसके विचारका सम्बन्ध न था। इसी प्रकार किसीने प्रमाणाभास उत्पन्न किया और उस प्रमाणाभासमे प्रतिवादीने दोष उपस्थित किया। अब यह उस दोषको यदि दूर नही कर सकता है तो वादीके लिए वह साधनाभास है। वह अपने पक्षकी सिद्धि न कर सका और प्रतिवादीके लिए यह स्थिति भूषणस्वरूप है। प्रतिवादीके मतव्यकी सिद्धि होती है और वादीका पक्ष गिर जाता है। तो जिसके पक्षकी असिद्धि हुई उसकी हार समझना चाहिए। इस प्रकार जय पराजयकी व्यवस्था समर्थ वचन और असमर्थ वचनसे होती है। जिसके मतव्यमे पक्षाभास हेत्वाभास आदिक कोई दोष नही है जिसके अनुमानमे अन्वय व्यतिरेक व्याप्ति निर्दोष है उसकी है जीत और जिसके कथनमें हेत्वाभास आदिक दोष आते हैं और व्याप्ति भी समीचीन नही बनती है उसका कथन है सदोष और उसके पक्षकी सिद्धि नही हो पाती। ऐसा तत्त्वनिर्णय ज्ञानकर जानकार लोग हितप्राप्तिके अर्थ अहित परिहारके अर्थ सुनिर्णीत तत्त्वकी उपासनामे लग जाते हैं और पुष्टरूपसे निर्णीत कुतत्त्वकी उपासनाको छोड़ देते हैं। इसीलिए ही दर्शन शास्त्रको व्यवस्था है। इसका प्रयोजन कोई लोकमे जीत-हार प्रकट करनेका नही है।

निग्रहस्थान द्वारा जय-पराजयकी व्यवस्थाका प्रयास जिस तरह छल और जातिके प्रयोगसे जय-पराजयकी व्यवस्था न बन सकी, उसी तरह निग्रहस्थानोके द्वारा भी जय और पराजयकी व्यवस्था नही बन सकती। यौगसिद्धान्तके न्यायसूत्रमे निग्रहस्थानका सामान्य लक्षण यह किया गया है कि विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्तिको निग्रहस्थान कहते हैं। विप्रतिपत्तिमे दो शब्द हैं—वि और प्रतिपत्ति। वि का अर्थ है विपरीत और प्रतिपत्तिका अर्थ है जानकारी अर्थात् विपरीत जानकारीको विप्रतिपत्ति कहते हैं। अप्रतिपत्तिका सामान्यतया अर्थ है जानकारी न होना। और वह किन अर्थोंमें फलित होता है ? सो पहली बात यह है कि पक्षको जानकर, मान

कर, कहकर फिर उसकी स्थापना न कर सकना अर्थात् प्रतिज्ञा तो की पर उसका निभाव न कर सकना। दूसरी बात है कि प्रतिवादीने अपनी कोई बात स्थापित की उसका प्रतिषेध न कर सकना। तीसरी बात यह है कि प्रतिवादीने पक्षका निषेध किया अब उस प्रतिसिद्ध प्रतिज्ञाका उद्धार न कर सकना अर्थात् प्रतिवादीके द्वारा दिए गए दोषका परिहार न कर सकना, यह सब अप्रतिपत्ति कहलाती है। अप्रतिपत्तिका सामान्यतया यह अर्थ है कि आरम्भके विषयमें आरम्भ न हो सकना। जो बात सामने आ पड़ी हो सिद्ध करनेकी अथवा निषेध करनेकी, उसको न निभा सकना, बस वही अप्रतिपत्ति कहलाता है।

प्रतिज्ञाहानि निग्रह स्थानका कथन—निग्रह स्थानके विशेष लक्षण प्रतिज्ञा हानि आदिक रूपमें बताये गए हैं जिनका क्रमसे वर्णन करते हैं, विशेषको जाननेपर सामान्यका भी स्पष्ट बोध हो जाता है, इस लिए अब निग्रह स्थानके जो भेद हैं उनका लक्षण प्रारम्भ करते हैं। निग्रह स्थानमें पहिला भेद है प्रतिज्ञा हानि। प्रतिज्ञाहानि का अर्थ है कि हेतुके कहे जानेपर अथवा उस कहे हुए हेतुमें दूषणके प्रकट करनेपर उस पक्षको मान लेना अर्थात् दूसरेके दूषणको किसी प्रसंगमें मानकर अपनी प्रतिज्ञाका त्याग कर देना सो प्रतिज्ञाहानि है। इसका लक्षण न्यायसूत्रमें इस प्रकार कहा है कि प्रतिदृष्टान्तके धर्मको अपने दृष्टान्तमें मान लेना सो प्रतिज्ञा हानि है। वादी अपनी बात उपस्थित करता है, अपना पक्ष मंतव्य बताता है और उसपर दृष्टान्त भी देता है। जैसे कि अनुमानोंमें प्राय होता है कि प्रतिज्ञा हेतु बोलनेके बाद उदाहरण दिया जाता है तो वादीने सांगोपाङ्ग अनुमान प्रस्तुत किया। उसमें दृष्टान्त भी आया। अब प्रतिवादी उसकी प्रतिज्ञाके खिलाफ कोई दृष्टान्त रखता है, तो वादी उस प्रतिदृष्टान्तके धर्मको मान ले अपने दृष्टान्तमें तो वह प्रतिज्ञाहानि है। इसका स्पष्टीकरण यह है कि वादीने कोई साध्य सिद्ध करना चाहा था। हेतु दृष्टान्त सब उपस्थित करके, अब प्रतिवादीके साध्य धर्मके खिलाफ कोई धर्म कहकर वादीको दूषित किया। तब वादी प्रतिवादीके कहे हुए प्रति दृष्टान्तके धर्मको अपने दृष्टान्तमें मानता हुआ प्रतिज्ञाको त्यागता है तो वह वादीकी प्रतिज्ञाहानि कहलाती है जैसे कि वादीने अपना यह मतव्य रखा कि शब्द अनित्य है ऐन्द्रियक होनेसे अर्थात् इन्द्रियग्राह्य होनेसे घटकी तरह। ऐसा वादी के द्वारा कहे जानेपर प्रतिवादी दूषण देता हुआ कह रहा है कि इन्द्रियग्राह्य तो सामान्य भी है और वह नित्य देखा गया है तो फिर उसी प्रकार शब्द भी क्यों न नित्य माना जाय? इस प्रसंगमें वादी अपने द्वारा कहे हुए हेतुकी आभासताको जानता हुआ भी वादमें सम्बन्धित न करके प्रतिज्ञा त्याग करता है। यों कह देता है कि यदि सामान्य इन्द्रियग्राह्य है और नित्य है तो घट भी नित्य हो जाय। इस प्रसंगमें वादीने अपने दृष्टान्तको दूषित कर लिया। प्रतिवादीका यह कथन था कि जैसे घटमें घटत्व है तो घट तो हुआ पदार्थ, एक भौतिक वस्तु द्रव्यरूप और उसमें जो घटत्व है वह हुआ सामान्य, तो घटको निरखकर घटत्व भी तो जान लिया गया। तो जैसे घट इन्द्रिय-

ग्राह्य है ऐसे ही सामान्य भी इन्द्रियग्राह्य है। अब यहाँ देखिये कि सामान्य इन्द्रियग्राह्य है और नित्य है। सामान्यको घटत्वको तो वैशेषिकोने नित्य नही माना। सामान्य एक अलग पदार्थ है। तो प्रतिवादी यहाँ जब एक दूषण देता है कि इन्द्रियग्राह्य तो सामान्य भी है और वह नित्य देखा गया है तब फिर शब्द भी इन्द्रियग्राह्य है तो वह क्यो न नित्य हो जाय ? ऐसा प्रतिवादीने कहा, तो वादी उस समय अपने कहे हुए हेतुका मिथ्यापन जान रहा है, लेकिन वाद समाप्त हो जाय इस अभिप्रायसे वह कहता है कि यदि सामान्य ऐन्द्रियक है और नित्य है तो घट भी नित्य हो जाय। यहाँ वादीने मूल प्रतिज्ञामें दोष स्वीकार नही किया। साध्य विरुद्ध बातको पक्षमें स्वीकार न करके दृष्टान्तको स्वीकार किया। तो यह वादी साधन सहित दृष्टान्तकी नित्यताको मानता हुआ मानो यह निगमन पर्यन्त समस्त अनुमानगत पक्षोंको छोड देता है। केवल दृष्टान्त में ही साध्य विपरीत धर्मको स्वीकार किया। लेकिन इतने मात्रसे हुआ तो सर्व अपहार। निगमन पर्यन्त समस्त अनुमान, इनका भग हो गया। तो जब यह पक्षको छोड रहा है प्रतिज्ञाको त्याग रहा है तो यह प्रतिज्ञाहानि कहलाता है, क्योंकि पक्ष प्रतिज्ञा के आश्रयमे रहता है, जहाँ प्रतिज्ञा ही भग हो गयी तो अब उसका पक्ष ही क्या रहा? इस तरह न्याय सूत्रमे योग सिद्धान्तमे प्रतिज्ञाहानिके विषयमें वर्णन है।

प्रतिज्ञाहानिनिग्रहस्थानके विवेचनकी मीमासा—अब प्रतिज्ञाहानि निग्रहस्थानपर विचार करिये तो उक्त बात असगत है, क्योकि साक्षात् दृष्टान्तकी हानि रूप है प्रतिज्ञाहानि अर्थात् दृष्टान्तमें ही साध्य धर्मका परित्याग कर दिया गया है। अनुमान बनाया गया था कि शब्द अनित्य है इन्द्रियग्राह्य होनेसे। तो प्रतिवादीने विकल्प उठाकर प्रतिदृष्टान्त देकर विरुद्ध धर्म बताया तो वादीने दृष्टान्तमे साध्य धर्मको स्वीकार किया है, तो उसने साध्य धर्मको दृष्टान्तमे ही तो छोड दिया, तो साक्षात् तो अभी प्रतिज्ञा हानि नही है। हाँ, परम्परया हेतु उपनय निगमनका त्याग हो गया, उसका विवरण देकर इसका त्याग हो गया क्योकि दृष्टान्त जब मिथ्या बन गया तो जिस बातको सिद्ध करनेके लिए दृष्टान्त दिया गया था वह बात भी मिथ्या हो जाती है। तो इस परम्परयासे यह बात बनी साक्षात् तो दृष्टान्तमें ही साध्य धर्मका त्याग हुआ। साथ ही यह भी बात समझनी चाहिए कि शब्दको अनित्य कहा इन्द्रियग्राह्य होनसे, घटका दृष्टान्त भी दिया। जरा घटपर ही विचार करलो। घट इन्द्रियग्राह्य है और वह अनित्य है पर घटमें जो घटत्व है सो किसी इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य नही है, वह तो मन द्वारा, विचार द्वारा समझा गया है। इन्द्रियाँ ५ होती हैं। पाँच इन्द्रियके विषय हैं - स्पर्श, रस, गध, रूप और शब्द सामान्य। इन विषयोमेंसे किसी भी विषय रूप नही है और जिसके सिद्धान्तसे सामान्य ऐन्द्रियक है और इसी कारण वादीके कहे गए अनुमानमें दोष आता है। तो यहाँ हेत्वाभासके कारण उसके अनुमानमें दोष आया है।

प्रतिज्ञाहानिके सम्बन्धमें वार्तिककारका विवेचन और उसकी मीमासा

प्रतिज्ञा हानिके सम्बन्धमें न्यायसूत्रके वार्तिककार ऐसा कहते हैं कि दृष्टान्तका यह अर्थ है कि अन्तमें यह देखा गया, स्थित हुआ, इससे इसे दृष्टान्त कहते हैं। दृष्टान्त शब्दमें दो शब्द हैं—दृष्ट और अन्त। अन्तमें यह स्थित है इसलिए इसको दृष्टान्त कहते हैं। जब कोई अपना मतव्य कहा जाता है तो उस मतव्यमें दृष्टान्त पीछे दिया जाता है। जैसे इसी अनुमानमें यह पद्धति अपनाई गई है कि शब्द अनित्य है इन्द्रिय ग्राह्य होनेसे घटकी तरह। सब कुछ बात कह चुकनेपर फिर दृष्टान्तका प्रयोग होता है। तो इस तरह दृष्टान्त कहलाया पक्ष और स्वपक्ष। और, फिर प्रतिदृष्टान्तके धर्मसे मान लेना इसे प्रतिज्ञा हानि कहते हैं। तो दृष्टान्तका अर्थ हुआ पक्ष अथवा स्वपक्ष और प्रतिदृष्टान्त बन गया प्रतिपक्ष। तब सीधा यह भाव हुआ कि प्रतिपक्षके धर्मको स्वपक्षमें मान लेना, इसे प्रतिज्ञा हानि कहते हैं। यहाँ स्वपक्ष था—शब्द अनित्य है, इन्द्रिय ग्राह्य होनेसे। तो अनित्यपना यह पक्षका धर्म है। तो उसका प्रतिपक्ष हुआ नित्यपना। उस नित्यपनेको अपने पक्षमें, घटमें मान लेते हैं तो वह प्रतिज्ञा हानि है। ह किस प्रकार माना गया है कि यदि सामान्य ऐन्द्रियक और नित्य है तो शब्द भी इसी प्रकार नित्य हो जाय, क्योंकि वह इन्द्रियग्राह्य है। इस प्रकारसे प्रतिज्ञा हानिके विवरणमे वार्तिककार ऐसा कहते हैं, लेकिन इस कथनमें व्यामोह है, यह बात प्रकट सिद्ध होती है क्योंकि प्रतिपक्षको स्वपक्षमें मान लेने मात्रसे प्रतिज्ञा हानिका निश्चय नहीं किया जा सकता है, किन्तु प्रतिपक्षकी सिद्धि बने तो उससे निग्रह बन सकता है। प्रतिपक्षकी सिद्धि हुए बिना कोई भी पुरुष निग्रहका अधिकरण नहीं बन सकता। वादी अपना पक्ष सिद्ध कर रहा, प्रतिवादी अपना प्रतिपक्ष रख रहा। तो प्रतिपक्षकी द्धि यदि हो गयी तो उसका अर्थ है कि वादीका पक्ष गिर गया। तो वादीका मतव्य सिद्ध न हो, इसीका नाम निग्रह है। तो प्रतिपक्षकी सिद्धि हुए बिना वादीके पक्षका निग्रह नहीं हो सकता है।

प्रतिज्ञाहानिमे अनेक कारण हो सकनेसे प्रतिज्ञाहानिके लक्षणकी असमीचीनता—प्रतिज्ञाहानिके सम्बन्धमें दूसरी बात यह भी है कि प्रतिज्ञा त्यागमें केवल एक ही कारण तो नहीं होता कि प्रतिपक्षके धर्मको स्वपक्षमें मान लें याने प्रतिदृष्टान्तके धर्मको दृष्टान्तमें मान लें बस इस ही कारणसे प्रतिज्ञाहानि होती हो, यही एक प्रकार प्रतिज्ञाहानिमे नहीं है। उसमें अनेक कारण होते हैं। वादीका किन्हीं शब्दोंमें तिरस्कार कर दिया जाय तो तिरस्कार आदिकके द्वारा आकुलित हो जानेके कारण भी तो प्रतिवादीके किसी प्रतिदृष्टान्त आदिक अंगकी बात किसी रूपमें अंगीकार कर लेता है अथवा भरी सभामें बात करना एक बहुत बड़ा काम है, और ऐसे समयमें प्रकृतिसे कुछ भीरुता उत्पन्न होती है और यदि वह वादी प्रकृतिसे सभाभीरु है तो उस सभामें भी किसी बातका प्रतिवादी स्वीकार कर लेता है अथवा वादीका उपयोग कहीं दूसरी जगह हो, वह कुछ अन्य बात ही विचार रहा हो और ऐसे समयमें भी प्रतिवादीकी बातको किसी रूपमें अंगीकार कर सकता है आदिक अनेक निमित्तोंसे

कुछ तो साध्यरूपसे प्रतिवादीने की थी और सके विपरीत बातको जानता हुआ भी उपालम्भसे अनेक कारणोसे वह कभी कोई बात ऐसी ही सही इस रूपमे कह लेता है तो यह बात तो न रही जैसा कि प्रतिज्ञा हानिके लक्षणमे कहा है कि प्रतिपक्षके धर्म को स्वपक्षके मान लेनेसे प्रतिज्ञाहानि होती है उसमें एक ही कारण नही, यो अनेक हैं।

प्रतिज्ञामे कमी होनेसे हेत्वाभासादि द्वारा निग्रहपात्रता प्रतिज्ञाहानि के सम्बन्धमे एक बात यह भी है कि प्रतिज्ञा ही वादोने जब कमजोर की हो तो उसकी यह कमजोरी पक्षाभास, हेत्वाभास आदिकसे बनी हुई है। तो जो मूल दूषण हैं उनके प्रयोगसे वादीके कहे हुए प्रमाणमे दोष उपस्थित करना चाहिए। यदि वादी प्रतिवादी के द्वारा उपस्थित किए हुए दोषोका परिहार नही कर सकता है तो वहाँ प्रतिवादीकी जय है और वादीकी पराजय है, किन्तु नियमानुकूल पद्धतिसे तो वह वादीके वक्तव्यमे दोष न दे सका और अन्य तरहसे शब्दोका योजन करके उसे दूषित किया जा रहा है तो इससे सभ्य पुरुषोमें तो जय और पराजयकी व्यवस्था न बन जायगी। वादीके अनुमानमे अनेकान्तिक आदिक हेत्वाभास आते हैं ना अनुमान उनका दूषित है। पूर्व कथित पक्षाभास हेत्वाभास आदिकसे वादीके दृष्टान्तको दूषित करना यह एक नियमित पद्धति है उससे ही जय-पराजयकी व्यवस्था बनती है।

प्रतिज्ञान्तर निग्रहस्थानका परिचय दूसरा निग्रहस्थान बताया गया है प्रतिज्ञान्तर। प्रतिज्ञान्तरका न्यायसूत्रमे अर्थ किया गया है कि प्रतिज्ञा किए हुए पदार्थ के प्रतिषेधमे धर्मभेदसे उस अर्थका निर्देश कर देना सो प्रतिज्ञान्तर है। इसका स्पष्ट भाव यह है कि जैसे वादीने यह प्रतिज्ञा बनाई कि शब्द अनित्य है इन्द्रियग्राह्य होनेसे तो यह प्रतिज्ञात अर्थ क्या कहलाया? शब्द अनित्य है। अब शब्द अनित्य है इस प्रतिज्ञात अर्थका प्रतिवादीने इन्द्रियग्राह्य होनेसे इस हेतुमे व्यभिचार दिखाकर निषेध कर दिया, प्रतिषेध कर दिया अर्थात् शब्द अनित्य नही हो सकता। शब्दकी अनित्यता को साधने वाले वादीके द्वारा जो कहा हुआ अनुमान है उस हेतुमे व्यभिचार दोष आता है। सामान्य भी इन्द्रियग्राह्य है और वह अनित्य नही है, इस तरह व्यभिचार दिखाकर वादीके प्रतिज्ञात अर्थका प्रतिषेध किया। अब वादी प्रतिवादीके कहे हुए दोषका परिहार तो करता नही, किन्तु धर्मके विकल्प बना देता है। वह पूछता है कि क्या यह शब्द असर्वगत है घटकी तरह अथवा सर्वगत है सामान्यकी तरह यों धर्म विकल्पसे पूछता है। यदि असर्वगत है शब्द, घटकी तरह तो जैसे घट अव्यापक है और अनित्य है इसी प्रकार शब्द भी अव्यापक है और अनित्य रहो। इस प्रकार एक प्रतिज्ञान्तर वादीके द्वारा बन गया। यही कहलाता है प्रतिज्ञान्तर नामका निग्रहस्थान। क्योंकि इसमे वादी द्वारा प्रतिज्ञान्तरकी सामर्थ्यका परिज्ञान न किया जा सका। पहिले जो प्रतिज्ञा की थी वह शब्द अनित्य है, इस प्रतिज्ञाके साधन करनेके लिए ही उत्तर प्रतिज्ञा कर दी गई कि शब्द असर्वगत है और अनित्य

है लेकिन वादीने यह न समझा कि कोई प्रतिज्ञा अन्य प्रतिज्ञाके साधन करनेमें समर्थ नहीं होती। यदि एक प्रतिज्ञा दूसरी प्रतिज्ञाको सिद्ध करनेमें समर्थ हो जाय तो इसमें अनेक प्रसंग आते हैं। इस प्रकार प्रतिज्ञान्तरके सम्बन्धमें निग्रहवादी प्रतिज्ञान्तर नाम का निग्रहस्थान बताता है किन्तु यह निग्रह स्थान पहिले कहे हुए प्रतिज्ञा हानिके निराकरणसे ही निराकृत हो जाता है। इस कारण सीधा तो एक यह है कि प्रतिज्ञा हानिकी तरह प्रतिज्ञान्तरमें भी अनेक निमित्त हो जाते हैं। फिर दूसरी बात यह है कि पहिले जो प्रतिज्ञा हानि नामका निग्रहस्थान बताया गया था उस निग्रहस्थानसे और प्रतिज्ञान्तर नामके दूसरे निग्रहस्थानमें अन्तर क्या आया? प्रतिज्ञा हानिमें भी पक्षत्यागकी बात कही जा रही थी और प्रतिज्ञान्तरमें भी जब दूसरी प्रतिज्ञा पर आया तो पक्षत्याग हो गया। तथा जिस प्रकारसे स्वदृष्टान्तमें प्रतिदृष्टान्तको मान लेनेसे पक्षत्यागकी बात कही गई थी उस ही प्रकार प्रतिज्ञान्तरसे भी पक्षत्यागकी ही बात बनी। इस कारण प्रतिज्ञाहानिमें प्रतिज्ञान्तरमें कोई अन्तर नजर नहीं आया। यहाँ शंकाकार यदि ऐसा कहे कि प्रतिज्ञान्तरसे जो पक्षत्याग हुआ है वह उसका अपने पक्षकी सिद्धिके लिए हुआ है। लेकिन प्रतिज्ञा हानिमें जो वादीने पक्ष त्याग किया था वह प्रतिपक्षकी सिद्धिके लिये बन गया था। इसलिए अन्तर है। इसपर कहते हैं कि जैसे अपने पक्षकी सिद्धिके लिए प्रतिज्ञान्तर वादीने स्वीकार किया है। उसी प्रकार शब्दके अनित्यत्वकी सिद्धिके लिए भी वादीने प्रतिज्ञाहानि की है। उसमें उस समय ध्यान न रहा। भ्रान्तिके वशसे वह दृष्टान्त उस प्रतिपक्षीके धर्मको स्वीकार कर बैठा। तो वहाँ भी प्रकट रूपसे वादीने यह ध्यान न रखा कि ऐसा प्रतिवादीके प्रतिदृष्टान्तके धर्मको मान लेनेसे साध्यके विरुद्ध बात आती है। तो दोनों ही जगह स्वपक्ष सिद्ध की ही बात रही। फर्क यह रहा कि कुछ शब्दकी पद्धतिमें अन्तर है। पर प्रतिज्ञा हानि और प्रतिज्ञान्तरसे जो कुछ पक्षत्यागकी बात बनती है वह दोनोंमें एक समान है। अतः प्रतिज्ञान्तर नामका निग्रह स्थान युक्त नहीं है।

प्रतिज्ञाहानि व प्रतिज्ञान्तरसे प्रतिज्ञात्यागकी अविशेषता—प्रतिज्ञा हानिमें वादी भ्रान्तिके वशसे तथा तिरस्कार आदिकके कारण कल्पित सभाभीरुता अन्य मान्यता आदिकके कारण वह यों कह गया अथवा मान गया कि उसी तरह शब्द भी नित्य हो, किन्तु दृष्टान्तमें प्रतिदृष्टान्तके धर्मके मान लेने मात्रसे वह निग्रहके योग्य नहीं है। यदि कहो कि अभ्रान्त पुरुषके अतिरिक्त यह विरुद्ध वचन नहीं हो सकता तो इसी प्रकार अभ्रान्त पुरुषके प्रतिज्ञान्तर नामक निग्रहस्थान भी न कहना चाहिए। यदि कहो कि निमित्तके भेदसे उन दोनोंमें भेद आ जायगा प्रतिज्ञाहानिमें और कुछ निमित्त है। प्रतिज्ञान्तरमें अन्य निमित्त है। तो यों निमित्त भेदसे इन दोनों के भेद माननेपर अनेक अनिष्ट निग्रहस्थानोंका भी प्रसंग हो जायगा। यदि कहो कि उन अनिष्ट निग्रहस्थानोंका प्रतिज्ञा हानि आदिकमें ही अन्तर्भाव हो जाता है तब तो

प्रतिज्ञान्तरका भी प्रतिज्ञा हानिमें अन्तर्भाव हो जाय। फिर इन दोको कहनेकी क्या आवश्यकता है।

प्रतिज्ञाविरोध निग्रहस्थानका परिचय –अब तीसरा निग्रहस्थान है प्रतिज्ञा विरोध प्रतिज्ञा और हेतुका विरोध होना सो प्रतिज्ञाविरोध है ऐसा न्यायसूत्रमें कहा है। जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जहाँ हेतुके द्वारा प्रतिज्ञाका विरोध होजाता है अथवा प्रतिज्ञाके द्वारा हेतुका विरोध हो जाता है उसे प्रतिज्ञाविरोध कहते हैं। जैसे कहा कि गुणके व्यतिरिक्त द्रव्य होता है। क्योंकि रूप आदिक गुणोंसे भिन्न रूपमें उपलब्धि नहीं है। ऐसा जो अनुमान बनाया गया वह असगत है। यहाँ हेतुके द्वारा प्रतिज्ञाका विरोध हुआ ना। हेतु बनाया है कि रूप आदिक गुणोंसे भिन्न उपलब्ध नहीं होता तो रूपादिक गुणोंसे जो भिन्न न पाया जाय उसे गुणोंसे भिन्न कैसे स्वीकार कर लिया? तो यहा हेतुके द्वारा प्रतिज्ञाका प्रतिज्ञापन खण्डित कर दिया गया। इस प्रकार प्रतिज्ञाविरोध नामका यह निग्रहस्थान माना तो जा रहा है लेकिन प्रकारान्तरसे देखिये तो यह भी प्रतिज्ञाहानि ही कहलायेगी। प्रतिज्ञा विरोध नामक अलगसे निग्रह स्थान कहना नहीं बन सकता है। यह भी प्रतिज्ञाहानि हो है। यहापर विरोधता लक्षण वाला हेतु कहा गया है। इसलिये यह विरुद्ध हेत्वाभास हो गया विरुद्धता वाला दोष कहा गया है, इसलिये हेत्वाभासके कारण यह अनुमान दूषित बनेगा। इससे प्रतिज्ञा दोषके कारण अनुमानसे दूषित करनेकी बात कहना युक्तियुक्त नहीं है।

प्रतिज्ञासन्यास निग्रहस्थानका परिचय—चौथा निग्रह स्थान कहा है प्रतिज्ञा संन्यास। इसका लक्षण न्यायसूत्रमें यो कहा गया है कि पक्षका प्रतिषेध होनेपर प्रतिज्ञात अर्थका अपनयन कर लेना सो प्रतिज्ञासन्यास है जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वादीके कहे हुए हेतुमें प्रतिवादीने कोई दूषण उपस्थित किया उस स्थितिमे अपने साध्य का परित्याग कर देना इसको प्रतिज्ञा सन्यास कहते हैं। जैसे कि वादीने अनुमान किया कि शब्द अनित्य है इन्द्रियग्राह्य होनेसे घटकी तरह। इस प्रकार वादीके द्वारा अनुमान कहा जानेपर पहिलेकी ही तरह सामान्यके साथ अनेकान्तिक दोष हेतुमें उद्भावित करनेपर वह प्रतिज्ञाका त्याग करता है अर्थात् यो बोल पडता है कि इस तरह कौन कहता है कि शब्द अनित्य है तो यह प्रतिज्ञासन्यास हो गया। जो प्रतिज्ञा की थी, जो साध्य सिद्ध किया जाना था उसका ही परित्याग कर दिया गया। उत्तरमे कहते हैं कि यह बात तो ठीक है कि अनेकान्तिक हेत्वाभास बोल करके साध्यको सिद्ध करना मिथ्या ही अनुमान है, इस कारणसे उसे हेत्वाभाससे दूषित कहकर मिथ्या कहना चाहिए। अब हेत्वाभाससे मिथ्या प्रतीत हो जानेपर उस विषयमें अन्य प्रकारके वचनों दोषकी परिकल्पना करना व्यर्थ है। साथ ही यह भी बात देखिये कि प्रतिज्ञासन्यास भी प्रतिज्ञाहानिसे कोई भिन्न चीज तो न रही, क्योंकि हेतुमे जब अनेकान्तिक दोष पाया गया तो यहाँपर भी प्रतिज्ञाका ही परित्याग हुआ। तो प्रतिज्ञाहानिसे कोई विशे-

पता न होनेके कारण अर्थात् जैसे प्रतिज्ञाहानिमें प्रतिज्ञाका परित्याग हुआ था इसी तरह प्रतिज्ञासन्यासमें भी प्रतिज्ञाका परित्याग हुआ है। अतएव यह प्रतिज्ञासन्यास नामक निग्रहस्थान प्रतिज्ञाहानिसे कोई अलग स्वरूप नहीं रखता।

हेत्वन्तर निग्रह स्थानका उद्भावन—५ वाँ निग्रह-स्थान बताया गया है हेत्वन्तर। हेत्वन्तरका न्यायसूत्रमें इस प्रकार लक्षण किया गया है कि सामान्यतया कहे गए हेतुके प्रतिषिद्ध हो जानेपर विशेषता हेतुको चाहने वाले, जाहिर करने वाले वादीके हेत्वन्तर नामक निग्रह स्थान होता है। इसका उदाहरण यह है कि जैसे वादीने अनुमान किया कि यह सब व्यक्त जो कुछ दुनियामें दिख रहा है वह भी सब एक प्रकृति वाला है क्योंकि विकारका परिमाण होनेसे। जैसे मृत पूर्वक घट सकोरा उबला आदिककी तरह। अब यहाँपर वादीके द्वारा कहे गये हुए अनुमानमें व्यभिचार दिखा कर दूषण दिया गया प्रतिवादीके द्वारा कि देखिये परिमाणको नाना प्रकृति वाले पदार्थोंका भी देखा जाता है और एक प्रकृति वाले पदार्थोंका भी देखा जाता है। जैसे घट पट लोह स्वर्णादिक ये एक प्रकृतिमें नहीं हैं उनमें भी परिमाण देखा जाता है। वहाँ भी लम्बाई चौड़ाई आदिकमें अपना परिमाण रखता है। तो यहाँ जो हेतु दिया गया कि विकारका परिमाण होनेसे और साध्य सिद्ध किया गया कि एक प्रकृति वाला तो विकारका परिमाण होनेपर भी वे सब परिमाण वाले एक प्रकृतिमें तो नहीं होते हैं। तो यहाँ हेतु अब सही हेतु न रहा। हेतुमें अनैकान्तिक दोष भी आया। इस प्रकार हेतुका अहेतुपना निश्चय करके यह वादी कहता है कि नहीं, नहीं। कोई हेतु इस प्रकार है कि एक कारणसे अनुस्यूत होकर विकारोंका परिमाण होनेसे तो एक कारण जैसे मिट्टी है उससे अनुस्यूत होकर जितने विकार होंगे, घट सकोरा आदिक जितने भी पर्याय होंगे उनका परिमाण है, और वे एक प्रकृति वाले हो गए तो इस प्रकार जब वादी सामान्यतया कहे गए हेतुमें दोष निरखनेपर उस हेतुमें विशेषण और लगा देते हैं, विशेष हेतुको जाहिर करता है तो उस समय हेतुमें विशेषता कहने वाले वादीके हेत्वन्तर नामका निग्रह स्थान हो जाता है।

हेत्वन्तर निग्रह स्थानकी मीमांसा—अब उक्त समस्याके समाधानमें कहते हैं कि इस तरह हेत्वन्तर नामका निग्रह स्थान अलगसे बनाना असंगत है, क्योंकि हेतुमें विशेषता और जोड़कर हेत्वन्तर नामक निग्रह स्थानको बनानेपर यदि किसीने सामान्यतया दृष्टान्त दिया और उसमें दूषण आया तो वहाँ भी दृष्टान्तमें कोई और विशेषण लगाकर उपस्थित करे तो फिर वह दृष्टान्तान्तर नामका निग्रह स्थान मान लिया जाय अथवा उपनय निगमनमें भी किसीने दूषण दिया तो उस समय वहाँ भी कोई विशेषता लगा दे तो उपनयान्तर निगमनान्तर नामके भी निग्रह स्थान बन बैठेंगे और इस आक्षेपमें यदि कोई प्रतिवादी कोई समाधान देता है तो जो समाधान इसमें दिया जायगा वही समाधान हेत्वन्तरमें भी घटित हो जायगा, इस कारण हेत्वन्तर

नामका निग्रह स्थान अलगसे बताना युक्तिसंगत नहीं बैठता।

अर्थान्तर निग्रह स्थानका यौगसिद्धान्तमें निर्देश—छठवां निग्रह स्थान बताया गया है अर्थान्तर। इसका लक्षण न्यायसूत्रमें इस प्रकार कहा गया है कि प्रकृत अर्थकी अप्रतिपत्ति अन्य अर्थ वाले वचन बोलना अर्थान्तर निग्रह स्थान है, जिसका स्पष्ट भाव यह है कि जिस प्रमेयकी बात कही जा रही है उस प्रकृत प्रमेयमें अनुपयोगी वचन बोलना उसे अर्थान्तर नामक निग्रह स्थान कहते हैं। पक्ष और प्रतिपक्ष का परिग्रह होनेपर जिसका कि लक्षण पहिले कह दिया है कि एक अधिकरण वाला वस्तु धर्म पक्ष प्रतिपक्ष कहलाता है आदि। तो उनका परिग्रह होनेपर हेतुके द्वारा जब साध्यकी सिद्धि बनायी जा रही है तो उस प्रकृत साध्यमें प्रकृत हेतुको जब वादी यों निरखता है कि प्रमाणके सामर्थ्यसे मैं इस हेतुको समर्थित करनेके लिए असमर्थ हूँ। ऐसा निश्चय करता हुआ वादी वादको तो छोड़ता नहीं, वादको तो समाप्त करता नहीं और अर्थान्तरसे उपस्थित करता है अर्थात् प्रकृत अर्थका छोड़करके अन्य अर्थको बोल देता है तब वह अर्थान्तर नामका निग्रह स्थान होता है। जैसे यह कह दिया कि शब्द नित्य है अस्पर्शवान होनेसे। और फिर अन्य-अन्य शब्दोंकी व्याख्या करने लगा। देखो हेतु किसे कहते हैं? हेतु कैसे व्युत्पन्न हुआ है? हिनोति धातुमें तु प्रत्यय लगकर यह कृदन्त शब्द बना है और नाम समास निपात आदिक पेश करके नाम आदिककी व्याख्या देने लगा तो यह सब अर्थान्तर नामक निग्रह स्थान है। बोला तो कुछ था और उस पक्षका समर्थन करना चाहा था लेकिन जब वादी स्वयं यह समझ गया कि जो गलत बोला गया हो और हमारा हेतु इस योग्य नहीं है कि प्रतिज्ञाको सिद्ध कर सके तब वह हेतु आदिक अनेक शब्दोंका व्युत्पत्ति अर्थ उपसर्ग निपात आदिक व्याकरण सिद्धि आदिकको बोलने लगा। तो ये प्रकृत प्रमेयमें अनुपयोगी वचन हैं और प्रकृतको छोड़कर अन्य सब बातें बोलने लगा तो इस तरह यह अर्थान्तर नामका निग्रह स्थान बन जाता है।

अर्थान्तनिग्रहस्थानकी मीमांसा - समाधानमें पूछते हैं कि यह जो अर्थान्तर नामका निग्रहस्थान बताया है वह समर्थ साधन अथवा दूषणके कहनेपर निग्रहके लिए माना गया है या या असमर्थ साधन अथवा दूषणके कहनेपर निग्रहके लिए माना गया है। अर्थात् वादी यदि समर्थ साधन या समर्थ दूषण कहता है तब उसके निग्रह करनेके लिए अर्थान्तर निग्रह बोला जाता है या वादी असमर्थ साधन या दूषण कहे तो उसके निग्रहके लिए अर्थान्तर निग्रह स्थान माना गया है। इन दोनों विकल्पोंमें पहिला विकल्प तो ठीक नहीं कहा जा सकता। समर्थ साधन बोलनेपर या समर्थ दूषण बोलनेपर या समर्थ दूषण बोलनेपर निग्रहके लिए यदि निग्रहस्थान माना है अर्थान्तर तो भला बतलावो कि अपने साध्यको सिद्ध करके फिर कोई उसपर नृत्य करे तो वह तो दोषके लिए न कहलायेगा कोई समर्थ साधन बोला गया तो वह तो

सिद्ध हो ही गया। अब वह दोषके लिये कैसे होगा ? यदि कहो कि अर्थान्तर साधन दूषण बोलनेपर भी प्रतिवादीके पक्षकी सिद्धि हो तब तो वह निग्रहके लिए माना जा सकता है। या बतलावो कि प्रतिपक्षकी सिद्धि न होनेपर भी क्या वह निग्रहके लिए माना जाता है ? यदि कहो कि प्रतिपक्ष सिद्ध होनेपर ही वह अर्थान्तर निग्रह माना जाता है तो प्रतिपक्षकी सिद्धिसे ही इसका निग्रह हो गया। इस निग्रह स्थानसे निग्रह माननेकी आवश्यकता न रही। यदि कहो कि प्रतिवादीके पक्षकी सिद्धि हुए बिना ही निग्रह हो जायगा तो जब निग्रहवादीके पक्षकी सिद्धि न हुई तो इस अर्थान्तरसे भी निग्रह नहीं हो सकता। क्योंकि इस समय अब दोनों ही वादी और प्रतिवादीके पक्षकी सिद्धि नहीं हो सकती।

निरर्थक निग्रहस्थानका परिचय—अब एक निग्रहस्थान है निरर्थक नाम का इसका लक्षण न्यायसूत्रमें कहा गया है कि वर्णक्रमके निर्देश मात्र [illegible] निरर्थक स्थान कहलाता है। जैसे शब्द अनित्य है जब गजडदबश होनेसे [illegible] की तरह। यह भी कहना सर्वथा अर्थशून्य होनेसे निग्रहके लिये कल्पना [illegible] जाती है या साध्यका अनुपयोगी होनेसे कल्पना की जाती है इसमें पहिला विकल्प [illegible] नहीं कहते कि अर्थशून्य होनेसे निग्रहके लिए माना जाता है क्योंकि सर्वथा अर्थशून्य शब्द ही असम्भव है वर्णक्रमका निर्देश भी उच्चारित होनेके बाद अर्थात् पीछे किए जाने वाले लाभसे उनमें भी अर्थवत्ता सिद्ध होती है। अब द्वितीय विकल्प कहेंगे कि अर्थात् साध्यका अनुपयोगी होनेसे निरर्थक माना जाता है तो सभी फिर निग्रहस्थान निरर्थक हो जायेंगे, क्योंकि सभी निग्रहस्थान साध्यकी सिद्धिके अनुपयोगी हैं। यह निग्रह स्थानमें वादीको चुप करके यथातथा कल्पना करके एक बात बतायी गई है। यदि कहो कि किसी भी विशेष मात्रसे इसमें भेद सिद्ध हो जायगा। तब फिर [illegible] हस्त का अकम्पन आदि भी साध्यकी सिद्धिमें अनुपयोगी होनेसे निग्रहस्थान बन जायगा। कोई कोई लोग वाद विवादके समय अपने कितना हाथ पैर फेंकते हैं तो वह भी एक निग्रहस्थान बन जायगा इससे निरर्थक, नामका भी निग्रह स्थान कहना युक्त नहीं है।

अविज्ञातार्थ निग्रहस्थानके परिचयमें मदबुद्धिताकी निग्रहस्थान निर्माणमें असमर्थता—अब एक निग्रहस्थान है अविज्ञातार्थ। सभासदोंके द्वारा तीन बार भी कहनेपर यदि अर्थ अविज्ञात रहा, उसका अर्थ न जाना जासका तो वह अविज्ञात अर्थ है अर्थात् वादी तीन बार भी कोई वाक्य बोलता है और उस वाक्यार्थको सभासद नहीं समझ सकता, तो वह अविज्ञात अर्थ नामका निग्रह स्थान हो जाता है। यहां इसका यह भाव है कि किसी भी मतव्यको वादीने तीन बार बताया है, इतनेपर भी न कोई सभासद उसका अर्थ जान सके और न प्रतिवादी ही उसका अर्थ जान सके तब उसे अविज्ञातार्थ निग्रहस्थान कहते हैं। इस सम्बन्धमें यह पूछा जाता है कि वादी ने तीन बार वाक्यको बोला और उसे सभासदोंने और प्रतिवादियोंने नहीं जान पाया

तो क्या मदबुद्धि होनेसे नही जान पाया या कोई शीघ्र–शीघ्र उच्चारण किए जानेसे नही जान पाया ? यदि कहो कि मदबुद्धि होनेसे नही जान पाया तो जो ठीक साधन बोलता है उस साधनके सम्बन्धमे भी मदबुद्धि होनेके कारण सभासदोंने नही जान पाया तो वह भी निग्रहस्थान बन जायगा, क्योंकि सम्यक स्थान बोला जानेपर भी परिषदके लोग मदबुद्धि होनेसे उसे भी न जान पायें यह बात बहुत कुछ सम्भव है। इस कारण मदबुद्धि होनेके कारण परिषदोंने वादीके कहे हुए अर्थको न जान पाया, इतने मात्रसे वह निग्रहस्थान नही कहा जा सकता।

गूढाभिधानताकी निग्रहस्थाननिर्माणमे असमर्थता—अगर कहो कि गूढ़ शब्द होनेके कारण सभासदोने नहीं जान पाया तो कोई पत्र और वाक्यका प्रयोग भी हो तो उसमें भी यह बात सम्भव है कि सभासद लोग उसको नही जान सकते, क्योंकि गूढ़ शब्द होनेके कारण शुद्ध पत्र और शुद्ध वाक्यका प्रयोग होनेपर वे सभासद लोग नही जान पाये। बडे–बडे बुद्धिमान भी हो तो भी किसी पत्र और वाक्यके प्रयोगका अर्थ भी नही जान सकते हैं। तब गूढ अभिधान होनेके कारण सभासदोने नहीं जान पाया अर्थ इस कारणसे अविज्ञात अर्थ निग्रह स्थान बन जाय यह बात नही मानी जा सकती है। यदि कहो कि इन दोनोके द्वारा न जाना जानेपर भी यहा यह वादी उस गूढ़ अर्थके गूढ उपन्यासको भी गूढ उपन्यासको भी गूढ शब्दके रहस्यको भी वही कहदे। अर्थात् शकाकार यहाँ यह कह रहा है कि मानो गूढ शब्द होनेके कारण परिसदके लोगोने नही जान पाया वादीका अर्थ तब फिर वादी ही स्वयं बता देवे आरामसे धैर्यके साथ कि मेरे मतव्यको यह भाव है। अगर वह वादी नही बताता है तो उसकी जीतका अभाव ही हुआ इसपर इतना कहना ही पर्याप्त है कि इसमे वादीका निग्रह तो न हो सका, क्योंकि दूसरेके पक्षकी सिद्धि न हो सकी। दूसरेके पक्षकी सिद्धि हुए विना निग्रह नही हो सकता है। वास्तवमें निग्रह वहाँ हो माना जा सकेगा जहाँपर दूसरे प्रतिवादीके पक्षकी सिद्धि हो जाय, पर अन्य वादीके पक्षकी जब सिद्धि नही हो रही है तब उसकी जीत नही हो सकती।

द्रुतोच्चारणकी निग्रह स्थान निर्माणमे असमर्थता—यदि किसीके शीघ्र शीघ्र उच्चारण करनेमें वादियोंने और सभासदोने अर्थ नही जान पाया यदि यह पक्ष ग्रहण हुआ तो शीघ्र–शीघ्र उच्चारण करनेपर भी सभासदोंके लोगोको ज्ञान सम्भव हो सकता है, क्योंकि वे सब सिद्धान्तके जानने वाले हैं, अर्थात् कितना ही शीघ्रवादी अपने पक्षका उच्चारण करे तिसपर भी कोई परिसदके लोग अथवा प्रतिवादी खुद समझ सकते हैं, क्योंकि वे सब दोनोंके सिद्धान्तके जानकार हैं, इस तरह यह बात नही कही जा सकती है कि सर्वथा अर्थशून्य होनेके कारण निरर्थक नामका निग्रह स्थान निग्रहके लिए माना गया है।

साध्यानुपयोगी होनेके विकल्पसे भी अविज्ञातार्थ निग्रह स्थानका

अनिर्माण—यदि कहो कि साध्यका अनुपयोगी होनेके कारण निग्रहस्थान माना जाता है, तो साध्यके अनुपयोगका वादमें प्रलापमात्र होनेपर दोनोंका प्रमान सिद्ध होता है। तो उन दोनोंका प्रज्ञान अविज्ञातार्थ नहीं हुआ, किन्तु वर्णक्रम निर्देशकी तरह निरर्थक नाममें ही निग्रह स्थान बना, इस कारण यह कहना ठीक नहीं है कि अविज्ञातार्थ नाम का निग्रह स्थान निग्रहसे कोई भिन्न निग्रह स्थान है, यह भी निरर्थक नामके निग्रहस्थानमें ही अन्तर्भूत हो जाता है, इस कारण अविज्ञातार्थ नामका निग्रहस्थान कोई जुदा कल्पना करना युक्त नहीं है, क्योंकि तीन बार्वोके कहे हुए मतदनका परिषदके लोग अथवा प्रतिवादी नहीं समझ सके तब वह निरर्थक ही तो रहा। तो जैसे वर्णक्रमका कोई भी शब्द बोला जाय उसका कोई अर्थ नहीं है। जैसे स्वरोंका कोई प्रयोग करे, १६ स्वर लगातार बोले, ३३ व्यञ्जन लगाकर बोले, तो बोल गया, अब उसका अर्थ क्या ? किसीने क ख ग घ ङ ऐसा कहा तो इसका क्या अर्थ ? तो जैसे कार्यक्रमके निर्देशनमें निग्रहपनेका स्थान बताया था और वह निरर्थक था इसी तरह यहाँ भी निरर्थक नामका निग्रहस्थान मानलो। सो अविज्ञात अर्थ नाम का कोई निग्रहस्थान न बन सका। जैसे कि निरर्थक निग्रहस्थान भी ठीक न था, इस प्रकार यह अविज्ञातार्थ नामका निग्रहस्थान भी कोई उचित नहीं है। यह भी एक मिथ्यावाद है। और केवल वादीको चुप करनेके लिए ही एक दूषण लगाया है। अगर वादीका अभिप्राय कोई नहीं जान सकता है, तो उसे पुनः पूछना चाहिये, उस को समझना चाहिए। पर इतने मात्रसे उसका निग्रह यों न होगा कि इससे कोई प्रतिवादीका पक्ष तो सिद्ध नहीं हो गया। यदि प्रतिवादीका मन्तव्य सिद्ध हो जाय तो निग्रहस्थान माना जा सकता है।

अपार्थक निग्रहस्थानका परिचय—एक अपार्थक नामका निग्रह स्थान है। इसका लक्षण न्यायसूत्रमें यों बताया है कि पूर्वापर योगसे अप्रतिसम्बद्ध अर्थ कहना सो अपार्थक है। जिसका भाव यह है कि जो पूर्वापर असंगत हो ऐसे पद समूहके उच्चारण करनेसे जिसका वाक्यार्थ अप्रतिष्ठित है उसको अपार्थक नामक निग्रह स्थान कहते हैं। जैसे १० अनार छः अपूर हैं आदिक, असम्बद्ध अर्थवाले वचन बोलना इसे अपार्थक कहते हैं। समाधानमें कहते हैं कि यह अपार्थक नामका निग्रह स्थान भी निरर्थक नामका निग्रहस्थानसे भिन्न नहीं है। जैसे कि अ इ उ ऋ इ द स या अ य प्रकारसे क ख ग घ ङ आदिक, किसी भी प्रकार वर्णादिक बोलना अर्थशून्य है। इसका क्या अर्थ ? केवल एक शब्दके उच्चारण मात्र है, तो जैसे यों वर्णक्रमका निर्देश निरर्थक है इसी प्रकार यह अपार्थक नामका निग्रहस्थान भी निरर्थक ही है। उससे भिन्न कुछ नहीं है।

अपार्थकके विचारसे पदनैरर्थक्य वाक्यनैरर्थक्य आदिकी समस्यायें—यदि यह कहो कि फिर तो पदनैरर्थक्य वर्णनैरर्थक्यसे भिन्न होनेके कारण वह भी

निग्रहस्थान मान लिया जाता है तो फिर वाक्यनैरर्थक्य भी तो वर्णनैरर्थक्य और पदनैरर्थक्यसे भिन्न है। इसलिए एक वर्णनैरर्थक्य नामका भी निग्रहस्थान मान लेना चाहिए क्योंकि जैसे पद नाना प्रकारसे प्रयोगमे आते हैं पूर्वापर रूपसे प्रयोगमे आते इसी प्रकार वाक्य भी पूर्वापर रूपसे नाना प्रकार प्रयोगमे आते हैं। तो वाक्य नैरर्थक नामका भी निग्रहस्थान मानना पडेगा। जैसे एक वाक्यमे पदोका पूर्वापर एक रूढ़ कारण पद्धतिसे रख दिया जाता है इसी प्रकार किसी आक्योंमें यदि वाक्योको भी उसक्रमसे न रखकर भिन्न भिन्न रूपसे रख दिया जाय तो वाक्य नैरर्थक्य नामका भी निग्रह स्थान बन जायगा। जैसे कि किन्ही किन्ही काव्योमें बताया है कि शख कदली है, कदली भेरीमे है और भेरीमें बहुतसे विमान हैं। और यो वे शख भेरी कदली और विमान उन्मत्त गगा वाले प्रदेशकी तरह सब, हो गए थे तो इस कवितामे कौन सा वाक्य पहिले कहे कौनसा बादमे कहें, इसकी अपेक्षा न करके वाक्य तो सब रख दिये किन्तु पूर्वापर क्रमके बिना पद रख दिया जाय तो पदनैरर्थक्य हुआ। पूर्वापर क्रमके बिना वर्ण रख दिया जाय तो वर्णनैरर्थक्य हुआ। यो ही पूर्वापर क्रमके बिना वाक्य रख दिया जाय तो वह वाक्य नैरर्थक्य हुआ। तो निग्रहस्थान भिन्न-भिन्न अनेक हो जावेंगे एक वाक्य नैरर्थक्य भी बता देना चाहिए। यदि यह कहो कि पद नैरर्थक्यको ही वाक्य नैरर्थक्य कहते है, क्योकि वाक्य होता है पदोके समुदाय रूप। जब पदोमे निरर्थकता आयी तो वाक्य निरर्थकता भी बन गयी। इस तरह वाक्य निरर्थकता भी बन गयी। इस तरह वाक्य निरर्थक नामका निग्रह स्थान अलगसे बनानेकी आवश्यकता नही पडी। उत्तरमें कहते हैं कि इस तरह तो वर्णकी निरर्थकताको ही पद निरर्थक मान लो। क्योकि जो भी पद होता है वह वर्णोके समुदाय रूप हुआ करता है। इस तरह पद निरर्थकता की भी कल्पना न करना चाहिए। यदि यह कहो कि पद और वाक्यमें सभी जगह वर्णोंकी निरर्थकता होनेसे पदके भी निरर्थकताका प्रसग आ जायगा। फिर तो पदकी भी निरर्थकता होनेसे पदके समुदाय रूप उस वाक्यमें भी निरर्थकताका अनुषग हो जायगा। ऐसे निग्रह स्थानोमे जरा-जरासे भेद करके अपने अभिप्रायसे भिन्न भिन्न मान लेना यह युक्तिसगत नही है। इस तरह तो सर्व प्रकारके निग्रह स्थानोका प्रथम बताये गए निग्रहस्थानमें अन्तर्भाव नही हो सकता। और, स्पष्ट बात तो यह है कि जितने भी ये निग्रहस्थान कहे जा रहे हैं ये सभ्यताकी सीमासे बहिर्गत हैं। हेत्वाभास पक्षाभास आदिकके दूषण उपस्थित करके वादीके मतव्यको दूषित घोषित कर देना यह तो वादकी सभ्यताका रूप है। और, विद्वानोंमे इस ही पद्धतिसे जय पराजयकी व्यवस्था बनती है। किस ही प्रकार वादी को निग्रहीत किया जाय, यह आशय प्रेक्षावानो आदरके योग्य नही माना गया। तो जब एक निरर्थक नामका दोष कह दिया निग्रहवादीने तो उस निरर्थकमें ही अविज्ञातार्थ अपार्थक पदनैरर्थक्य वाक्यनैरर्थक्य सभी कुछ दूषण एक निरर्थकतामे ही आ जाते हैं।

शब्द, पद व वाक्यमें निरर्थक्यकी असिद्धिमें संदेह—यदि कहो कि पदके वर्णकी अपेक्षा पदमें अर्थवानपना है तब वर्णोंकी अपेक्षा, अर्थोंकी अपेक्षा वर्णोंमें भी अर्थवानपना हो तो इसमें कौन संदेहकी बात है ? प्रकृति प्रत्यय आदिक वर्णोंकी तरह जैसे कि केवल प्रकृति और प्रत्यय अथवा एक प्रकृति ही पद नहीं होता केवल प्रत्यय ही पद नहीं होता, प्रकृति और प्रत्यय मिलकर पद होते हैं फिर भी प्रकृति और प्रत्यय न भी मिलें, ये ये जुदे-जुदे भी हों तो भी इनकी निरर्थकता नहीं है, क्योंकि इनको मिलकर ही तो एक अभिप्रेत व्यक्त अर्थ बना करता है। यदि कहो कि अभिव्यक्त अर्थ तो इसमें है, केवल प्रकृति बोली जाय तो उससे अर्थ तो प्रकट नहीं हुआ। जब तक विभक्ति सहित शब्द न हो तब तक उससे क्या अर्थ ध्वनित होता है ? देवदत्त, गाय, यों अलग-अलग प्रकृति बोल देनेसे विभक्तिरहित शब्द बोल देनेसे उनमें अर्थ तो कुछ अभिव्यक्त नहीं हुआ। जब-जब इसमें विभक्ति लगाई जाती है, जैसे कि देवदत्तने गाय को बांध दिया तो देवदत्तने इसका अर्थ जाहिर होगया, तो विभक्ति बिना प्रकृतिसे कोई अर्थ व्यक्त नहीं होता और प्रकृति बिना प्रत्ययसे विभक्तिसे कोई अर्थ व्यक्त नहीं होता। जैसे बोलते जावो ने को से आदि, तो इनका अर्थ क्या ? तो अभिव्यक्त अर्थ न होनेसे वर्ण निरर्थक कहलाता है। ऐसा कहा तो पद भी निरर्थक हो जायगा। जैसे केवल प्रकृति, अर्थ घोषित नहीं कर सकता। केवल विभक्ति किसी अर्थको घोषित नहीं कर सकती। प्रकृतिका अर्थ प्रत्ययके द्वारा ही प्रकट होता है और प्रत्ययका अर्थ प्रकृति के द्वारा प्रकट होता है। केवल प्रकृति और केवल प्रत्ययका प्रयोग नहीं होता। जैसे कि देवदत्त ठहरता है। इस प्रयोगमें देवदत्तमें देवदत्त यहां विभक्ति लगी है। ठहरता है तिष्ठतमें भी विभक्ति लगी है, तो यहां दो पद हैं—देवदत्तः तिष्ठति। यदि कोई केवल एक ही पद बोले, किसीने कहा—'तिष्ठति' अब इससे क्या अर्थ ध्वनित हुआ ? ठहरता है। कोई मतलब ही नहीं समझ सकता। अथवा किसीने एक ही पद बोला—देवदत्तने, तो इतनेसे भी क्या अर्थ ध्वनित होता है ? तो केवल पदका प्रयोग करनेसे भी उसका अर्थ कोई ध्वनित नहीं होता। तब पदप्रयोग भी निरर्थक हो जायगा। जैसे कहा था ना कि प्रकृति और प्रत्यय, यदि ये इकले-इकले ही बोले जायें प्रकृतिमें प्रत्यय लगाकर न बोला जाय तो वह निरर्थक है, इसी प्रकार पद भी निरर्थक है। वाक्य पूरा बोला जाय तब उससे अर्थ ध्वनित होता है, केवल कोई पद ही बोला जायगा तो उससे उसका कोई अर्थ ज्ञात नहीं होता है। यदि कहो कि पदान्तरकी अपेक्षा रखने वाले पदकी सार्थकता होती है तो यही बात यहां भी लगा लीजिए कि प्रकृतिकी अपेक्षा रखकर प्रत्ययकी सार्थकता होती है और प्रत्ययकी अपेक्षा रखकर प्रकृतिकी सार्थकता होती है। तात्पर्य यह है कि निरर्थक भी हो कुछ तो यों निरर्थकोंको अनेक अनेक भेदोंमें बोलनेपर व्यवस्था नहीं बन सकती। एक निरर्थकमें ही उन सबका अंतर्भाव हो जायगा। जिनके बोलनेसे परिषदके लोग अथवा प्रतिवादी लोग कुछ अर्थ नहीं समझ सकते।

अप्राप्तकाल नामकनिग्रहस्थानकी मीमासा–एक निग्रहस्थान है अप्राप्तकाल अप्राप्तकालका अर्थ न्यायसूत्रमें इस प्रकार किया गया है कि अवयवोको विपरीतरूपसे कहना सो अप्राप्तकाल है। अनुमानके अवयव ५ कहे गए हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण उपनय और निगमन। और उनके कथनका भी क्रम ऐसा है कि पहिले प्रतिज्ञा कहा जाता है। इसके पश्चात् हेतु। इसके पश्चात् उदाहरण। फिर उपनय और निगमन, लेकिन कोई इन प्रतिज्ञा आदिक अवयवोको। विपरीत रूपसे बोल दे। जैसे क्रम सहज है उसका उल्लघन करके यदि अवयवोको प्रयोग किया जाय तो उसे अप्राप्तकाल नामका निग्रह स्थान कहते हैं। उत्तरमे कहते कि यह भी बात असगत है क्योकि बुद्धिमान ज्ञानी पुरुषोंके अवयव क्रमके नियम बिना भी अर्थकी प्रतिपत्ति देखी जाती है इस कारण कभी अवयवमें विपर्यास भी कर दिया जाय, तो भी उसका अर्थ तो विद्वान लोग लगा लेते हैं। इससे अप्राप्तकालक नामका निग्रह स्थान कुछ भी प्रतिष्ठा नहीं रखता। जैसे किसी पुरुषने ऐसा ही कह दिया–देखो धूम होनेसे इस पर्वतमें अग्नि साबित होती है। तो यहा अवयवोंका विपर्यास कर दिया गया। पहिले हेतु बोला गया व पक्ष, प्रतिज्ञा पीछे लेकिन कोई इस शब्दको सुनकर स्पष्ट अर्थ यही जान पाता है क्या ? जान लेता है। तो उचित अवयवोके विपर्यास वचन होनेपर भी वह निग्रह नही बन पाता। निग्रह तो समर्थतया तब हुआ करता है जब प्रतिवादी का पक्ष सिद्ध हो जाय। और उसका उत्तर वादी कुछ न दे सके। तो वादीका निग्रह हो जायगा।

विपरीतक्रम सुनकर सत्यक्रमके स्मरणसे अर्थप्रतिपत्ति होनेकी शका व उसका समाधान—शकाकार कहता है कि जिस प्रकार अपशब्द श्रुतसे सत्य शब्द का स्मरण हो जाता है फिर उस सत्य शब्दसे अर्थका ज्ञान हो गया यों शब्दसे ही अर्थका ज्ञान परम्परासे हो जाता है उसी प्रकार प्रतिज्ञा आदिक अवयवको विपरीत बोल देनेसे भी सुनने वालेको उसके क्रमका स्मरण हो जाता है और उससे वाक्यके अर्थका ज्ञान हो जाता है और उससे वाक्यके अर्थका ज्ञान हो जाता है। तो हुआ तो आखिर क्रमपूर्वक ज्ञानमे लेनेसे ही स्मरण और बोध। तो यहां अवयवोके विपरीत वचनसे अर्थका ज्ञान हुआ, यह न कहना चाहिये। शकाकारका यह भाव है कि जैसे किसीने बोल दिया कि धूम होनेसे इस पर्वतमें अग्नि है तो वादी इस प्रकार बोल तो गया, मगर सुनने वाले ने इस वाक्यको अपने ज्ञानमें इस तरहसे सम्हाल लिया है कि इस पर्वतमें अग्नि है धूम होनेसे। तो सुनने वालेने जो अपने ज्ञानमे यह क्रम उत्पन्न कर लिया कि तब अवयवके व्युत्क्रमसे। विपर्ययसे नही, किन्तु यथाक्रम प्रयोग रूप अन्य ज्ञानोसे उनके वाक्यका अर्थ समझा गया है। उत्तरमे कहते हैं कि इस तरह से अपनी बात बनाना सारहीन है क्योकि विद्वान लोग विपर्यास रूपसे अवयवोका वचन सुनकर भी तत्काल ही उसके सुननेसे ही वाक्यके अर्थका ज्ञान कर लेते हैं। ऐसा नही देखा गया कि किसीने तो विपर्यास रूपसे अवयवोका वचन बोला और

उसे सुनने वालेने अपने हृदयमें क्रम सम्हाला, और उसे क्रम पूर्वक लगाया तब ज्ञान किया। ऐसी प्रतीति नहीं होती जिस ही उच्चारण किए गए शब्दसे जिस ही अर्थकी प्रतीति होती है वह ही उसका वाचक है अन्य नहीं, अन्यथा अर्थात् उच्चारण किया जाय शब्द कुछ और कोई किसी दूसरे अर्थकी प्रतीति कर बैठे याने अन्य अर्थका वाचक उस बना डाले तो शब्दसे और उसके क्रमसे अप शब्दोंके उसका-व्युत्क्रममें, स्मरण हो बैठे तो स्मृत अप शब्दसे अथवा अस्मृतमें, क्रमसे भी अर्थकी प्रतीति हो जायगी। तब यह भी कहा जा सकता है, जैसे कि शंकाकारने यह बात रखी थी कि कोई यदि क्रमका उल्लंघन करके विपर्यय रूपसे भी शब्दोंको रखकर अवयवोंको रखकर बोल दे तो उस बोलको सुनकर दूसरा उसके क्रमका स्मरण करता है और अपने में उसके क्रम पूर्वक योजना बनाता है। फिर उसको ज्ञान होता है। ऐसा यदि कहते हो तो इसके विरोधमें यह भी कहा जा सकता कि जिसको विपर्यासका भी ज्ञान है और सुगम क्रम वाले वाक्योंको सुना, जैसा अवयवोंका क्रम कहना चाहिये उस क्रमसे अवयवोंका प्रयोग सुना तो उसे सुनकर झट वह विपरीत क्रम लगा लि और फिर अर्थको जाने तो यहां विपरीत क्रमसे वह अर्थकी प्रतीति करने लगा ऐसा भी तो कहा जा सकता है।

श्रुत शब्दसे अपशब्दके स्मरण द्वारा अर्थ प्रत्यय प्रसंगकी आपत्ति दूर करनेका प्रयास और उसका समाधान—शंकाकार कहता है कि इस तरह तो जब शब्द आदिकसे अप शब्द आदिकके स्मरणका क्रम हो जानेसे ज्ञान किया जाने लगा तो शब्द आदिकका आख्यान करना व्यर्थ हो जायगा। अर्थात् कभी-कभी समझानेके लिए शब्दोंका बारबार भाषण किया जाता है, समझाया जाता है, बोला जाता है। अब विपरीत शब्दसे भी ज्ञान होता, उस सुगम क्रम वाले शब्दसे भी ज्ञान होता, हर तरह से ज्ञान होने लगा तो शब्द सुनकर अप शब्दका ज्ञान करे कोई अप शब्द सुनकर शब्द का ज्ञान करे कोई तो जब हर तरहसे ज्ञान हो जाने लगा याने किसीके बोलनेका कुछ महत्त्व न रहा कि जो जैसा बोले उसका वैसा ही बोल सुनकर ज्ञान कर लिया जाय, जब बोलने वालेके शब्दोंके अनुसार सुनने वाले शब्दोंका ज्ञान नहीं करता है तब कभी कभी किन्हीं किन्हीं शब्दोंका जो अन्वाख्यान कराया जाता, बारबार भाषण कराया जाता या बोधने वाला बारबार शब्दोंको बोलता है जब तक कि दूसरे लोग समझ न सकें, तो दूसरेको समझानेके लिए जो पुन. पुनः कथन करनेकी बात चलती है वह फिर व्यर्थ हो जायगी। उत्तरमें कहते हैं कि ऐसा कहने वाले खुद अपने आपके अनिष्ट मतव्यको सिद्ध कर रहे हैं अपशब्द होनेपर भी अन्वाख्यानकी उपलब्धि होनेसे। संस्कृत अर्थात् सम्हालें गए शब्दसे जो कि सत्व-रूप है, उससे धर्म होता है, और संस्कृत शब्द से धर्म होता है ऐसा नियम बनानेपर फिर अन्य धर्म, अधर्मकी बातका अनुष्ठान करना व्यर्थ हो जायेगा। पूजा, अध्यापन, योग आदि सब व्यर्थ हो जायेंगे। कोई मतव्य ऐसे हैं कि जो केवल वचन व्यवहारकी उचितरूपता समझ जानेपर धर्म मानते हैं और

इसके विपरीतमें अधर्म मानते हैं तो इससे फिर अन्य बातोंके उपायका अनुष्ठान करना व्यर्थ हो जायगा और धर्म और अधर्ममें अप्रतिनियमता हो जायगी, क्योंकि अधार्मिक पुरुषमें भी सस्कृत याने सम्हले हुए शब्द बोलनेका सामर्थ्य पाया जाता है, और धार्मिक पुरुषमे भी सस्कृत शब्दके बोलनेका स्मरण पाया जाता है तो इसमें धर्म अधर्मकी व्यवस्था नही बन सकती। अथवा हो उस क्रमसे अर्थ प्रतीति। तो भी अर्थका ज्ञान क्रमसे ही हुआ करता है। जिस वाक्यसे अर्थ प्रत्यय विपरीत बन जाय, अतिक्रान्त हो जाय वह निरर्थक कहलायेगा। अप्राप्तकाल निरर्थक नहीं कहलाता। जिससे विपरीत अर्थ ध्वनित हो वह वचन अप्राप्तकाल कहलाता है। अवयवोंसे विपर्यासरूपसे वचन हो तो उसे अप्राप्तकाल नहीं कहते हैं।

पुनरुक्तनामक निग्रह स्थानकी मीमांसा—एक निग्रह स्थान है पुनरुक्त नामका। जिसका लक्षण न्यायसूत्रमे इस प्रकार किया गया है कि शब्द और अर्थका जो पुन कथन करना है उसे पुनरुक्त निग्रह स्थान कहते हैं केवल अनुवादको छोडकर। अर्थात् अनुवादमें तो दुबारा कहा ही जाता है। दूसरी भाषामे कहा तो उस अनुवादके अतिरिक्त अन्य किसी भी स्थानपर, किसी भी प्रवसरपर शब्दको दुबारा कहना अथवा उस अर्थको दुबारा [illegible] सो पुनरुक्त निग्रह स्थान है। इस सम्बन्धमे समाधान रूपमे इतना ही कथन पर्याप्त है कि अर्थका पुनरुक्त ही वास्तवमे पुनरुक्त कहलाता है। शब्द दुबारा बोल दिया [illegible] उसमे पुनरुक्त निग्रह स्थान नही बनता, इसका कारण यह है कि यदि शब्द वे ही दुबारा बोले जायें, लेकिन उनसे अर्थ भेद ज्ञात हो तो पुनरुक्त दोष नही होता, शब्दको [illegible] होनेपर भी पुनरुक्त नही कहलोता, क्योंकि वहाँ अर्थ भेद हो सकता है। जैसे [illegible] वाक्योंमें वर्णन आता है कि स्वामिनि हसति हसति, यद्यपि ये हसति के दो बार [illegible] हुए हैं लेकिन अर्थ इनका जुदा है, स्वामीके हँसनेपर हसता है किसी सेवककी [illegible] का वर्णन किसी काव्यकारने किया तो उसमे वह कहता है कि स्वामीके हँसनेपर [illegible] हँसता है, तो यहाँ दो हसति शब्द आये, लेकिन इनका अर्थ भिन्न भिन्न है [illegible] शब्द दुबारा कहे जानेपर भी चूँकि अर्थ न्यारा न्यारा है तो यह पुनरुक्त निग्रह नहीं बन सकता। वही कवि फिर कहता है कि स्वामीके अधिक रोनेपर वह अधिक [illegible] है। स्वामिनि उच्चैरुदति सः अतिरोदति, तो यद्यपि रुदति शब्द दो बार प्रयुक्त [illegible] है लेकिन अर्थ भिन्न भिन्न हैं, इस कारण यहाँ पुनरुक्त स्थान तो नही हो सकता [illegible] अनेक उदाहरण मिलेंगे। स्वामिनि प्रधावति धावति। स्वामी की विशिष्ट दौड़ [illegible] होता है। निन्दति निन्दति स्वामी यदि किसी गुणी और निर्दोष पुरुषकी [illegible] करता है तो यह भी निन्दा करता है। आदिक वाक्योमे शब्दके दुबारा प्रयोग होने [illegible] चूँकि अर्थ भिन्न है तो उसमें पुनरुक्त निग्रह स्थान नही बनता तो जब शब्दको [illegible] बोल देनेमें पुनरुक्त निग्रह स्थान उत्पन्न नही होता तब यह ही मानना चाहिए [illegible] जाने हुए अर्थके वाचक उन शब्दोके द्वारा अथवा अन्य शब्दों के द्वारा सत्य ही [illegible] किया जाता है, और, उन प्रतिपादक शब्दोको कहनेके

बाद एक बार अथवा बारबार जो बोलता है उसे निरर्थक तो कह सकते हैं, पुर पुनरुक्त नामक निग्रहस्थान नहीं कह सकते, क्योंकि उसमें इष्ट अर्थके विशेष बतानेका प्रयोजन है।

पुनरुक्तपना होनेसे निग्रहस्थानकी सिद्धिका अभाव—अभी जो वाक्यांग वाक्यके उदाहरण दिए गए हैं उनमें अर्थभेद बताया गया है। किन्हीं वाक्योंमें यदि अर्थभेद न भी हो और उसमें इष्ट अभिप्रायको बड़े जोरसे बतानेका प्रयोजन हो और उन्हीं—उन्हीं शब्दोंका कई बार प्रयोग किया जाय तो उन्हें कभी निरर्थक तो चाहे कह देंगे, पर पुनरुक्त नामक निग्रहस्थानमें कहनेकी जरूरत नहीं है। जो भी अर्थसे आपन्न है, परिज्ञात है उसका उस ही शब्दमें पुन वचन कहना पुनरुक्त कहा गया है। जैसे किसीने अनुमान किया कि जो उत्पत्ति धर्म वाला है वह अनित्य होता है, ऐसा कहकर यद्यपि इस कहनेसे ही यह बात सिद्ध हो जाती है जो कि बात अभी आगे कहेंगे, लेकिन पुन. इस तरह कहना कि जो अनुत्पत्ति धर्मवाला है वह नित्य होता है अथवा जो नित्य होता है वह उत्पत्ति धर्म वाला नहीं होता, ऐसा सिद्ध हो गया। फिर भी जाने हुए अर्थका प्रतिपादन करनेके कारण वह व्यर्थ हो जाता है इस कारण निग्रहस्थान बन गया। पुनरुक्त होनेके कारण निग्रहस्थान नहीं होता। और, इस प्रकार यह पुनरुक्त नामक दोष भी निरर्थकमें ही शामिल होता है। निरर्थकसे अलग कोई पुनरुक्त नामका दोष नहीं होता।

प्रमाण और प्रमाणाभासके निर्णयसे ही जय पराजय व्यवस्था—यहाँ मुख्य प्रकरण यह चल रहा है कि शास्त्रार्थ करने वाले वादी और प्रतिवादी सभाके बीचमें सभापतिकी उपस्थितिमें अपना अपना वक्तव्य रख रहे हैं तो उनकी जीतहार किस माध्यमपर होती है। जीतहारका माध्यम तो जैन शासनमें यह बताया है कि जो समर्थ वचन बोल सके, प्रमाणसिद्ध वचन बोल सके तो उसकी तो जीत है और जो प्रमाणाभासका वचन बोले, असमर्थ वचन बोले, जिसमें हेत्वाभास आदिक दूषण आयें तो उसकी पराजय है। लेकिन इस जयपराजयका भी अर्थ इतना ही है कि दुनियाको यह ध्यानमें आए कि वस्तुस्वरूप यह है और इस मार्गमें चलनेसे आत्म-कल्याण होता है। कहीं लोकमें अपना बड़प्पन लुटानेके लिए जीतका अर्थ नहीं है। इसके विरुद्ध योग सिद्धान्तमें यह प्रतिपादन किया है कि जय और पराजयका कारण छल, जाति, निग्रहस्थान, जल्प और वितंडा ये ५ तत्व हैं, और १६ तत्व कहकर इन को शामिल किया गया है। लेकिन दूसरेका मुह बंद करनेके लिए अथवा सभामें ताली पिटानेके लिए छल, जाति, निग्रह स्थान आदि वाले वचन बोल करके उसकी हार करा देवे तो भले ही नासमझ लोग उसकी हार जान लें। जो बुद्धिमान लोग हैं वे तो सयुक्तिक समर्थ वचन देखकर ही जय पराजयकी व्यवस्था करेंगे। यहाँ कुछ निग्रहस्थानोंके भेदके प्रसगमें पुनरुक्त नामका निग्रह स्थान कहा जा रहा है। जो वचन

बारबार कहा जाय जो मतलब बारबार कहा जाय उसे पुनरुक्त कहते हैं, इसमें भी यह अन्तर है कि शब्द यदि बारबार भी कहा जाय लेकिन मतलब जुदे-जुदे प्रकट हों तो वहाँ पुनरुक्त दोष नहीं होता और, किसी जगह यदि शब्द भी बारबार हों, मतलब भी बारबार हो और चाहे शब्द भी भिन्न भिन्न हों लेकिन मतलब वही का वही निकले सो यह सब निरर्थकमें शामिल होता है। ऐसा पुनरुक्त भी निरर्थक ही कहलाता है। तो एक निरर्थक नामका स्थान बतानेके बाद फिर पुनरुक्त, अप्राप्तकाल, अपार्थक अविज्ञातार्थ आदिक निग्रहस्थान बताना व्यर्थ है क्योंकि इन सबका निरर्थक नामके निग्रह स्थानमें ही अन्तर्भाव हो जाता है।

अननुभाषण निग्रहस्थानकी मीमांसा— एक निग्रहस्थान है अननुभाषण। अननुभाषणका न्यायसूत्रमें यह अर्थ किया है कि वादीने कोई बात तीन बार कही तिस पर परिषद्के लोग तो मतलब जान गए किन्तु प्रतिवादी उसका प्रत्युच्चारण नहीं करता है। जब एक वादी कुछ अपना मन्तव्य रख रहा है चाहे वह सत्य हो, चाहे असत्य हो, परिषद्के लोग भी सब उसका मतलब जान गए तिसपर भी उसके बारेमें प्रतिवादी यदि कुछ भी नहीं कहता तो यह अननुभाषण नामका दोष है। कारण यह है कि प्रतिवादी यदि वादीकी कही हुई बातका प्रत्युच्चारण नहीं करता है तो किस आश्रयसे फिर वह वादीके पक्षका निषेध करे। इस तरह अननुभाषण नामका निग्रहस्थान बताया गया है। इसके समाधानमें दो विकल्प पूछे जा रहे हैं— अननुभाषणका क्या यह मतलब लगाया जा रहा है कि वादीने जितना जो कुछ कहा है, उसके सबका अप्रत्युच्चारण होना अर्थात् प्रतिवादीके द्वारा न कहना, क्या अननुभाषणका यह मतलब है? या वादीके कहे हुए उन वचनोंमेंसे जिस वचनके प्रत्युच्चारण किये बिना प्रतिवादीके पक्षकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्या उसको प्रतिरूप करके उच्चारण न करना, यह अननुभाषणका अभिप्राय है? इन दो विकल्पोंमेंसे यदि प्रथम विकल्प कहोगे कि वादीके द्वारा कहे हुए समस्त वचनोंका प्रत्युच्चारण न करना सो अननुभाषण है, सो यह कथा करना अयुक्त है क्योंकि वादीके द्वारा कहे हुए समस्त वचनोंका प्रत्युच्चारण भी करे वादी तो भी उसका दूषण बतानेमें उसे बाधा नहीं आती। वादीने कितना भी कहा हो, जितना अंश दूषण देने लायक है उतने ही अंशका प्रत्युच्चारण करके प्रतिवादी दूषण उपस्थित करता है तो उसमें दूषण वचन सिद्ध हो जाता है।

उदाहरणपूर्वक अननुभाषण निग्रहस्थानकी व्यर्थताका कथन—जैसे कि वादीने यह अनुमान किया कि समस्त पदार्थ अनित्य हैं। सत्त्व होनेसे। इतना वादीके द्वारा कहा जानेपर प्रतिवादी केवल इतना ही कहता है कि सत्त्व होनेसे यह हेतु विरुद्ध है। अब सभामें बैठने वाले सभी विवेकी समझ गए इतना ही सुन कर कि जो सत्त्व हेतु है वह सदोष हेतु बताया जा रहा है। क्या जो जो चीज होती है वे सब अनित्य होती हैं? यह व्याप्ति है क्या? सत् होने वाले पदार्थमेंसे कुछ पदार्थ प्रधानतम होते

हैं और कुछ पदार्थ अनित्य होते हैं । तो इसमें ही विरुद्धता आ गयी, लोग समझ गए, क्योंकि जो क्षणिकवादका एकान्त है उसमें सर्वथा अर्थक्रियाका विरोध है । यदि कोई पदार्थ क्षण क्षणमें ही नष्ट हो रहा है तो उससे कोई काम नहीं चल सकता है । उत्पन्न हो पहिले समयमें और दूसरे समयमें रहे ही नहीं ऐसा क्षणिकवादी लोग आत्माको क्षणिक मानते हैं । जिस आत्माने पापकर्म किया वह करते करते ही नष्ट हो गया, फल भोगनेको दूसरा आत्मा आता है । तो वह व्यवस्था कोई समुचित व्यवस्था नहीं है । तो क्षणिकवादमें अर्थक्रिया नहीं बनती । इस कारण अनित्य माननेपर सत्वकी सिद्धि नहीं होती है । जो सद्भूत हो वह सर्वथा अनित्य हो, यह बात असंगत है । वह नित्यानित्यात्मक है । द्रव्यदृष्टिसे तो सदा रहने वाला है । अतएव नित्य है । पर्यायदृष्टिसे चूंकि पर्याय बदलती रहती है अतएव अनित्य है । तो यहाँ जो अनुमान किसी वादीने दिया था कि सब अनित्य है सत्त्व होनेसे तो इसमें केवल सत्वको ही विरुद्ध कहकर प्रतिवादीने खण्डन कर दिया तो वादीने जितना कुछ कहा था, सारा तो नहीं प्रतिवादीने उच्चरित किया लेकिन फिर भी दूषण वचन सिद्ध हो गया । तब यह विकल्प कि वादीके द्वारा जितना भी कुछ कहा गया, सारा का सारा प्रत्युच्चारण करे प्रतिवादी तो ठीक, और न करे तो अननुभाषण नामका दोष है, यह बात युक्ति संगत नहीं बनी, क्योंकि थोड़े ही शब्दमात्रसे जितना कि दोष देनेके लिए समर्थ है उसका उच्चारण करके ही प्रतिवादीने दूषण समर्पित कर दिया है । तब तो दूसरे विकल्पकी पुष्टि होती है कि जिससे शब्दको सदोष बतानेसे प्रतिवादीका मन्तव्य खण्डित होता है इतनेसे भी प्रतिवादी प्रत्युच्चारण न करे तो अननुभाषण दोष है, यह बात फिर मान लेना चाहिए । और, जब इस प्रकारका दूषण देनेके लिए वह असमर्थ है तो इसका मतलब यह है कि प्रतिवादीको शास्त्रोंके मतलबका परिज्ञान नहीं है । और, उस समय फिर यह दोष क्या है ? उत्तरकी अप्रतिपत्ति ही बनी । और, उसीसे ही दूषण आया किन्तु अननुभाषणके कारण नहीं आया । इस तरह अननुभाषण नामक निग्रहस्थान भी प्रतिष्ठासे प्राप्त नहीं होता ।

अज्ञाननामक निग्रहस्थानकी मीमांसा एक निग्रह स्थान बताया गया है अज्ञान नामका । इसका न्यायसूत्रमें इस प्रकार लक्षण किया गया है कि जो अविज्ञात हो उसे अज्ञान कहते हैं । इसका खुलासा यह है कि वादीने कोई अपना पक्ष उपस्थित किया और उस पक्षको परिषदके लोग तो जान गए अर्थात् सभामें बैठे हुए लोग उसका मतलब समझ गए, पर प्रतिवादी नहीं समझ सका । तो यह प्रतिवादीके लिए अज्ञान नामका निग्रह स्थान है क्योंकि मतलबको जाने बिना वह किसका निषेध कर सकेगा ? कुछ बोल ही नहीं सकता । इस तरह यह अज्ञान नामका एक निग्रहस्थान बताया गया है । तो इस निग्रहस्थानको भी अलग रूपसे बतानेकी बात सारहीन है । अथवा बताओ तो यह अज्ञान नामका निग्रहस्थान कहा गया है और पहिले प्रतिज्ञा हानि, प्रतिज्ञा प्रतिषेध, प्रतिज्ञा विरोध, प्रतिज्ञा सन्यास, हेत्वंतर, अर्थान्तर आदिक जो

निग्रहस्थान कहे गए हैं उन सबका इस ही अज्ञानमें अन्तर्भाव हो जायगा । तो उन निग्रहस्थानोको अलग न कहना चाहिए और यदि उन निग्रह स्थानोको भी कहते हो, इसे भी कहते हो, तब निग्रहस्थानकी सख्याका कोई नियम नही बन सकता, फिर तो और अनेक निग्रहस्थान बनाओ । वादीने जो कुछ कहा है उसका आधा ज्ञान प्रतिवादी कर पाया, वह भी निग्रहस्थान बना, कभी कोई थोडा ही ज्ञान बन पाया, वह भी निग्रह स्थान बना । इस तरह उस अज्ञानके अनेक भेद होनेसे निग्रहस्थानका कुछ नियम ही नही बन सकता । वे तो मनमाने अनेक बन जायेंगे । इस तरह अज्ञान नामका निग्रहस्थान भी कोई अलग निग्रहस्थान नही है ।

अप्रतिभाव पर्यनुयोज्योपेक्षण नामक निग्रहस्थानकी मीमासा एक निग्रहस्थान माना गया है अप्रतिभा । उत्तरके परिज्ञान न होनेको अप्रतिभा कहते हैं । ऐसा न्यायसूत्रमें कहा गया है किन्तु प्रतिभा नामक निग्रहस्थान भी अज्ञानसे कोई भिन्न स्थान नहीं है । जैसे कि अज्ञानका लक्षण कहा गया था कि जो अविज्ञात हो, जिसका ज्ञान परिषदके सदस्योंने कर भी लिया है, लेकिन प्रतिवादीको अज्ञात है उसे अज्ञान कहते हैं तो यहाँ भी यही बात कही गई है कि प्रतिवादीको उत्तरका परिज्ञान नही है । तो यो अप्रतिभा नामक निग्रह स्थान भी अज्ञानसे कुछ अलग नही है । अज्ञान ही है । एक निग्रह स्थान माना है पर्यनुयोज्योपेक्षण जिसको न्यायसूत्रमें यह लक्षण किया गया है जो वक्ता निग्रह प्राप्त है अर्थात् जिसने कुछ असमर्थ या सदोष वचन कहा जानेके कारण सभामें जिसका निग्रह कर देनेका उपयुक्त अवसर है यो यह निग्रह प्राप्त है फिर भी उसका निग्रह न कर सकना यह पर्यनुयोज्योपेक्षण नामका निग्रहस्थान है, जिसका स्पष्ट भाव यह है कि जिस वादीमें दोष प्राप्त है और फिर भी उस दोषको प्रकट न करे तो यह भी एक निग्रहस्थान है । जो पुरुष असमर्थ अथवा सदोष वचन बोल गया है उसके प्रति दूसरे वादीको यो कहना चाहिए कि यह तो तुम्हारा निग्रह स्थान है अर्थात् तुम यह सदोष अथवा असमर्थ वचन बोल गए हो । इस कारणसे तुम निगृहीत हो गए, दूषित हो गए, इस प्रकार बोलना चाहिये था । लेकिन उस अवसरमें वह न बोले और उसकी उपेक्षा करदे तो वह निग्रहको प्राप्त हो गया । जैसे कि वादीने सदोष वचन कहा । अब वादी तो समझ रहा है कि मुझसे यह कुछ असमर्थ वचन बोला गया है लेकिन उसपर प्रतिवादी कोई दोष न दे सका तो अब इस वादीको यह मौका हो गया है कि प्रतिवादीसे यह कहे कि देखो मेरे कथन में इस समय यह असमर्थता थी, यह दोष था, वह इस प्रतिवादीको बताना चाहिए था लेकिन यह न बता सका । इसलिए यही निग्रहप्राप्त है । इस प्रकारसे पर्यनुयोज्योपेक्षण नामका निग्रह स्थान बताया जा रहा है । इसीके समर्थनमें निग्रहवादियोंने यह कहा है कि यह बात जब कोई पूछे कि यहां किसकी पराजय हुई है तो ऐसा जब कोई पूछे कि यहा किसकी पराजय हुई है तो ऐसा जब परिषदसे पूछा गया तो परिषदको बोलना चाहिए कि यह इसकी पराजय हुई है, पर जिसने स्वय सदोष वचन

मतानुज्ञा नामका अर्थ न्यायसूत्रमें इस प्रकार किया गया है कि अपने पक्षमें दोष स्वीकार कर लेनेसे परपक्षमें भी उसी दोषका प्रसंग लाना इसे मतानुज्ञा कहते हैं। जिसका स्पष्ट भाव यह है कि वक्ताने जो कुछ अपना पक्ष मन्तव्य रखा और उसमें जो वह दोषयुक्त वचन बोल गया उसका तो वह परिहार करनेमें असमर्थ है। तो परपक्षमें भी वह दूषण प्रकट करता है इसका मतानुज्ञा नामका निग्रह स्थान कहते हैं। जैसे कि वादी प्रतिवादीके द्वारा बताये गए दोषका परिहार न करके बोलता है कि आपके पक्षमें भी यह दोष समानरूपसे है इस प्रकार वह अपने पक्षमें दोष मानकर फिर परपक्षमें दोषका सम्बन्ध लगा देता है और परमतका स्वीकार कर रहा है तब उसके मतानुज्ञा नामका निग्रह स्थान बनता है। इसके समाधानमें केवल इतना ही कहना ठीक है कि यह निग्रहस्थान भी अज्ञान नामके निग्रहस्थानसे कोई जुदा निग्रहस्थानके कोई जुदा निग्रहस्थान नहीं है और इस हेतुमें तो अनैकान्तिक दोष आता है। जैसे कि किसी वक्ताने एक अनुमान बनाया कि यह पुरुष चोर है पुरुष होनेसे, प्रसिद्ध चोरकी तरह। जैसे कोई प्रसिद्ध चोर पुरुष है तो इसी कारण चोर है इस प्रकार बोल दिया। अब यह अनुमान तो सही नहीं है, क्योंकि पुरुषत्व हेतुमें अनैकान्तिक दोष है क्या यह व्याप्ति है कि जो जो पुरुष होते हैं वे चोर होते हैं? अचोर भी चोरत्वका प्रसंग हो गया। अनैकान्तिक दोष उसे कहते हैं कि साध्यसे विपरीत पक्षसे भी हेतु चला जाय तो अनैकान्तिक दोष है सो यह पुरुषत्व हेतु अनैकान्तिक दोषसे दूषित है। तो वक्ताने बात तो दिया ऐसा, अब प्रतिवादी कहता है कि इसके मायने यह है कि तुम भी चोर हो। वादीसे भी प्रतिवादी कह बैठता है इस कारण यह अनैकान्तिक दोष है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। अब यह वादी अपने हेतुमें अपने ही द्वारा अनैकान्तिकपना देखकर अर्थात् पुरुष मैं हूँ और इसी कारण मैं चोर हो जाता हूँ ऐसा प्रतिवादीने कहा भी है। तो वादी अपने हेतुमें अपने ही द्वारा अनैकान्तिकपना देकर बोलता है तो यह आपके पक्षमें भी दोष समान हुआ। तुम भी पुरुष हो अतः चोर हो इस प्रकार अनैकान्तिकपनेको प्रकट करता है यह मतानुज्ञा नामका निग्रहस्थान है। समाधान यह निग्रहस्थान भी अज्ञानमें अन्तर्भूत होता है। अज्ञानसे भिन्न मतानुज्ञा नामका कोई निग्रहस्थान नहीं है।

न्यून नामक निग्रहस्थानकी मीमांसा—एक निग्रहस्थान बताया गया है न्यून नामक, जिसका लक्षण न्यायसूत्रमें यों किया गया है कि ५ अवयवोंमेंसे किसी भी अवयवकी अनुमानमें हीनता हो जाय तो वह न्यून निग्रहस्थान कहलाता है। अनुमानके प्रयोगसिद्धान्तमें ५ बताये गए हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। जिस वाक्यमें प्रतिज्ञा आदिक ५ अवयवोंमेंसे कोईसा भी अवयव न हो तो वह वाक्य हीन नामका निग्रहस्थान कहा जाता है, क्योंकि ऐसा नियम है कि साधनके अभावमें साध्यकी सिद्धि नहीं होती, लेकिन साधन केवल हेतुका ही नाम नहीं है प्रतिज्ञा आदि पाँचों ही अवयव साधन कहलाते हैं क्योंकि किसी भी अनुमानकी सिद्धि तब हो पाती

है जब सब अवयवोंका प्रयोग हो लेता है। तो पाँचों ही अवयव अनुमानके साधक कहलाये और उन पाँचों अवयवोंमेंसे यदि एक भी अवयव न हो तो साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती। और, कोई उन पाँचों अवयवोंमेंसे किसी अवयवको कम करदे तो वह न्यून नामका निग्रहस्थान होता है। समाधानमें कहते हैं कि यह भी बात समीचीन नही है, क्योंकि पाँचों ही अवयवके प्रयोग बिना अर्थात् ५ अवयवोंमेंसे कोई अवयव कम हो जाय और शेष अवयवोंका प्रयोग किया जाय उससे भी साध्यकी सिद्धि होती है' ऐसा खूब विस्तारके साथ कहा जा चुका है। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि प्रतिज्ञा और हेतु इन दोके कहे बिना साध्यकी सिद्धि नही हो सकती। तो प्रतिज्ञा और हेतु इन दोनोंमेंसे कोई एक कम हो तो न्यून नामक निग्रहस्थान होता है, ऐसा कहा जाय तो यह बात मानी जा सकती है। जैसे कि प्रसिद्ध अनुमान है कि इस पर्वत में अग्नि है धूम होनेसे। जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, जैसे रसोई घर। और, धूम यहाँ है इस कारण अग्नि होना चाहिए। तो इस अनुमानमें पाँचों अवयवोंका प्रयोग है लेकिन कोई इतना ही कहदे कि इस पर्वतमें अग्नि है धूम होनेसे, तो विद्वान् लोग इतनेसे ही समझ जाते हैं। कोई जरूरी न रहा कि पाँचों अवयवोंका प्रयोग किया जाय। पाँचों अवयवोंका प्रयोग शिष्योंके प्रति समझानेके लिए किया जाता है, किन्तु जहाँ सभी विवेकी बुद्धिमान लोग हों और शास्त्रार्थमें बुद्धिमानोंको ही अधिकार है तो वहाँ दो अवयवोंसे ही अनुमानकी सिद्धि बनती है। तो ५ अवयवोंमेंसे कोई अवयव कम हो तो उसे न्यून नामक निग्रहस्थान कहते हैं, यह युक्तिसगत नही है।

अधिक नामक निग्रहस्थानकी मीमांसा—एक अधिक नामका निग्रहस्थान माना गया है जिसका न्यायसूत्रमें लक्षण किया गया है कि हेतु और उदाहरण अधिक बोलना सो अधिक नामका निग्रहस्थान है। इसका खुलासा यह है कि जिस वाक्यमें दो हेतु अथवा दो दृष्टान्त तथा इससे अधिक हेतु या दृष्टान्त बोले जायें तो वहाँ अधिक नामका निग्रह स्थान होता है। समाधानमें कहते हैं कि यह भी केवल वार्तामात्र है। जिसमें हेतु अधिक हो, दृष्टान्त अधिक हो, ऐसे भी वाक्यसे पक्षकी प्रसिद्धि हो तो होती फिर पराजय कैसे हुई? यह निग्रहस्थान कैसे बना? निग्रहस्थान बनता है तब जबकि अपने पक्षकी सिद्धि न हो सके या प्रतिपक्षकी सिद्धि हो जाय तो पराजय होती है। हेतु अधिक भी बोल दिया तो वह पक्षकी असिद्धि नही बल्कि प्रकृष्टरूपसे सिद्धि है। वहाँ पराजय नही हो सकती। और भी सुनिये! जो पुरुष ऐसा मानते हैं कि प्रमाण अधिक बोलनेसे, हेतु अधिक बोलनेसे दृष्टान्त बोलनेसे निग्रहस्थान बनता है तब फिर प्रमाण सप्लव कैसे माना जा सकेगा? प्रमाण सप्लव कहते हैं उसे कि प्रमाणके एक विषयमें प्रमाणान्तरको लगा देना सो प्रमाणसंप्लव है। और यदि प्रमाणसप्लवको मान लेते हैं तब फिर प्रमाण सप्लवमें प्रमाण अधिक तो हो गए ना, फिर अधिक होनेके कारण निग्रहस्थान क्यों न बनेगा? यदि निग्रहस्थानवादी यह कहे कि प्रमाणसंप्लव आदिकमें प्रतिपत्तिकी दृढ़ता होती है, तत्त्वादकी सिद्धि होती है, इस प्रयोजनके रहनेके

कारण वहां निग्रह नहीं माना जाता तो यह बात अन्य जगह भी समान है । यदि किसी मतव्यको सिद्ध करनेके लिए दो हेतु कह दिया, दो दृष्टान्त कह दिया तो इसमें बिगाड़ क्या हुआ ? उससे तो और प्रतिपत्तिकी दृढ़ता हुई, परिज्ञानमें मजबूती आई और विषय स्पष्ट हो गया । इसलिए हेतु दृष्टान्तका अधिक प्रयोग करनेसे निग्रहस्थान नहीं बनता है । यद्यपि यह भी बात है कि एक ही हेतुसे अथवा एक ही दृष्टान्तसे साध्यकी सिद्धि की जाती है फिर भी दूसरा यदि हेतु या दृष्टान्त बोल दिया जाय तो वह अनर्थक नहीं है, क्योंकि हेतु दृष्टान्त बोलनेका प्रयोजन यह है कि जो पक्ष रखा है जो तत्व रखा है उसकी सिद्धि होना । तो यह प्रयोजन तो अधिक हेतु, अधिक दृष्टान्त बोलनेपर भी सिद्ध होता है । यहां यह भी नहीं कह सकते कि अन्य हेतु अन्य दृष्टान्त के बोलनेसे फिर और अन्य हेतु दृष्टान्तकी खोज करे और अनवस्था हो जायगी । यह दोष यों नहीं आता कि किसी मनुष्यको किसी जगह निराकांक्षता बनती है अर्थात् हेतु दृष्टान्तकी खोज करते-करते कहीं विराम हो जाता है । जिस मनुष्यको जहां तक तृप्ति बनी विराम मिला वहांसे आगे फिर हेतु दृष्टान्त आदिक खोजनेकी आवश्यकता नहीं रहती । जैसे कि किसी बातको सिद्ध करनेके लिए प्रमाण उपस्थित किया जाता है और उस प्रमाणमें प्रमाणता सिद्ध करनेके लिए अन्य प्रमाण भी उपस्थित किया जाता है, अथवा उस ही वस्तुको सिद्ध करनेके लिए ऐसे प्रमाण भी खोजे जाते हैं, लेकिन जहां सिद्धि पूर्ण हो चुकी, जिसमें कोई सन्देह नहीं रहा, फिर प्रमाणान्तरके खोजनकी आवश्यकता नहीं रहती ।

अधिकनामक निग्रहस्थानके माननेपर आपत्तियां—और भी देखिये अधिक दृष्टान्त अधिक हेतुके प्रयोग करनेसे जो निग्रहस्थान माने हैं उनके यहां तो कृतकत्वात् आदिक हेतुवोंमें स्वार्थे कः से क प्रत्यय भी वचन फिर कैसे बन सकेगा । जैसे कृत मायने भी किया हुआ जब किया हुआ अर्थ केवल कृत शब्दमें आ जाता है फिर स्वार्थेक इस सूत्रसे इसमें क प्रत्यय लगाकर कृतक बना दे, इसकी क्या आवश्यकता है । जब किसी भी हेतुके अधिक होनेमें निग्रहस्थान मानते हो, दृष्टान्तके अधिक आ जानेसे तुम दोष मानते हो तो फिर शब्दोंमें क प्रत्यय भी नहीं लाना चाहिए । व्याप्ति बनाते हैं ना कि जो कृतक है वह अनित्य है तो इस व्याप्तिमें जो कृतक है वह अनित्य है तो इस व्याप्तिमें जो कृतक शब्द दिया गया है, उसमें क शब्द लगानेकी क्या जरूरत थी और लगाया तो निग्रहस्थान बन गया । तथा कोई समास वाला पद है तो समास वाले पदके प्रयोगसे अर्थका ज्ञान हो गया । अब उसको भिन्न भिन्न-करके उसकी व्युत्पत्ति बनाते हुए वाक्यका प्रयोग करना अधिक बात हुई ना तो वह भी निग्रहस्थान क्यों न हो जायगा ? अर्थात् दोष क्यों न बन जायगा ? यदि यह कहो कि भले ही वृत्ति प्रयोगसे अर्थ ज्ञात हो गया, फिर भी विशेष जानकारी करनेके उपायमें उसका खुलासा करते हैं, व्युत्पत्ति करते हैं इस कारणसे उसमें अधिक नामका दोष न आयगा । तो समाधानमें यही बात प्रकृतमें भी लगा लेना चाहिए । एक

दृष्टान्त देकर साध्यकी सिद्धि हो जाती है। और फिर दृष्टान्त देनेसे जानकारीमें दृढ़ता आती है। इस कारणसे अनेक हेतु अनेक दृष्टान्त बोले जाते हैं। वहाँ निग्रहस्थान कैसे बन जायगा? हाँ इतनी बात अवश्य है कि साध्यकी सिद्धि होनेपर और प्रतिवादी भी मान ले, फिर भी बोलता रहे, जाय तो वे निरर्थक वचन कहलायेंगे। पर अधिक होनेके कारण निग्रहस्थान कहा जाय ऐसी बात नहीं। जब साध्यकी सिद्धि एक दो हेतुओंसे हो गयी फिर भी उसे बोलते जायें तो वहाँ निरर्थक नामका दोष हो सकता है, पर अधिक नामका निग्रहस्थान नहीं कहला सकता है।

अपसिद्धान्त निग्रहस्थानका परिचय - एक निग्रहस्थान है अपसिद्धान्त नामक। सिद्धान्तको स्वीकार करके फिर उसे नियमित न बना सके तब अन्य कथाका प्रसंग ला दे तो वह अपसिद्धान्त नामका निग्रहस्थान होता है। कोई वक्ता जो सिद्धान्त मानता है उसका जो आगम है, उसके विरुद्ध कोई बात सिद्ध हो जाती है तो अपसिद्धान्त नामका निग्रहस्थान होता है क्योंकि यहाँ जो वक्ताने प्रतिज्ञाको, जिस साध्यको सिद्ध करनेका बीड़ा उठाया उसको उसने त्याग दिया। तो प्रतिज्ञात अर्थका परित्याग करनेसे यह अपसिद्धान्त भी निग्रहस्थान बन गया। जैसे कोई पहिले तो यह स्वीकार किया कि शब्द नित्य है। शब्दोंको नित्य स्वीकार करनेके बाद फिर उन्हें अनित्य बोल बैठे तो यह अपसिद्धान्त हुआ। जो बात कह रहा था उसपर वह दृढ़ न रह सका, और उससे विचलित होकर उसके विरुद्ध चला गया तो यह अपसिद्धान्त नामक दोष न्यायसूत्रमें बताया है। लेकिन, धीरतापूर्वक विचार करें तो विदित होगा कि यह भी निग्रहस्थान नहीं बन सकता जब तक प्रतिवादीका प्रतिपक्ष सिद्ध हो। यदि अब भी प्रतिवादीका प्रतिपक्ष सिद्ध न हो तो यह कोई निग्रहस्थान नहीं बनता। निग्रहस्थान उसे कहते हैं कि कथनमें दूषण आये, कथन असमर्थ हो। यदि प्रतिवादीका मन्तव्य सिद्ध होता है तो वादीका निग्रह हो जायगा, लेकिन वादी किसी भी प्रकारसे कहे, कहीं थोड़ी दृष्टिभेदसे कुछ बदल भी दे तो भी जब तक प्रतिवादीका प्रतिपक्ष सिद्ध नहीं हो सकता तब तक वादीका निग्रह नहीं माना जा सकता। तो यह अपसिद्धान्त नामका दोष भी प्रतिवादीका प्रतिपक्ष सिद्ध होनेपर बनता है अन्यथा नहीं।

हेत्वाभासोंको निग्रहस्थान माननेपर विचार—कुछ हेत्वाभास नामके भी निग्रहस्थान बताये गए हैं जिन हेत्वाभासोंका वर्णन पहिले किया गया है। न्यायसूत्रमें भी इस प्रकारका सूत्र है कि हेत्वाभास भी निग्रहस्थान होता है। वे निग्रहस्थान कौन कौन हैं? असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम। इसी सम्बन्धमें भी यही कहना है कि विरुद्ध हेतुको कहे जानेमें प्रतिपक्षकी सिद्धि हो जाती है इसलिए निग्रहके आधार बनते हैं। तो इसका भाव यह हुआ कि हेत्वाभासोंके कारण विरुद्ध हेतुओंके कारण वह निग्रहस्थान कहलाता है अन्यथा नहीं कहलाता। ये असिद्ध आदिक प्रकटके करनेपर प्रतिवादीने अपना प्रतिपक्ष सिद्ध कर लिया है

इस कारण निग्रहस्थान बना। यदि प्रतिवादीका प्रतिपक्ष सिद्ध न होता तो वह निग्रह स्थान नहीं बनता।

असाधनाङ्गवचन व अदोषोद्भावना निग्रहस्थानका निराकरण—उक्त प्रकरणके कथनसे, निग्रहस्थानके वर्णनसे, क्षणिकवादियोके यहां जो अन्य प्रकारसे निग्रहस्थान बताये गए हैं जैसे असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्भावन आदिक निग्रहस्थान भी निराकृत हो जाते हैं। क्षणिकवादियोंका कथन यह है कि वादी यदि अपने मंतव्यको सिद्ध करने वाले अगका प्रयोग नहीं कर पाता है तो वादीका निग्रह हो जाता है और प्रतिवादी यदि वादीके कथनमें दोष नही बता सकता है तो प्रतिवादीका निग्रह हो जाता है। इस प्रकार असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्भावना ये दो निग्रहस्थान क्षणिकवादमें कहे हैं वे भी पूर्वोक्त निग्रहके निराकरणसे निराकृत हो जाते हैं। बात यह है कि यहां भी अपने पक्षकी सिद्धिसे ही दूसरेका निग्रह होता है। सभी जगह यही घटित करना चाहिए कि जब भी दूसरेका निग्रह होता है तो अपने पक्षकी सिद्धिसे होता है। यदि वादीका पक्ष सिद्ध हो जाता है तो उसमे प्रतिवादीका निग्रह हुआ और यदि प्रतिवादीका मतव्य सिद्ध हो जाता है तो वादीका निग्रह हुआ। निग्रह होनेका मूल कारण यही सिद्ध हुआ कि अपने पक्षकी सिद्धिसे ही अन्यवादीका निग्रह होता है, पर असाधनाङ्गवचन अथवा अदोषोद्भावन ये वादी और प्रतिवादीके निग्रहके कारण नही है। निग्रहकी जो झलक आती है वह इसी कारण आती है कि एकने अपने पक्षकी सिद्धि कर दी। एतावता ही दूसरे पक्षका निग्रह हो जाता है।

पक्षसिद्ध्यसिद्धिकी अवहेलना करके असाधनाङ्गवचनसे व अदोषोद्भावनसे जयपराजय व्यवस्था माननेपर व्यर्थका प्रसग—यदि पक्षकी सिद्धि असिद्धिके आधारपर जयपराजय नहीं मानते तो इस सम्बन्धमें यह बताओ कि कोई वक्ता वादी या प्रतिवादीमेंसे कोई भी हो, वह अपने पक्षको सिद्ध करता हुआ ही असाधनांग वचनसे अथवा अदोषोद्भावनसे दूसरेको निग्रह करता है या अपने पक्षको न साधता हुआ दूसरेका निग्रह करता है? इन दो विकल्पोंमेंसे यदि प्रथम विकल्प कहोगे कि वक्ता अपने पक्षको मजबूत बताकर सिद्ध करता हो फिर असाधनांग वचनसे या अदोषोद्भावनसे दूसरे वक्ताका निग्रह करता है तो ठीक है। इससे यह ही तो सिद्ध हुआ कि अपने पक्षकी सिद्धिसे ही दूसरेका पराजय किया गया है अब यह 'असाधनाङ्ग वचन अथवा अदोषोद्भावन नामके अन्य दोषको प्रकट करना व्यर्थ है। मूल बात यह आयी कि जय हुई तो अपने पक्षकी सिद्धिसे ही हुई। यदि कहो कि वक्ता अपने पक्षको न साधता हुआ ही असाधनाङ्ग वचनसे अथवा अदोषोद्भावनसे दूसरेका निग्रह करता है तो इस सम्बन्धमें यह निश्चय है कि असाधनाङ्ग वचन अथवा अदोषोद्भावन किया जानेपर भी किसीकी जीत नहीं है, क्योंकि दोनोंके पक्ष

की सिद्धिका अभाव है। जब यहाँ यह मान रहे हो कि अपने पक्षकी सिद्धि न करता हुआ फिर अन्य दोषको लगाकर दूसरेका निग्रह करता है तो जब पक्षकी सिद्धि नहीं कर पा रहा वह तो कितने ही दोषोंके वह नाम ले, फिर भी वहाँ किसीकी जीत नही है। तो चाहे असाधनाङ्ग वचन हो चाहे अदोषोद्भावन आदिक हो, अपने पक्ष सिद्धि होनेसे ही दूसरेकी पराजय है तो इसमें ही सब आ जाता है।

पक्षसिद्धिके परिज्ञानका उपाय— अब किसका पक्ष सिद्ध हुआ यह सिद्ध करनेके लिए, इसकी जानकारीके लिए यह देखना होगा कि इस वक्ताके कहे हुए हेतुमें कोई दोष तो नहीं है। जो हेत्वाभास दोष बताये गए हैं उनकी छानसे, यह हल हो जायगा इस हेतुमें दोष है अथवा नहीं। यदि दोष नहीं है तो उस वक्ताकी जय है और उसमें दोष आता है सो उस दोषको बता देनेसे प्रतिवादीका जय हो जाता है और वादीका पराजय हो जाता है। जयपराजयकी व्यवस्था बनानेके लिए छल जाति निग्रहस्थान इनका प्रयोग करना ये सब बुद्धिमानोंकी गोष्ठीके योग्य काम नहीं हैं। यह तो एक ऐसी जबरदस्ती है कि किसी भी प्रकार गाली गलौजकी तरह कुछ भी छल करके किसी भी प्रकार उनका मुख बन्द करना, इस प्रकारसे जय पराजयकी सही व्यवस्था नहीं बनायी जा सकती है। तत्त्व निर्णयके प्रसंगमें जयपराजयका प्रयोजन क्या है? तत्त्व निर्णयके प्रसगमें जयपराजयका प्रयोजन मात्र इतना ही है कि प्रजा लोग, मुमुक्षु लोग जिज्ञासु लोग यदि उस सही तत्त्वके प्रयोगसे अपना हित करलें। केवल हित करना, अहितसे हटना यही प्रयोजन तत्त्व निर्णयमें हुआ करता है, फिर उसमें छल जाति निग्रहस्थानके प्रयोगका क्या मौका है? तो छल जातिके प्रयोग किए जानेसे तत्त्वका सही निर्णय नहीं होता। तत्त्व निर्णयके लिए समर्थ हेतु, समर्थ दृष्टान्त, समर्थ वचन बोलना चाहिए। तो समर्थ वचन होनेसे जय है और असमर्थ वचन बोलनेसे पराजय होती है।

असाधनाङ्गवचनके व्याख्यान्तरपर विचार—क्षणिकवादमें जो असाधनाङ्ग वचन और अदोषोद्भावन नाम दो निग्रहस्थान कहे हैं उनमेंसे असाधनाङ्ग वचनकी व्याख्या इस प्रकारसे की गई है कि साधनका अर्थ है सिद्धि और सिद्धिका जो अग है उसे कहते हैं साधनाङ्ग। सिद्धिका अग है त्रिरूपलिङ्ग, अर्थात् जो अनुमानके तीन अवयव हैं–प्रतिज्ञा हेतु और उदाहरण इन तीन रूपोंमें जो कुछ एक साधन होता है, लिङ्ग होता है वह सिद्धिका अग है। ऐसा साधनाङ्गका वचन न कहना चुप रह जाना अथवा और कुछ बोल देना वह असाधनाङ्ग वचन कहलाता या चुप रह जाना अथवा और कुछ बोल देना वह भी असाधनाङ्ग वचन कहलाता है। अथवा द्वितीय प्रकारसे अर्थ सुनो–त्रिरूपलिग तो होता है साधन और उस साधनका जो अंग है अर्थात् समर्थन है जो कि विपक्षमें बाधक प्रमाणके देखने रूप है। किसी भी पक्षका समर्थन विपक्षमें बाधा दिखानेसे पुष्ट होता है तो त्रिरूपलिंग साधनका समर्थन व विपक्षमें बाधक प्रमाणका साधन इसको न कहना सो यह वादीका निग्रह स्थान है।

ऐसा जो क्षणिकवाद सिद्धान्तमें बताया है उसका पच अवयव प्रयोगवादीके यहाँ भी समानरूपसे व्याख्यान किया जा सकता है। पंच अवयव प्रयोगवादी यौग भी ऐसा कह सकते हैं कि साधनका अग है पच अवयवका प्रयोग, उसको न कहनेसे क्षणिकवादियोंका निग्रहस्थान होता है।

त्रिरूपलक्षण व पञ्चरूप लक्षण साधनाङ्ग मानने वालोका वार्तालाप— अब सौगत सिद्धान्तका आलम्बन करके बात रखी जा रही है कि क्षणिकवादियोंके यहां पच अवयवोका प्रयाग न करनेपर भी उनका निग्रहस्थान नही होता है क्योंकि दो अवयव जो अधिक यौग बताते हैं उपनय और निगमन, सो इन दोनोका पक्ष धर्मोपसहारके सामर्थ्यसे परिज्ञान हो जाया करता है। अतएव उन दोनोकी अलगसे बात बतानेकी आवश्यकता नहीं रही। जो बात किसी भी प्रकारसे जान ली गई है उसका पुन. कथन करनेसे पुनरुक्तपनेका दोष आता है। सो इस कारण उपनय और निगमनके न कहनेपर भी क्षणिकवादियोंका निग्रह नही होता। कोई यदि ऐसा कहे कि जैसे उन दोनोका याने उपनय व निगमनका प्रयोग हुए बिना साध्यकी सिद्धि न हो जायगी यो ही हेतु प्रयोगके बिना भी साध्यसिद्धि हो जावे सो बात नहीं, उपनय और निगमनका प्रयोग करनेपर भी हेतुका प्रयोग यदि नही किया जाता तो साध्य धर्मकी सिद्धि नही होती। इससे पक्ष हेतु और उदाहरण अर्थात् प्रतिज्ञा हेतु दृष्टान्त इन तीन रूपोंका ही कहना आवश्यक है। अब इसके समाधानमे कहते हैं कि जैसे पक्ष धर्मोपसहारकी सामर्थ्यसे उपनय और निगमनका प्रयोग कर दिया है इसी प्रकार पक्ष धर्मोपसहार कथन न करनेका भी प्रसग आ जाता है क्योंकि उपनय निगमनकी भांति पक्ष धर्मोपसहार भी गम्यमान हो जाता है यदि कहो कि सामर्थ्यसे पक्ष धर्मोपसहार गम्यमान कर लिया गया तो भी पक्ष धर्मोपसहार वचन हेतुमे अपक्ष धर्मत्व रूपसे असिद्धपना नहीं हो, इसके लिए किया जाता है। जैसे कि अनुमान किया गया कि जो सत् हैं वे सब क्षणिक होते हैं। सर्व क्षणिक है सत् होनेसे। जो सत् होता है वह क्षणिक होता है। जैसे घट सत् है तो अनित्य है, ऐसे ही सत् शब्द भी है इस कारण शब्द भी क्षणिक है। यहां पक्षधर्मका उपसहार सामर्थ्यसे जान लिया गया। किन्तु इसका कथन करना इसलिए आवश्यक है कि कहीं इस प्रकारकी असिद्धि कोई न समझले कि हेतु पक्षका धर्म ही नहीं है, इसमें हेतुकी पक्षधर्मता असिद्ध न हो जावे, अतएव पक्ष धर्मोपसहारका कथन किया जाता है, तो उत्तरमे कहते हैं कि इसी प्रकार तो साध्यके आधारमें सन्देह न रहे इसके वास्ते गम्यमान भी पक्ष और निगमन हो उसका कथन क्यो न किया जाय? अथवा पक्ष हेतु उदाहरण उपनय इनको एकार्थक दिखानेके लिए क्यो न कथन किया जाय? क्योंकि जब तक पक्ष आदिकका एकार्थपनेके रूपसे दर्शन नही किया जाता, घटित नही किया जाता, तब तक मन्तव्य सगत नही होता। जैसे भिन्न विषयसे सम्बन्ध रखने वाले पक्ष आदिक उनसे कोई मन्तव्य तो सिद्ध नही होता, क्योंकि वह भिन्न विषय वाला है। यो ये भिन्न विषय

वाले नहीं हैं पक्ष हेतु उदाहरण उपनय, किन्तु एकार्थपनेको लिए हुए हैं ऐसा, प्रदर्शन करनेके लिए पक्ष, हेतु उदाहरणका वर्णन आवश्यक है। उपनय आदिकका भी वर्णन आवश्यक है।

असाधानाङ्गवचनपर शंकाकार व प्रतिशंकाकारोंका प्रश्नोत्तर—अब यहाँ क्षणिकवादी कहता है कि केवल प्रतिज्ञासे ही साध्यकी सिद्धि माननेपर हेतु आदिकका कथन करना निरर्थक हो जायगा। अन्यथा इस प्रतिज्ञामें साधनाङ्गता भी नहीं हो सकती। समाधानमें कहते कि क्षणिकवादियोंके भी फिर हेतुसे साध्यकी सिद्धि होनेपर दृष्टान्त अनर्थक हो जायगा। यदि कहो कि हेतुसे साध्यकी सिद्धि नहीं होती, तब फिर यह सिद्ध हो गया कि हेतुमें साधनापना नहीं है। शंकाकार कहता है कि साध्य और साधनमें व्याप्ति दिखानेके लिए दृष्टान्तकी आवश्यकता होती है अतएव दृष्टान्त अनर्थक नहीं है। क्योंकि साध्य साधनकी व्याप्ति न दिखानेपर हेतु साधक न होगा, गमक न होगा, साध्य भी सिद्ध न होगा, साध्य भी सिद्ध न हो सकेगा। उत्तरमें कहते हैं कि यह कथन भी असगत है। जब सर्व पदार्थोंको अनित्य सिद्ध किया जा रहा है और उसमें हेतु सत्त्व आदिक दिये जायें तो उसमें तो कोई दृष्टान्त ही सम्भव नहीं। तब देखिये यहाँ दृष्टान्तके बिना आप क्षणिकवादी लोग हेतुको गमक मानते हैं और जब यह कह दिया कि दृष्टान्तके बिना हेतु गमक नहीं होता। तब फिर दृष्टान्तके बिना है ना यह सत्त्व हेतु सो इस ही हेतुको अगमक हो जाना चाहिए। यदि कहो कि विपक्ष व्यावृत्तिसे सत्त्व आदिक हेतु गमक बन जाते हैं अर्थात् जो अनुमान किया गया कि सर्व पदार्थ क्षणिक हैं सत्त्व होनेसे तो यहाँ इस अनुमानमें दृष्टान्त कोई नहीं मिलता, क्योंकि सत्त्व सभी पदार्थमें है और सभीको क्षणिक सिद्ध किया जा रहा है। अब सत्को छोड़कर और कुछ क्या है, जिसको कि सपक्ष बनाया जाय? तो यों यहाँ हेतुका दृष्टान्त नहीं मिलता है। सो यहाँ क्षणिकवादी यह कह रहे हैं यहाँ दृष्टान्त न भी मिलो, किन्तु जो विपक्ष है साध्यके विपरीत है, कल्पनामें भी आ गया है, अर्थात् जो क्षणिक है, नित्य है उसमें सत्त्व नहीं होता यों विपक्ष व्यावृत्तिसे हेतु साध्यका गमक हो जायगा। तब समाधानमें कहते हैं कि जिस तरह एक इस अनुमानमें दृष्टान्तके न होनेपर भी हेतुका साध्यका साधक मान लिया गया तो इसी प्रकार सभी हेतुवोंमें दृष्टान्तके बिना हेतु साध्यके गमक हो जायेंगे। अब दृष्टान्त देना अनर्थक ही रहा।

प्रयोजनवश गम्यमानके कथनकी भी आवश्यकता—अब इस प्रसंगमें एक स्पष्ट बात यह भी निकली कि जो विपक्ष व्यावृत्तिसे हेतुका तो समर्थन करता है वह इससे यहाँ प्रतिज्ञाको नहीं मानता, सो जो विपक्ष व्यावृत्तिसे हेतुका समर्थन कर रहा हो वह क्षणिकवादी प्रतिज्ञाके न बोलनेपर कहाँ तो हेतु रहे और कहाँ साध्य रहे? यदि कहो कि प्रतिज्ञाका विषय जो कि प्रतिज्ञामें गम्यमान है,

अपने आप सिद्ध है उसमें हेतु और साध्यकी वृत्ति लगा दी जायगी । तब फिर उत्तरमे कहते हैं कि इस प्रकार तो गम्यमान होनेपर भी हेतुका भी समर्थन हो जाय फिर उक्त हेतुकी क्यो आवश्यकता रहे ? तब हेतुको कहनेकी क्या जरूरत है ? वह भी गम्यमान बन जायगा ? यदि कहो कि गम्यमान होनेपर भी अर्थात् प्रसगमे अनेक बातें कही जानेपर स्वय सिद्ध हो गया हेतु तो भी मद बुद्धियोके ज्ञान करानेके लिए हेतुका कथन किया जाता है । समाधानमे कहते हैं कि तब तो प्रतिज्ञाके उपसहार करनेमे कौनसा अनर्थ किया जा रहा है ? प्रतिज्ञा भी गम्यमान है, तो भी मद बुद्धियोके समझानेके लिए प्रतिज्ञाके उपसहारका कथन किया जाता है ।

जयपराजय व्यवस्थाका हेतु—यहाँ मुख्य प्रकरण असाधनागवचनका चल रहा है । क्षणिकवादी यहाँ कहता है कि साधनके अग तीन होते हैं । उनका कथन कोई न कर सके तो वह वादीके लिए दूषण हो जाता है, निग्रह हो जाता है । उसपर पच-अवयव प्रयोगवादी यह कहता है कि साधनके अग हैं ५ अवयव उनके न कहनेपर वादीका निग्रह हो जाता है । कुछ परस्परकी चर्चा चलनेके बाद निष्कर्ष यह समझना चाहिए कि अपने पक्षकी सिद्धि होनेसे प्रतिपक्षका निग्रह होता है और प्रतिपक्षकी सिद्धि होनेमे पक्षवादीका निग्रह होता है । असाधनागवचन भी आ जाय तो भी असाधनाग वचनके कारण निग्रह नही होता, किन्तु वक्ता अपना पक्ष सिद्ध नही कर पाया और प्रतिपक्षकी सिद्धि हो गई अतएव वक्ताका निग्रह हुआ ।

पक्षसिद्धि करनेवालेका अन्य असाधन अङ्ग वचन कहनेसे निग्रहका अभाव—असाधनाग वचनके सम्बन्धमे इस प्रकारका व्याख्यानान्तर पाया जाता है कि साधर्म्यरूपसे हेतुका कथन करनेपर वैधर्म्यका प्रतिपादन करना और वैधर्म्यरूपसे हेतुका कथन किये जानेपर साधर्म्यका प्रतिपादन करना यह चूँकि गम्यमान है इस कारण पुनरुक्त है सो यह साधन अग नही है । क्षणिकवादीके सिद्धान्तपर समाधानरूपसे कहा जाता है कि यह बात अयुक्त है क्योकि यह बतलाओ कि सही साधनके सामर्थ्यसे अपने पक्षको सिद्ध करने वाले वादीका निग्रह होता है याने सही साधनके समर्थनसे अपने पक्षको सिद्ध करने वाले वादीका निग्रह होता है तो भला साध्यसिद्धिके अप्रतिबधी (अनिष्टात्मक) वचनकी अधिकता पाये जाने मात्रसे ही इसका निग्रह कैसे हो जायगा? इसमे तो विरोध है, क्योकि जब सम्यक प्रकारसे साध्यकी सिद्धि हो गई तो निग्रह कैसे हुआ ? यहाँ प्रथम पक्ष लिया जा रहा है कि सही साधनसामर्थ्यसे अपने वचनको सिद्ध करने वाले वादीका निग्रह होता है सो यह कैसे सभव है ? जो साध्यसिद्धिमे नुकसान नही देते ऐसे कुछ वचन अधिक भी निकल जायें उससे निग्रहस्थान नही होता अन्यथा तब तो नाटक आदिकका जो घोषण किया जाता है उसका भी निग्रहस्थान होगा । बात यह है कि कोई अपने साध्यको सिद्ध करले, फिर ज्यादह बोलनेकी बात की जाय तो भी उसको दोष नही है । अपने साध्यको सिद्ध न कर सके दोष तो इस

जगह है। जब इस विकल्पमें यह स्वीकार किया गया कि अपने पक्षको सिद्ध करनेवाले वादीका निग्रह हो रहा तब निग्रह नही कहा जाता अन्यथा कोई कुछ अधिक बोलनेकी तरह कुछ अधिक प्रवृत्ति करे, पान खाये, कोई भौंह चलाये, कोई हाथ फटकारे, इससे भी सत्य साधनवादियोंका निग्रह होना मान लो। सो तो नही माना जा सकता है। अत कोई सही साधन सामर्थ्यसे अपने पक्षको सिद्धि करले तब फिर कितना ही अधिक बोले, उससे उसका निग्रह नही होता।

अपने पक्षको न साध सकने वाले प्रतिवादीके द्वारा वचनाधिक्य बताकर वादीके निग्रह किये जानेकी अशक्यता—यदि कहो कि अपने पक्षको न सिद्ध करने वाले वादीका वचनाधिक्य बताकर निग्रह होता है तो इस सम्बन्धमें दो बातें पूछने योग्य हैं कि प्रतिवादी अपने पक्षको सिद्ध करले तब वादीके वचनोंकी अधिकता बता कर वह प्रतिवादी वादीका निग्रह करता है या प्रतिवादी अपने पक्षको न साधकर वादी के वचनोकी अधिकता बताकर वादीका निग्रह करता है? इन दोनों विकल्पोंमेंसे क्या स्वीकार है? यदि कहो कि प्रथम विकल्प स्वीकार है अर्थात् प्रतिवादीने अपना पक्ष सिद्ध कर लिया फिर वादीके वचनोंकी अधिकताका दोष बताया और उससे वादीका निग्रह हुआ तो प्रतिवादीने जो अपने पक्षकी सिद्धिकी है इससे ही वादीका निग्रह हुआ अब वचनोंकी अधिकताका दोष बताना निरर्थक है। यदि वचनोकी अधिकता भी बतायी जाय, और प्रतिवादीके पक्षकी सिद्धि न हो तो कभी भी प्रतिवादीका जय नही हो सकता है। दूसरे विकल्पमें प्रतिवादी अपने पक्षको न साधकर वादीके वचनोंकी अधिकता दिखाकर निग्रह कर देता है तो इस सम्बन्धमें अब यहाँ दो बातें आयी कि वादीने तो वचनोंकी अधिकताकी और प्रतिवादीने अपने पक्षको सिद्ध न कर पाया, तो जैसे कि इस प्रसगमें बताया जा रहा है कि वचनाधिकता दोष है तो प्रतिवादी अपने पक्षको सिद्ध नही कर पा रहा यह दोष क्या कम है? अपने पक्षको सिद्ध न कर सकना यह उससे भी अधिक दोष है। अथवा मान लो समान दोष है तो भी किसीका पराजय या किसीका जय सिद्ध न हुआ अथवा दोनोका पराजय और दोनोंका जय सिद्ध हुआ, क्योकि अपने पक्षकी सिद्धि दोनों ही नही कर सके। वहाँ वचनोकी अधिकता [illegible]कर दोष दिया जा रहा तो यहाँ प्रतिवादी अपने पक्षकी सिद्धि नही कर पा रहा, [illegible]सके दोष लगा हुआ है अतएव जय कहो तो दोनोंकी और पराजय कहो तो दोनों [illegible]या दोनोंमें किसीको भी जय पराजय नही है।

स्वपक्षसिद्धयसिद्धिसे जयपराजय व्यवस्था न मानकर साधन सामर्थ्य ज्ञान अज्ञानकी घोषणासे जयपराजय व्यवस्था माननेकी शका—अब यहाँ [illegible]काकार कह रहा है कि जय और पराजय स्वपक्षकी सिद्धि और असिद्धिके कारणसे नही होती क्योंकि स्वपक्षकी सिद्धि और स्वपक्षकी असिद्धि होनेका उस जय पराजयके प्रसगमें प्राधान्य नही है, किन्तु जय पराजय तो साधन सामर्थ्यको ज्ञान और अज्ञान

बता पानेके कारण है। साधनवादीने सम्यक् साधन जानकर साधन कहना चाहा और दूषणवादीने साधन दूषण जानकर दूषण कहना चाहा। अब वहाँ साधर्म्यके वचनसे अथवा वैधर्म्यके वचनसे अर्थकी प्रतिपत्ति होनेपर अर्थात् साध्यका परिज्ञान होनेपर उन दोनोके वचनोमे, साधर्म्य वचन एव वैधर्म्य वचन दोनोके कहे जानेपर वादीका प्रतिवादीने सभामे असाधनाङ्ग वचन नामक दोष प्रकट किया तो इससे यह सिद्ध हुआ कि वादीको समीचीन साधन बोलनेका ज्ञान नही है। इसी कारण तो वादीकी हार हुई और उस समय प्रतिवादीने वादीके कथनमें दूषण दिया और वादीके दूषणने ज्ञानका निर्णय किया तो इससे उसकी जीत हो गई। तो दूसरेके दूषणके ज्ञानका निर्णय करने से तो जीत हुई है प्रतिवादीकी और वादीके विषयमे प्रतिवादी यह सिद्ध करदे कि इसको समीचीन साधनका ज्ञान नही है, समीचीन साधन कहना यह जानता नही है तो वादीकी हार हो गई। यो जय और पराजयकी व्यवस्था वादी और प्रतिवादीके ज्ञान और अज्ञानके कारणसे है अर्थात् सभामे ज्ञान अज्ञान सिद्ध कर दिया जाय उससे जीत और हार है। अपने पक्षकी सिद्धि अथवा असिद्धिके कारण जीत हारकी व्यवस्था नही है।

निर्दोष साधनवादीको निग्रहीत किये जानेकी अशक्यता—अब उक्त शकाके समाधानमे कहते हैं कि यह कथन भी बिना विचारे ही सुन्दर लग रहा है। विचार करनेपर इस कथनमें सारता ज्ञात नही होती। भला यह बतलाओ कि वह प्रतिवादी जो कि वादीके वचनोकी अधिकतारूप दोषको प्रकट कर रहा है तो क्या निर्दोष साधन कहने वाले वादीको वह दोष लग रहा है या साधनाभास कहने वाले वादीको वचनाधिक्यका दोष लग रहा है? यहाँ प्रतिवादी वचनाधिक्य दोषको प्रकट करके वादीकी हार और अपनी जीतकी घोषणा करना चाहता है, इस सम्बन्धमे ये दो विकल्प किए गए कि सही साधन बोलने वाले वादीके वचनाधिक्यके दोषसे पराजयकी बात सिद्ध करना चाहा है या साधनाभास बोलने वाले वादीको वचनाधिक्य दोषकी बात कहकर पराजित करना चाहा है। यदि कहो कि वादी समीचीन साधन बोल रहा है फिर भी उसके वचनाधिक्यको बताकर यह सिद्ध किया जा रहा है कि वादीको समीचीन साधन बोलनेका ज्ञान नही है। तो यह बात तो बडी विरुद्ध है। जब यह मान लिया कि वादी समीचीन साधन बोल रहा है और फिर यह साबित करे कि इसको समीचीन साधन कहनेका ज्ञान नही है। यह बात यो भी असम्भव है कि इतने ही परिमाण रूपमे सम्यक साधन कहना चाहिए, इस ज्ञानकी ही असम्भवता है। प्रयोजन तो यह देखना चाहिए, इस ज्ञानकी ही असम्भवता है। प्रयोजन तो यह देखना चाहिए कि वादी जिस मतव्यको सिद्ध करना चाहता है वक्ता, उस मतव्यकी बराबर सिद्धि हो पायी अथवा नही? वचन अधिक बोले अथवा वचन कम बोले, इनक तो यह लेना चाहिए कि वादी अपने पक्षका साधन ठीक प्रकारसे कर सका अथवा नही? तो जब इसे विकल्पसे स्वय ही स्वीकार किया जा रहा है कि समीचीन साधन बोलने

जगह है। जब इस विकल्पमें यह स्वीकार किया गया कि अपने पक्षको सिद्ध करनेवाले वादीका निग्रह हो रहा तब निग्रह नही कहा जाता अन्यथा कोई कुछ अधिक बोलनेकी तरह कुछ अधिक प्रवृत्ति करे, पान खाये, कोई भौंह चलाये, कोई हाथ फटकारे, इससे भी सत्य साधनवादियोंका निग्रह होना मान लो। सो तो नही माना जा सकता है। अत कोई सही साधन सामर्थ्यसे अपने पक्षकी सिद्धि करले तब फिर कितना ही अधिक बोले, उससे उसको निग्रह नही होता।

अपने पक्षको न साध सकने वाले प्रतिवादीके द्वारा वचनाधिक्य बताकर वादीके निग्रह किये जानेकी अशक्यता—यदि कहो कि अपने पक्षको न सिद्ध करने वाले वादीका वचनाधिक्य बताकर निग्रह होता है तो इस सम्बन्धमे दो बातें पूछने योग्य हैं कि प्रतिवादी अपने पक्षको सिद्ध करले तब वादीके वचनोंकी अधिकता बता कर वह प्रतिवादी वादीका निग्रह करता है या प्रतिवादी अपने पक्षको न साधकर वादी के वचनोकी अधिकता बताकर वादीका निग्रह करता है ? इन दोनों विकल्पोंमेंसे क्या स्वीकार है ? यदि कहो कि प्रथम विकल्प स्वीकार है अर्थात् प्रतिवादीने अपना पक्ष सिद्ध कर लिया फिर वादीके वचनोंकी अधिकताका दोष बताया और उससे वादीका निग्रह हुआ तो प्रतिवादीने जो अपने पक्षकी सिद्धिकी है इससे ही वादीका निग्रह हुआ अब वचनोंकी अधिकताका दोष बताना निरर्थक है। यदि वचनोकी अधिकता भी बतायी जाय, और प्रतिवादीके पक्षकी सिद्धि न हो तो कभी भी प्रतिवादीका जय नही हो सकता है। दूसरे विकल्पमें प्रतिवादी अपने पक्षको न साधकर वादीके वचनोंकी अधिकता दिखाकर निग्रह कर देता है तो इस सम्बन्धमें अब यहाँ दो बातें आयीं कि वादीने तो वचनोकी अधिकताकी और प्रतिवादीने अपने पक्षको सिद्ध न कर पाया, तो जैसे कि इस प्रसगमें बताया जा रहा है कि वचनाधिकता दोष है तो प्रतिवादी अपने पक्षको सिद्ध नही कर पा रहा यह दोष क्या कम है ? अपने पक्षको सिद्ध न कर सकना यह उससे भी अधिक दोष है। अथवा मान लो समान दोष है तो भी किसीका पराजय या किसीका जय सिद्ध न हुआ अथवा दोनोका पराजय और दोनोंका जय सिद्ध हुआ, क्योकि अपने पक्षकी सिद्धि दोनों ही नही कर सके। वहाँ वचनोंकी अधिकता बताकर दोष दिया जा रहा सो यहाँ प्रतिवादी अपने पक्षकी सिद्धि नही कर पा रहा, यह इसके दोष लगा हुआ है अतएव जय कहो तो दोनोकी और पराजय कहो तो दोनों की अथवा दोनोमें किसीको भी जय पराजय नही है।

स्वपक्षसिद्ध्यसिद्धिसे जयपराजय व्यवस्था न मानकर साधन सामर्थ्य के ज्ञान अज्ञानकी घोषणासे जयपराजय व्यवस्था माननेकी शका—अब यहाँ शकाकार कह रहा है कि जय और पराजय स्वपक्षकी सिद्धि और असिद्धिके कारणसे नही होती क्योकि स्वपक्षकी सिद्धि और स्वपक्षकी असिद्धि होनेका उस जय पराजयके प्रसगमें प्राधान्य नही है, किन्तु जय पराजय तो साधन सामर्थ्यको ज्ञान और अज्ञान

बता पानेके कारण है। साधनवादीने सम्यक् साधन जानकर साधन कहना चाहा और दूषणवादीने साधन दूषण जानकर दूषण कहना चाहा। अब यहाँ साधर्म्यके वचनसे अथवा वैधर्म्यके वचनसे अर्थकी प्रतिपत्ति होनेपर अर्थात् साध्यका परिज्ञान होनेपर उन दोनोके वचनोमे, साधर्म्य वचन एव वैधर्म्य वचन दोनोके कहे जानेपर वादीका प्रतिवादीने सभामे असाधनाङ्ग वचन नामक दोष प्रकट किया तो इससे यह सिद्ध हुआ कि वादीको समीचीन साधन बोलनेका ज्ञान नही है। इसी कारण तो वादीकी हार हुई और उस समय प्रतिवादीने वादीके कथनमे दूषण दिया और वादीके दूषणने ज्ञानका निर्णय किया तो इससे उसकी जीत हो गई। तो दूसरेके दूषणके ज्ञानका निर्णय करने से तो जीत हुई है प्रतिवादीकी और वादीके विषयमें प्रतिवादी यह सिद्ध करदे कि इसको समीचीन साधनका ज्ञान नही है, समीचीन साधन कहना यह जानता नही है तो वादीकी हार हो गई। यो जय और पराजयकी व्यवस्था वादी और प्रतिवादीके ज्ञान और अज्ञानके कारणसे है अर्थात् सभामे ज्ञान अज्ञान सिद्ध कर दिया जाय उससे जीत और हार है। अपने पक्षकी सिद्धि अथवा असिद्धिके कारण जीत हारकी व्यवस्था नही है।

निर्दोष साधनवादीको निग्रहीत किये जानेकी अशक्यता—अब उक्त शकाके समाधानमें कहते हैं कि यह कथन भी बिना विचारे ही सुन्दर लग रहा है। विचार करनेपर इस कथनमें सारता ज्ञात नही होती। भला यह बतलाओ कि वह प्रतिवादी जोकि वादीके वचनोकी अधिकतारूप दोषको प्रकट कर रहा है तो क्या निर्दोष साधन कहने वाले वादीको वह दोष लग रहा है या साधनाभास कहने वाले वादीको वचनाधिक्यका दोष लग रहा है ? यहाँ प्रतिवादी, वचनाधिक्य दोषको प्रकट करके वादीकी हार और अपनी जीतकी घोषणा करना चाहता है, इस सम्बन्धमे ये दो विकल्प किए गए कि सही साधन बोलने वाले वादीके वचनाधिक्यके दोषसे पराजयकी बात सिद्ध करना चाहा है या साधनाभास बोलने वाले वादीको वचनाधिक्य दोषकी बात कहकर पराजित करना चाहा है। यदि कहो कि वादी समीचीन साधन बोल रहा है फिर भी उसके वचनाधिक्यको बताकर यह सिद्ध किया जा रहा है कि वादीको समीचीन साधन बोलनेका ज्ञान नही है। तो यह बात तो बड़ी विरुद्ध है। जब यह मान लिया कि वादी समीचीन साधन बोल रहा है और फिर यह साबित करे कि इसको समीचीन साधन कहनेका ज्ञान नही है। यह बात यो भी असम्भव है कि इतने ही परिमाण रूपमे सम्यक साधन कहना चाहिए, इस ज्ञानकी ही असम्भवता है। प्रयोजन तो यह देखना चाहिए, इस ज्ञानकी ही असम्भवता है। प्रयोजन तो यह देखना चाहिए कि वादी जिस मतव्यको सिद्ध करना चाहता है वक्ता, उस मतव्यकी बराबर सिद्धि हो पायी अथवा नही ? वचन अधिक बोले अथवा वचन कम बोले, झलक तो यह लेना चाहिए कि वादी अपने पक्षका साधन ठीक प्रकारसे कर सका अथवा नही ? तो जब इसे विकल्पसे स्वय ही स्वीकार किया जा रहा है कि समीचीन साधन बोलने

वाले वादीके वचनाधिक्यका दोष लगाकर हरानेकी घोषणा चाही है तो सिद्ध हो गया कि वादी समीचीन साधन कह रहा है। प्रतिवादीको वादीके समीचीन साधन कहनेका ज्ञान कैसे नहीं है ?

साधनाभासवादीको साधनदूषण बताकर ही निग्रहीत किये जानेकी शक्यता—अब यदि दूसरा विकल्प कहते हो कि प्रतिवादी साधनाभासवादीको वचनाधिक्यका दोष कहकर पराजयकी बात कहना चाहता है तो इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रतिवादीको दूषणका ज्ञान नहीं है, क्योंकि वादीने जब साधनाभास कहा तो प्रतिवादीको साधनाभासकी बात कहनी चाहिए थी, पर वह साधनाभासकी बात उपस्थित न करके केवल वचनाधिक्यकी बात करता है। वचनाधिक्य कोई दोष नहीं है। हाँ, साध्यसिद्ध हो जानेपर फिर वचन बोलते रहना तो निरर्थकमें सामिल हो सकता, पर वचनाधिक्यसे वादीकी हार हो जाय, यह नियमकी बात नहीं बनती। और, फिर यहाँ प्रतिवादीने तो वादीके कहे हुए साधनाभासका दूषण नहीं बता पाया और वचनाधिक्यकी बात कह रहा है तो इससे जब प्रतिवादीको साधनाभास दूषणका ज्ञान ही नहीं है, क्योंकि वह साधनाभासको तो प्रकट न कर सका तब कैसे प्रतिवादीकी जीत हुई ?

वचनाधिक्यमात्र घोषित करनेसे प्रतिवादीके दूषणज्ञताका अभाव—यदि कहो कि प्रतिवादीने जो वादीका वचनाधिक्य दोष बताया अर्थात् वादीके वचनोंकी अधिकताके दोषका ज्ञान होनेसे प्रतिवादीको दूषणज्ञ कहा जा सकता है कि प्रतिवादी दूषणको जान रहा है। यदि ऐसा कहो तो उसके समाधानमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि जैसे वचनाधिक्य दोषके कहनेसे प्रतिवादीको दूषणज्ञ कहा जा रहा है तो साधनाभासके अज्ञान होनेसे उसे दूषणका अज्ञानी कैसे न कहा जा सकेगा ? और, बल्कि मुख्यता तो साधनाभास दूषणको बतानेकी है, वचनाधिक्यमें जो दोष है वह अल्प है और कभी कोई दोष है भी नहीं, लेकिन साधनाभास तो उदेन सदोष है और साधनाभास दूषणको वह जान न सका तो इसमें वह दूषणका ज्ञाता न रहा। सो पराजयके कारणमें एक यह भी कारण बताया था शंकाकारने कि वादीके दोषको प्रकट न कर सकना यह प्रतिवादीके पराजयका कारण है। वादी यदि असमीचीन साधन बोल देता है उसके बताये हुए साधनमें दूषण है और उसे प्रतिवादी नहीं जानता, उस दूषणका प्रतिवादी उद्भावन नहीं कर सकता तो प्रतिवादीकी हार बताई गई है। सो यहाँ देखिये, साधनाभासके कहने वाले वादीके वचनाधिक्यको बताने वाला प्रतिवादी वादीके दोषको न बता सका। साधनाभास जो दूषण है उसका ज्ञान अब नहीं रहा प्रतिवादीको प्रतिवादीकी हार समझिये। इस स्थितिमें प्रतिवादीकी हार भी निवारण की जाना अशक्य है।

वादीके वचनाधिक्य होनेपर भी प्रतिवादीके अदोषोद्भावनामें प्रति

वादीके जयकी असभवता यदि कहो कि वादीके वचनाधिक्य दोषके प्रकट कर देने मात्रसे ही प्रतिवादीकी जीत सिद्ध हो गई और इस कारण अब साधनाभासरूप दूषणके प्रकट करनेकी आवश्यकता न रही अर्थात् साधनाभासका उद्भावन करना अनर्थक है। एक वचनाधिक्य दोषको कह देने मात्रसे प्रतिवादीकी जीत बन जाती है। तो इसके उत्तरमें यह सोचिये कि साधनाभासको प्रकट न कर सकनेसे प्रतिवादीके पराजयकी सिद्धि हो जानेपर वचनाधिक्यको प्रकट करना कैसे जीतके लिए माना जा सकता है ? यहाँ प्रसग यह हो गया कि दोष यहाँ दो हैं—एक वादीका दोष और एक प्रतिवादीका दोष। प्रतिवादी वादीके लिए यह दोष दे रहा है कि वादी वचन अधिक बोल गया, पर प्रतिवादी वादीके साधनाभास दूषणको न बता सका। तो यहाँ शकाकार अपनी जीतकी घोषणाके लिए यह युक्ति दे रहा है कि जब शकाकारने वचनाधिक्य दोषको बता दिया तब साधनाभासका दोष बतानेकी आवश्यकता न रही, उससे ही जीत बन गई। इसके प्रत्युत्तरमे यह भी कहा जा सकता है, और इसमे बल विशेष है कि जब प्रतिवादी वादीके साधनाभासको न बता सका तो प्रतिवादीकी पराजय हो गई। अब प्रतिवादीकी पराजय हो जानेपर यह प्रतिवादी वचनाधिक्यको प्रकट कर रहा, लेकिन उसका यह उद्भावन प्रतिवादीकी जीतके लिए नही बन सकता है।

वचनाधिक्य व दोषोद्भावन दोनोको जयसाधन माननेपर पुनरुक्तके निग्रहत्वके अभावकी सिद्धि— अब शकाकार कहता है कि चलो, वचनाधिक्य और साधनाभास दोनोको प्रकट करने वाले प्रतिवादीकी जीत तो मान लोगे ना, अर्थात् वादी का जो वचनाधिक्य दोष है वह भी प्रकट करे और वादीके साधनमें जो साधनाभास दूषण है उसे भी प्रकट करे तब वहाँ प्रतिवादीकी जीत हो गयी ना ? उत्तमें कहते हैं कि ठीक है लेकिन इस तरह फिर असाधनाङ्ग वचनकी व्याख्यामें यह कहना कि साधर्म्यसे हेतुके कहनेपर वैधर्म्य वचन कहना और वैधर्म्य द्वारा हेतुके कहनेपर साधर्म्यका प्रतिपादन करना ये सब साधनाङ्ग नही हैं। यह बात कैसे सही रह सकेगी ? जब वचनाधिक्य और साधनाभास दोनो बातोंके कहनेसे यहाँ प्रतिवादीके जयकी व्यवस्था कर रहे हो तो दोनोका कहना किसी बातको मजबूत करनेका कारण ही तो बना। फिर साधर्म्यके प्रयोग करनेपर वैधर्म्य कहना यह भी पराजयके लिए कैसे बनेगा ? यह तो और पक्षकी दृढताको सिद्ध करनेका कारण है। और इस प्रकार वैधर्म्यका प्रयोग करनेपर साधर्म्यका प्रतिपादन करना यह भी पराजयके लिए कैसे सम्भव हो सकता है ? पक्षसिद्धिके लिए साधर्म्यवचन वैधर्म्यवचन दोनोंको ही कहकर यदि कोई प्रतिज्ञाकी सिद्ध कर रहा है तो वह असाधनाङ्ग नही है। वह साधनका ही अग है और उसकी प्रतिज्ञाकी सिद्धि ही होती है। इस कथनमे निष्कर्ष यह प्रकट हुआ कि असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्भावन नामका निग्रहस्थान भी तब ही कुछ-कुछ अपनी झलक दे सकता है जब कि मूलमें वादीके पक्षकी सिद्धि हुई न हो। वादी अपने सही साधनको बोल न सका हो और प्रतिवादी द्वारा उसके साधनाभासका वर्णन कर

दिया गया हो, तब यह उसके निग्रहस्थानकी बातमें कुछ झाँकी दे सकता है, लेकिन इसके विपरीत यह भी समझ लीजिए कि वादी यदि समीचीन साधन बोल सका है और अपने पक्षकी ठीक सिद्धि कर सका है फिर उसके बाद प्रतिवादी असाधनांग वचन कहे अथवा अदोषोद्भावन करे, कुछ भी कहे, वादीको पराजय नहीं साबित कर सकता है। जय और पराजय अपने पक्षकी सिद्धि और अपने पक्षकी असिद्धिके प्रसंगपर ही निर्भर है। और स्वपक्षकी सिद्धि प्रमाणसे होती है, स्वपक्षकी असिद्धि प्रमाणाभास बोलनेपर होती है। इस कारण प्रमाण और प्रमाणाभासको बोल देना ही जय-पराजयका कारण है। जिसे सीधे सुगम स्पष्ट शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि, समर्थ वचनका बोलना तो जयका कारण है और असमर्थ वचनका बोलना पराजयका कारण है।

असाधनांगवचनसे निग्रहत्व माननेपर पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहत्व विशेषणका वैयर्थ्य — जब कि शंकाकार वचनाधिक्यका दूषण देकर अपनेको कृतार्थ मान लेता है, साधनाभास बतानेकी आवश्यकता नहीं समझता है तो फिर उसके सिद्धान्तसे वादी और प्रतिवादीके पक्ष और प्रतिपक्षके परिग्रहकी व्यर्थता क्यों न हो जायगी क्योंकि किसी भी एक पक्षके साधनसामर्थ्यका ज्ञान हो गया अथवा साधनसामर्थ्यका अज्ञान हो गया और इतनेमात्रसे जय पराजयकी व्यवस्था है तो वहाँ दूसरे पक्षकी कोई बात ही न रही और तब जैसे कि शब्दादिकमें नित्यत्व अथवा अनित्यत्वकी परीक्षाके प्रसंगमें वादीने जो साधन दिया उस साधनकी सामर्थ्यका ज्ञान हुआ और अन्यका अज्ञान रहा तो वह जय अथवा पराजयके लिए कारण न हो यह बात तो नहीं बनेगी अर्थात् वादीने जो साधन दिया है उसकी सामर्थ्य जानता है। साधन सामर्थ्य जाननेमें आ गये तो उसकी जय हो गयी। साधन सामर्थ्य जाननेमें न आ सके तो उसकी पराजय हो गयी। अब इस तरह मान लेनेपर प्रतिपक्षके परिग्रहकी कोई आवश्यकता नहीं रही अथवा पक्षसिद्धि और प्रतिपक्ष सिद्धिके लिए कोई बात नहीं कही गई। बस साधन सामर्थ्यका ज्ञान हो गया अथवा साधन सामर्थ्यका अज्ञान रहा तो उससे ही जय पराजयकी व्यवस्था मान ली गई। तो अब पक्ष और प्रतिपक्षका परिग्रह हो उसे वाद कहते हैं यह बात सिद्ध न हो सकी इसके विरुद्ध बात रह गयी।

युगपत् दोनोंके साधनसामर्थ्यके ज्ञानसे जयपराजयव्यवस्थाका अभाव — साधनसामर्थ्यका ज्ञान अज्ञान माननेपर दूसरी बात यह है कि यदि एक साथ दोनोंके साधन सामर्थ्यका ज्ञान हो जाय, वादी जो साधन बता रहा है और प्रतिवादी जो प्रतिपक्ष साधन कह रहा है दोनोंकी सामर्थ्यका ज्ञान हो जाय तब फिर किसकी जय और किसका पराजय होगा? क्योंकि साधनसामर्थ्य तो दोनोंकी वादी और प्रतिवादीकी जान ली गई है। कोई यह कहे कि न हो किसीकी जय पराजय, तो उत्तरमें कहते हैं कि साधन बोलने वाला वक्ता जिसने कि वचन अधिक बोल दिया है उसके साधन सामर्थ्यका अज्ञान सिद्ध होनेसे और प्रतिवादीका वचनाधिक्य नामक दोष प्रकट करने

से अब हुआ क्या यहाँ कि प्रतिवादीको वादीके वचनाधिक्य नामक दोषमात्रका ज्ञान हुआ, वचनाधिक्यका ज्ञान किया और वादीने जो साधन बोला था उसमे जो कोई दोष था उसका तो ज्ञान न हुआ अब ऐसी स्थितिमे न किसीकी जीत है और न किसी की हार है। इसका भाव यह है कि इस प्रसगमे वादी और प्रतिवादी इन दोनोकी समान स्थिति हो गयी। कोई साधनाभासवादी भी है और वह वचन अधिक बोल गया। अब प्रतिवादीको तो वादीके साधन सामर्थ्यका ज्ञान कुछ है नहीं और वचनाधिक्यका दूषण दे रहा तो वचनाधिक्यका दूषण दे रहा तो वचनाधिक्यका दूषण देनेके मायने यह है कि जब प्रतिवादीको वादीके द्वारा कहे गए साधनाभासके दोषका ज्ञान नहीं है तो एक गल्ती तो वादीकी हुई और एक गल्ती प्रतिवादीकी हुई। वादी की त्रुटि तो वादीके वचनाधिक्यकी बतलायी कि यह फालतू वचन बोल गया और प्रतिवादीको वादीके कहे गए साधनके दोषका अज्ञान है तो किसकी जीत और किसकी हार ? इसमें कोई निर्णय नहीं है। बल्कि अपेक्षाकृत दृष्टिसे देखा जाय तो वचन अधिक बोलना उतना दोषकारी नहीं है जितना कि वादीके साधनके दोषका ज्ञान न हो सकना प्रतिवादीके लिए दूषण है। तब वचनाधिक्यकी बात कहकर वादीका दूषण या निग्रह नहीं किया जा सकता।

साधनसामर्थ्यके प्रकाश अप्रकाशसे जयपराजयव्यवस्थाकी अशक्यता— ऐसा भी कोई नियम नहीं है कि जो जिसके दोषको जानता है वह उसके गुणको भी जानता है। कोई होते ऐसे पुरुष कि दोष और गुण दोनोको जानते हो, लेकिन नियम नहीं है ऐसा कि जो पुरुष किसीके दोषको जानता हो तो वह उसके गुणोंको भी जान लेता है। जैसे कि विषद्रव्यमें प्राणहरणकी शक्ति है, विषपान करनेसे पुरुष मर जाया करते हैं तो विषद्रव्यमें मरणकी शक्ति है, इसका किसी प्रकार ज्ञान भी हो गया तो उस ज्ञानके होनेपर यह ज्ञान अनुदित है कि विषद्रव्यमे कोढ़ियोके कोढको हरनेकी भी शक्ति है। विषके अनुपान और मेलके भेदसे वही विष जो किसीके प्राणघातका कारण है वही विष कोढ जैसे कठिन रोगको नष्ट करनेका भी कारण बनता है। पर जो विषके दोषको जानता है मारण शक्तिको समझता है वह रोग विनाशकी शक्ति को भी समझले यह कोई नियम तो नहीं है। इसी प्रकार दूषणकी दृष्टि रखने वाले को अन्यके साधनगुणकी दृष्टि हो जाय यह नियोजित नहीं है। इस कारण साधनकी सामर्थ्यका ज्ञान और अज्ञानके कारण जीत और हारकी व्यवस्था करना शक्य नहीं है।

स्वपक्षसिद्धयसिद्धिके कारण ही जय पराजयव्यवस्थाकी शक्यता— टीकाकारने असाधनाङ्ग वचनकी व्याख्या करते समय कुछ वाद विवादके बाद यह कहा कि जय और पराजय अपने पक्षकी सिद्धि और असिद्धिके कारण नहीं होती। किंतु उस सिद्धिके उस साधन सामर्थ्यके ज्ञान और अज्ञानके कारणसे होती है।

और हारकी घोषणा कराना है जन साधारणके मानस पटलपर किस प्रकार यह असर आये कि जन साधारण जान जायें कि इसकी जीत हुई है और इसकी हार हुई है। सो निग्रहवादके सिद्धान्तमें केवल दूसरेको ज्ञान नहीं है यह घोषणा माध्यम रखा गया है किन्तु शास्त्र प्रणयन हितके लिये किया जाता है और जब तत्त्वकी बात वादमें आ रही हो तो वाद विवादमें प्रयोजन विशुद्ध यही होना चाहिए कि सब समझ जायें कि आत्माका हित करने वाला कौन सा तत्त्व है ? अर्थात् वस्तुका यथार्थ स्वरूप क्या है इसको समझनेके लिए शास्त्र हैं। वाद हैं, चर्चायें है इसका कुछ भी उद्देश्य न रखकर, पर जीतहारकी जहाँ प्रधानता दी वहां यह विषय इस प्रकार बन जाता है जैसे कि कुश्ती में या अन्य कलाओमे जीतहारकी बात रख दी जाती है। इसमें ज्ञानरुचिकी कोई बात न रही अत. यह मानना ही होगा कि जय पराजय अपने पक्षकी सिद्धि और असिद्धिके कारणसे होती है साधन सामर्थ्यके ज्ञान और अज्ञानकी घोषणाके कारण जय पराजयकी व्यवस्था नहीं बनायी जा सकती। इसी मान्यतासे याने अपने पक्षकी सिद्धि और असिद्धिके कारण जय और पराजय निर्दोषरूपसे विदित होते हैं। ऐसा मान लिया जानेपर जय पराजयकी व्यवस्था भी सिद्ध कर ली गई और पक्ष प्रतिपक्षके परिग्रहकी व्यर्थता भी नहीं हुई। किसीके किसी कारणसे किसी साधनसे अपने पक्षको सिद्धि सुनिश्चित हो जाय तो दूसरे प्रतिपक्षीके पक्षकी सिद्धि नहीं हुई, यह स्वयं सिद्ध हो गया और तब एक साथ जय और पराजयका प्रसंग नहीं आता। इस कारण स्वपक्षकी सिद्धि और असिद्धिपर ही जय पराजय का निश्चय निर्भर है इसमें किसी भी प्रकारके सन्देहकी बात नहीं रहती।

अदोषोद्भावन निग्रहस्थानकी मीमांसा —क्षणिकवादमें जो यह बताया गया था कि अदोषोद्भावन भी इसका निग्रह स्थान है और उसके विषयमें जो यह विवेचन है कि अदोषोद्भावनमे जो अ शब्द है, नञ समास है उस नञ समासके कारण इसका अर्थ बनता है प्रसज्य प्रतिषेध और पर्युदासका अर्थ है जिसका अभाव किया है उसके एवजमें अन्य कुछ बात प्रकट होगा। तो अदोषोद्भावनका अर्थ प्रसज्य प्रतिषेधरूप माननेपर भाव इतना ही हुआ कि दोषके उद्भावनका अभाव मात्र रहा। याने अदोषोद्भावन नामक निग्रहस्थानका इतना ही अर्थ रहा कि दोषके उद्भावनका अत्यन्ताभाव है। और पर्युदास माननेपर यह अर्थ हुआ कि दोषाभासोंका अथवा अन्य दोषोंका प्रकट करना सो प्रतिवादीका निग्रह स्थान है। अब इसका समाधान सुनिये! निग्रहवादी जो असाधनाङ्ग वचन और अदोषोद्भावनका निग्रहस्थान मानते हैं उन निग्रहवादियोक्त द्वारा दोषवान साधन प्रयुक्त होनेपर निग्रहस्थानका होना अनुमत ही है क्योंकि साधन सदोष कहा था। यदि वादी पक्षको सिद्ध कर लेता है तो इसमें प्रतिवादीका निग्रहस्थान होना अनुमत ही है। हाँ वचनाधिक्यकी बात अवश्य ऐसी निर्बल है कि वह दोषके लिये समर्थ नहीं है। इस सम्बन्धमें पहिले ही बहुत कुछ वर्णन किया जा चुका है। वचनाधिक्यकी कोई सीमा नहीं की जा सकती है कि

इतना कहा तो यह कहलायेगा उचित वचन और इससे अधिक कहा तो वह कहलायेगा वचनाधिक्य। जैसे कि लोकमें धनी किसे कहते हैं जिसके पास धन अधिक हो। तो क्या यह व्यवस्था बता सकता है कोई कि इतना तक धन हो तो उसे अधिक धनी नहीं कहते और उससे जरा भी अधिक हो तो उसे अधिक धनी कहते ? ऐसी व्यवस्था तो कोई हो ही नहीं सकती। यह तो अपनी-अपनी कल्पनाकी बात है। जो जिस प्रकारके विचारसे अधिक धन समझ लेता है उसके लिए वह धनाधिक्य है। यों ही वचनाधिक्यकी भी बात है। जो जितने कथनको अधिक वचन समझ ले उसकी दृष्टि में यही वचनाधिक्य है।

न्यून अधिक दोषमें दोनोंके निग्रहस्थानवत्त्वकी प्रसक्ति—अब एक अन्य भी बात देखिये। जैसे कि क्षणिकवादी ५ अवयवोंके प्रयोगमें वचनाधिक्य दोष मानते हैं क्योंकि क्षणिकवादी तीन अवयव अनुमानके मानते हैं तो उनकी दृष्टिमें उपनय और निगमन नामके दो अवयव अधिक हैं। तो उनकी निगाहमें ५ अवयवोंका प्रयोग करनेमें वचनाधिक्य नामका निग्रहस्थान होता है, लेकिन यौग ५ अवयवोंसे ही अनुमानकी सिद्धि मानते हैं। तो उनकी दृष्टिमें तीन अवयवोंका प्रयोग करनेपर न्यूनता नामका दोष होता है। दोष दोनों ही हैं—अधिक कहनेमें भी दोष है और कम कहनेमें भी दोष है। क्षणिकवादी ५ अवयवोंको अधिक मानता है तो यौग तीन रूपकों न्यून मानते हैं। वहां प्रयोग किसीकी दृष्टिमें अधिक है और किसीकी दृष्टिमें न्यून है, तो जैसे क्षणिकवादियोंकी दृष्टिमें ५ अवयवोंका प्रयोग करने वालेके निग्रहस्थान बनता है तो यौगकी दृष्टिमें ३ अवयवोंका प्रयोग करने वालेके भी न्यून नामका निग्रहस्थान बनता है। वैसे तो इस विषयमें निर्णीत बात यह है कि अनुमानके अनिवार्य अङ्ग दो होते हैं प्रतिज्ञा और हेतु। प्रतिज्ञा और हेतुमेंसे कभी कोई अङ्ग कम हो जाय तो वह सिद्धिके लिए नहीं है और तब वे न्यूनवादी निग्रहके योग्य हैं अब दो अवयवोंके अतिरिक्त अधिक अवयव बोलना यह शास्त्रार्थ वादविवादके प्रसङ्गमें तो उचित नहीं है, क्योंकि वाद विवादके अधिकारी वे ही लोग होते हैं जो कि समर्थ हैं, प्रेक्षावान हैं, किन्तु जब किसीको समझाना हो, किसी शिष्यको कुछ बात बताना हो उस प्रसंगमें दो अवयवोंके अतिरिक्त और भी अवयव बताये जा सकते हैं। कोई पुरुष प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण इन तीनके प्रयोगसे ही समझ लेते हैं कोई शिष्य चार अवयव सुनकर ही अवधारण कर लेते हैं और किसी शिष्यको ५ अवयव बताकर ही प्रतिपादन किया जा पाता है तो इसमें अनिवार्य तो दो ही अंग है प्रतिज्ञा और हेतु। प्रतिज्ञा नाम है पक्ष और साध्यके कहनेका। जैसे कहा कि इस पर्वतमें अग्नि है तो यह प्रतिज्ञा हुई। धूम होनेसे यह हेतु हुआ। इस पर्वतमें अग्नि है धूम होनेसे, इतना कथन पर्याप्त हो जाता है अपने मतव्यकी सिद्धि करनेके लिए, किन्तु जो मदबुद्धि हैं, जो शिष्य नहीं समझ पा रहे हैं उनको इससे आगे बढकर व्याप्ति समझाना, व्याप्तिका दृष्टान्त देना और पक्षमें साधनका उपसंहार करना और फिर पक्षके साध्यको दुहराना ये सब बातें

प्रयोगमें लायी जाती है और ऐसी स्थितिमें फिर अनुमानके ५ अवयवोंका प्रयोग इस प्रकार बन जाता है कि इस पर्वतमें अग्नि है धूम होनेसे। जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है, जैसे कि रसोईघर। यह हुई अन्वय व्याप्ति और उसका दृष्टान्त। जहाँ जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ वहाँ धूम नहीं होता, जैसे तालाब, यह हुई व्यतिरेक व्याप्ति और उसका दृष्टान्त। और पर्वतमें धूम है यह हुआ उपनय। इस कारण पर्वतमें अग्नि होनी चाहिए यह हुआ निगमन निगमनके बाद फिर उस विषयको समझानेके लिए कुछ नहीं रह जाता है। तो इस तरह अनुमानके अवयव सम्पूर्ण ५ बताये गए हैं अब उनमें जो तीन रूप मानते हैं उनका न्यून दोष दे सकते। जो तीन रूप मानते हैं वे पच अवयवके कहने वालेको वचनाधिक्य दोष दे सकते। तो यह हुई एक संघर्षकी बात। निर्णयकी बात यह है कि न्यून अथवा अधिक बोलनेसे जय पराजयकी व्यवस्था नहीं, किन्तु अपने पक्षकी सिद्धि कोई कर सके तो उसकी जय है और पक्षकी सिद्धि न कर सके तो उसकी पराजय है।

प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध हेत्वन्तर व प्रतिज्ञासन्यास की अज्ञानरूपता — योग सिद्धान्तमें जितने निग्रहस्थान बताये गए हैं विचार करनेपर उन सबका एक अज्ञानमें ही अन्तर्भाव होता है। जैसे कि प्रतिज्ञाहानिनामक निग्रहस्थानमें बताया है कि प्रतिवादीने जो प्रतिदृष्टान्तके विपरीत धर्म कहा है, जो वादी सिद्ध करना चाहता था उससे विपरीत साध्य बताया है और किसी कारण उस धर्मको वादी अपने दृष्टान्तमें मान ले तो प्रतिज्ञाहानि है तो इसमें और हुआ ही क्या? वादीको अपने पक्षका ज्ञान न रहा। तो वह भी अज्ञान है प्रतिज्ञा विरोध निग्रहस्थानमें बताया है कि प्रतिज्ञा और हेतुका विरोध हो जाना ऐसी प्रतिज्ञा करे जिससे हेतु विरुद्ध हो, ऐसा हेतु दें जिससे कि प्रतिज्ञा विरुद्ध हो जाय तो यहाँ भी अज्ञान ही तो रहा। प्रतिज्ञा सन्यास निग्रहस्थानमें यह बताया गया है कि वादीने जो हेतु कहा उसमें प्रतिवादीने दूषण दिया तो वादी अपने साध्यका त्याग कर देता है। तो यह वादीका अज्ञान ही तो रहा। प्रथम तो उसे साधनका सही बोध न था और मान लो साधन सही लिया हो और किसी कारण बुद्धि भ्रान्त हो जाय और अपने ही साध्यका त्याग करके अपने पक्षसे उल्टी बात साधने लगे तो इस प्रतिज्ञा सन्यासमें अज्ञान ही तो रहा हेत्वन्तर निग्रहस्थान बताया है कि वादीने पहिले सामान्यतामें हेतु कहा था, उसका प्रतिवादीने खण्डन किया तो उसमें और विशेषण लगाकर विशेष हेतु बनाना चाहे तो हेत्वन्तर होता है। तो इसमें भी वादीका अज्ञान ही तो रहा। उसे सही ज्ञान न था कि जो हम हेतु कह रहे हैं यह हेतु अव्याप्त अथवा अतिव्याप्त हो जायगा इसीलिये तो विशेषण लगाकर हेतुको बदलना पड़ा तो यह भी एक अज्ञान ही है।

अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ व अपार्थकका अज्ञानमें अन्तर्भाव — अर्थान्तर निग्रहस्थानमें बताया है कि प्रकृत अर्थ जिसको कि सिद्ध करना चाहता है

उसमे उपयुक्त न बैठ सके, अनुपयोगी हो ऐसे वचन बोलना अर्थान्तर निग्रहस्थान है। इसमे भी अज्ञान ही तो रहा। साध्यके साथ जिस हेतुकी सही व्याप्ति रह सके, ऐसे हेतुका उसे बोध न रहा तो यह भी अज्ञान ही है। निरर्थक निग्रहस्थान बताया है कि जिसका कोई अर्थ न हो, अथवा निरर्थक वचन कहे जा रहे हो तो वह निग्रहस्थान है। तो निरर्थक बोलनेमे वादीका अज्ञान ही तो सिद्ध हुआ। अविज्ञातार्थ निग्रहस्थानमे बताया गया है कि वादीने तो साधनको तीन बार कहा। लेकिन न परिषदके लोग उसका अर्थ समझ सके न प्रतिवादी समझ सका उसका अर्थ तो वह अविज्ञातार्थ हो गया। और इसमे अज्ञान तो रहा परिषदके लोगोंका और प्रतिवादीका लेकिन बाहरी निग्रहस्थानकी जबरदस्तीका प्रयोग कि अज्ञानकार तो रहे परिषदके लोग और प्रतिवादी लोग पर चूकि उनकी सख्या अधिक है तो अकेले वादीपर दोष थापा जा रहा है और इसे वादीका निग्रहस्थान बताया जा रहा है। अथवा तीन बार कहकर भी वादी यदि नही समझा सका है परिषदके लोगोको या प्रतिवादीको तो वहां भी अज्ञान ही तो रहा। अपार्थक निग्रहस्थानमे बताया है कि पूर्वापर असगत पदके उच्चारण करनेसे वाक्यार्थ न बन सके, वाक्यार्थ अप्रतिष्ठित रहे वह अपार्थक निग्रहस्थान है। यह भी अज्ञानसे कुछ बाहरकी बात नही है। वादीको पूर्वापर सगतिका ज्ञान ही नही है। और यो ही सगतिरहित बोल दिया तो वह भी अज्ञानसे अतिरिक्त और कुछ नही है।

अप्राप्तकाल, पुनरुक्त, अननुभाषण व अज्ञानकी अज्ञानरूपता— अप्राप्तकाल निग्रहस्थानमे बताया है कि अवयवोका विपरीत प्रयोग वादी करदे तो वह अप्राप्तकाल है। यद्यपि ऐसे अप्राप्तकालसे भी विद्वान प्रतिवादी अर्थ समझ जाता है, लेकिन जनसाधारणकी दृष्टिसे मान लो अप्राप्तकाल हो गया तो इसमे अज्ञानकी ही बात है। दूसरा न समझ सकेगा तो वह दूसरेका अज्ञान है। और, ढगसे न बोल सका तो वह वादीका अज्ञान है। अज्ञानसे अतिरिक्त और यह निग्रह क्या होता ? पुनरुक्त दोषमे बताया है कि शब्द और अर्थका दुबारा कथन कर देना सो पुनरुक्त है। प्रथम तो भिन्न–भिन्न अर्थोके प्रतिपादक शब्द हो तो उनके पुन कथनमे पुनरुक्त दोष नही आता। और, कथ–कथं अर्थका भी पुनरुक्त हो जाय, लेकिन प्रतिपत्तिको दृढ़ताका प्रयोजन है तो वहां भी पुनरुक्त नही बनता। अथवा यदि पुनरुक्त बन जाय, मायने निरर्थक ही शब्द बोले जा रहे भी अज्ञान ही तो रहा। अननुभाषण निग्रहस्थानमे बताया है कि वादीने तीन बार साधन बोला और उसको परिषदके सब लोग जान गए लेकिन प्रतिवादी उस कथनका दोष देनेके लिए प्रत्युच्चारण न कर सका, उस को कहकर दूषण देकर बात बताई जाती है ना, वह न कर सका तो अननुभाषण है, तो इसमे अज्ञान प्रतिवादीका रहा, लेकिन यह एक जबरदस्तीकी पराजय व्यवस्था है जो अज्ञान तो रहा प्रतिवादी वादीका तो यहां भी एक अज्ञानकी ही तो बात आ सकी एक अज्ञान नामका निग्रहस्थान बताया है जिसमें यह भाव बताया कि वादीके कथन

का अर्थ परिषदके लोग तो जान गए, लेकिन प्रतिवादी न जान सका तो प्रतिवादी यह कह रहा कि तुम्हारा कुछ स्पष्ट भाव ही न आया। कुछ अब समझें तब तो तुम्हारी बातका खण्डन करें। इस तरहका पोह करना वादीका निग्रह किए जानेकी बात है तो इसमें प्रतिवादीका अज्ञान ही तो रहा और उस अज्ञानके बलपर निग्रह करना चाहता है तो यह भी अज्ञानसे कुछ बाहर नहीं है।

अप्रतिभा पर्यनुयोज्योपेक्षण व निरनुयोज्यानुयोग व विक्षेपका अज्ञानमे अन्तर्भाव—अप्रतिभा निग्रहस्थानमें तो स्पष्ट लक्षण ही किया गया है कि उत्तरका ज्ञान न होना सो अप्रतिभा स्थान है। यह अज्ञान ही तो रहा। पर्यनियोज्योपेक्षण निग्रहस्थानका लक्षण बताया गया था कि वादी इस समय निग्रह प्राप्त होने को है। अर्थात् वादीकी कोई चूक ऐसी हो गयी जिससे दूषण बताकर उसको पराजय की जा सकती है। किन्तु उस समय दूषणप्राप्त हुए वादीका भी अनिग्रह कर देना, दूषण न बता सकना। उस मौकेसे चूक जाना यह पर्यनियोज्योपेक्षण है। अब इसमें चूक तो प्रतिवादीकी हुई है कि वादी दूषण प्राप्त हो रहा था, उसे छोड दिया तो प्रतिवादीका ही तो अज्ञान रहा। लेकिन इस समय प्रतिवादीकी हार होनेको थी तो प्रतिवादी इस छलका प्रयोग करता है कि यह दूषण इस परिषदके लोगोंको बताना चाहिए अथवा इस वादीको स्वयं अपनी कही हुई बातमें दूषणका ज्ञान नही है। ऐसा कहकर उसके निग्रह किए जानेकी बात कहे तो इसमें भी अज्ञानका हो तो दोष है निरनियोज्यानुयोग निग्रहस्थानमें यह बताया गया है कि वादी सावधान है, उसके वचन समर्थ हैं, उसके कहे हुए साधनमें को दोष नही है, फिर भी उसमें निग्रहस्थान की बात लाद देना यह निरन्योज्यानुयोग है। इसमें भी अज्ञानभाव ही रहा। और यह अज्ञान रहा प्रतिवादीका। विच्छेद नामक निग्रहस्थानका लक्षण किया है कि वादीने कोई साध्य अपना पक्ष रखा लिया तब समझ गया वादी कि हम इस पक्षको सिद्ध करनेमें समर्थ नही हैं, न कर सकेंगे तो वह कोई कार्यकी आवश्यकताकी बात कहकर उस प्रसगको छोडकर चला जानेको हुआ तो यह विपक्ष निग्रह कहलाया। इसमें भी वादीका अज्ञान ही तो रहा। अज्ञानके अतिरिक्त और इसमें दोष क्या? अज्ञान ही तो यह दोष है।

मतानुज्ञा, न्यून, अधिक, अपसिद्धान्त व हेत्वाभास निग्रहस्थानोंका भी अज्ञानमे अन्तर्भाव—मतानुज्ञ निग्रहस्थानमें ऐसा प्रसग बना कि वादीके पक्षमें प्रतिवादीने कोई दोष दिया, अब दोषको वादी दूर है तो न कर सका लेकिन उस दोष को प्रतिवादीके पक्षसे भी दुहरा दे तो यह मतानुज्ञा हुई। इसमें भी वादीका अज्ञान ही रहा। न्यून निग्रहस्थानमें बताया है कि जितने साधनका अग बोलना चाहिए उससे कम बोल दे तो न्यून निग्रहस्थान है, प्रथम तो इसमें यह व्यवस्था कठिन है कि कितना कम बोलनेपर निग्रह बन गया, क्योंकि बुद्धिमान लोग कम बोलनेपर भी उसका अर्थ

जान जाते हैं और मान लो कि आवश्यकतासे कम बोल गया, जिसमें स्वपक्षीकी सिद्धि हो ही नही सकती है तो वह अज्ञानमें अन्तर्भूत होगा। अधिक नामके निग्रहस्थानमें भी यही बात है, जितने हेतु उदाहरण जो कुछ कहना चाहिए उसके अतिरिक्त और भी हेतु और उदाहरण बोल दे तो उसे अधिक नामक निग्रहस्थान बताया है। प्रथम तो इसमें यह बात है कि एक हेतु बोलना चाहिए कि उस जगह दो हेतु बोल दिया तो तो इसमें दोष क्या हुआ? जिस पक्षको सिद्ध करना चाहता था वादी उस पक्षको और प्रवलतासे सिद्ध कर देगा। और कदाचित मान लो कि साध्यकी सिद्धि होनेपर भी और अधिक समय लगा रहा है, बोल रहा है तो इसे अज्ञान कह लीजिए। अब सिद्धान्त निग्रहस्थानमें बताया गया है कि वादी जिस पक्षको स्वीकार करता है, जो पक्ष कहना चाहता उसीके कथनसे उसीका ही विरुद्धभाव सिद्ध हो जाय तो वह अपसिद्धान्त है। इस तरह है। इस अपसिद्धान्तमे भी वादी का अज्ञान सिद्ध हो रहा है। हेत्वाभासोका निग्रहस्थान बताना भी सही है। हेत्वाभामको बताकर तो निग्रह किया ही जाता है। हार बताया ही जाता है किन्तु उनमें भी अज्ञान ही तो रहेगा। इस निग्रहस्थानके अतिरिक्त क्षणिकवादमे दो निग्रहस्थान बताये हैं एक असाधनाङ्गवचन—साधनके अग न कह सकना यह भी ज्ञान ही है। दूसरा कहा है अदोषोद्भावन। वादीने साधनाभास बोला था, उसमें दोष कहा था, उन दोषोको प्रतिवादी प्रकट न कर सका यह हुआ प्रतिवादीका निग्रहस्थान। इसमें भी उसका अज्ञान ही तो साबित हुआ। तो इन सब निग्रहस्थानोमें एक अज्ञान ही बसा हुआ है। इन सब को अज्ञानमें अन्तर्भूत कर सकते हैं।

प्रमाण व प्रमाणाभासके वचनसे व दोष परिहार व दोषापरिहारमे भूषण व दूषणरूपता—अब यहां यह परखिये कि यह अज्ञान हुआ किस बातका? वादीको या प्रतिवादीका अज्ञान है। यह तो फलरूप कथन है। अज्ञान किस प्रकार से है? कोन सा दोष है? उस चूकको बतानेसे ही तो अज्ञान साबित किया जा सकेगा, और वह चूक है हेत्वाभासरूप जिसका कि पहिले वर्णन किया गया। तो अब इससे निष्कर्ष यह निकला कि वादीके साधनमें प्रतिवादी यदि दोष उपस्थित कर सकता है और उसे वादी दूर नही कर सकता तो वादीकी हार है और प्रतिवादीकी जीत है, और वादीने अपना पक्ष सिद्ध करनेके लिए निर्दोष प्रमाण उपस्थित किया है और उसमें प्रतिवादीने झूठा दो दोष उसमें घटित करना चाहा। और वादी उस दोष को कर दूर कर गया तो इसमें वादीकी जीत है और प्रतिवादीकी हार है। इस पद्धति से यह ही एक यथार्थ निर्णय है कि वादीने प्रमाण उपस्थित किया और प्रतिवादीने उसे दूषित रूपसे जाहिर किया और उसको दोषवादीने दूर कर दिया तो वह वादी का साधन बना और प्रतिवादीका दूषण बना। और यदि वादीने प्रमाणाभास बोला और उसमें प्रतिवादीने दूषित जाहिर किया तो उस दोषको वादी दूर न कर सका तो वह वादीके लिए साधनाभास है और प्रतिवादीके लिए भूषण है। इस ही दूषण

भूषणको इस ही साधन साधनाभासकी जय पराजयके रूपमें ढाल दिया जाय तो यह पद्धति सही है लेकिन छल जाति निग्रह जैसी अनुचित पद्धतियोंको प्रयुक्त करके किसी की जबरदस्ती हार साबित करना यह कल्याणपथमें भूषण रूप बात नहीं है। वस्तु स्वरूपके परिज्ञानका प्रयोजन यह है कि अहितसे हटना और हितमें लगना। उस उद्देश्यको लेकर समर्थ वचन बोलना चाहिए। उससे ही जय और असमर्थ वचन यदि बोलता है तो उससे पराजय है। निष्कर्ष यह निकला कि भली प्रकार परीक्षा करके प्रमाणरूप वचन बोलना, परिज्ञान करना यह जिज्ञासुके लिए हितकारी प्रयोग है।

परीक्षामुखसूत्रप्रवचन

[षडविंश भाग]

(प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी)

●

नय और नयाभासके परिज्ञानकी आवश्यकता—इस ग्रन्थमें अब तक प्रमाण और प्रमाणाभासका निर्दोष रूपसे लक्षण कह दिया गया है और प्रमाण प्रमाणाभासके अगका भी विशद रूपसे वर्णन हो चुका है। इसका फल क्या है इसका भी वर्णन किया गया। और, तत्त्व निर्णयके लिए साधन साधनाभास, भूषण और दूषणका परिज्ञान कैसे हो उस पद्धतिका भी वर्णन किया गया, लेकिन सब कुछ जानकारियां किसी न किसी दृष्टिपर ही निर्भर हैं। जब प्रमाण और प्रमाणाभासोंके स्वरूपके अगोकी विवेचना चलती है तो वह सब दृष्टिके बलपर ही चलती है। और दृष्टिका ही नाम है नय। तो नय और नयाभासका लक्षण बताना भी बहुत आवश्यक है। क्योंकि नय और नयाभासका कथन किए बिना शिष्योंको सम्पूर्णतया व्युत्पत्ति नहीं हो सकती। मोक्षमार्गके प्रकरणमे यदि नय और नयाभासकी पद पदपर निर्णीति चाहिए और तत्त्वनिर्णयमे भी नय और नयाभासका परिज्ञान चाहिये तो ये सब वर्णन भी समझ लेना चाहिए, ऐसा अभिप्राय रखकर सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

सम्भवदन्यद्विचारणीयम् ॥६-७४॥

नय और नयाभासका सामान्यतया स्वरूप—जितना जो कुछ वर्णन अब तक किया गया है प्रमाण और प्रमाणाभास, उनसे अविशिष्ट अन्य कुछ भी जो सम्भव हो उसका विचार करना चाहिये। अब यहां प्रसगमें प्रमाण और प्रमाणाभाससे अन्य विद्यमान समस्या है नय और नयाभासकी। तो उसका लक्षण अब विचार करते हैं। इस प्रकरणमे नयोका जो वर्णन किया जायगा वह एक दिग्दर्शन मात्र होगा। अर्थात् उसका सहारा लेकर, उस दिशामे बढकर भिन्न भिन्न अनेक प्रमाणो की सिद्धि की जा सकी तो नयका लक्षण सामान्यरूपसे भी जानना चाहिए और विशेषरूपसे भी जानना चाहिए। उनमेंसे प्रथम सामान्यतया नयका लक्षण कहते हैं। ऐसा ज्ञाताका अभिप्राय जो कि वस्तुके अशको ग्रहण करने वाला है अर्थात् जानने वाला है तथा उस ज्ञेय तत्त्वके प्रतिपक्षका निराकरण भी न किया गया हो, ऐसे अभिप्रायको नय कहते हैं। और, जैसे ज्ञाताके अभिप्रायमें ग्रहण तो वस्तुके अशका

हुआ हो लेकिन प्रतिपक्षका भी निराकरण बना हो तो वह नयाभास कहलाता है। इस प्रकार नय और नयाभासका यह सामान्य लक्षण है।

नयका विवरण—नय और नयाभासमें प्रथम नयका वर्णन किया जाता है कि नय जिसका कि सामान्यरूपसे लक्षण ऊपर किया गया है वह दो प्रकारका है द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय। द्रव्यार्थिकनय उसे कहते हैं जिसका द्रव्य ही विषय हो पर्यायार्थिकनय उसे कहते हैं जिसका पर्याय ही विषय हो। द्रव्यका अर्थ है जो पर्यायोको प्राप्त करता रहा, पर्यायोंको प्राप्त करेगा और पर्यायोंका प्राप्त कर रहा ऐसा जो कुछ एक वस्तुभूत सत् है उसे द्रव्य कहते हैं। ऐसा द्रव्य जिसकी दृष्टिमें विषयभूत हो उसे द्रव्यार्थिकनय कहते हैं और पर्यायका अर्थ है परिणमन, अवस्था। वह परिणमन जिस दृष्टिमें विषयभूत होता हो उसे पर्यायार्थिकनय कहते हैं। इस तरह नयके इन दो भेदोंका लक्षण कहनेसे नयोंका विशेष लक्षण परिचयमें आया द्रव्यार्थिकनयके तीन भेद हैं—नैगमनय, संग्रहनय और व्यवहारनय। और पर्यायार्थिकनय चार प्रकारका है सूत्रनय शब्दनय समभिरूढनय व एवंभूतनय। अब द्रव्यार्थिकनयके तीन प्रकार और पर्यायार्थिक समभिरूढनय चार प्रकार, यों ७ प्रकारके नयोंका क्रमसे वर्णन करते हैं।

नैगमनय—उक्त ७ नयोंमें प्रथमभेद है नैगमनय। नैगमनयका लक्षण है कि अनिष्पन्न अर्थमें संकल्प मात्रसे उस अर्थको ग्रहण करने वाला जो ज्ञान है, आशय है उसे नैगमनय कहते हैं। नैगमका व्युत्पत्त्यर्थ भी इस ही प्रकार है। निगमका अर्थ है संकल्प और निगममें होने वाला अर्थात् संकल्प ही जिसका प्रयोजन हो उसे नैगमनय कहते हैं। जैसे कोई पुरुष कुल्हाडी लेकर जंगलकी ओर जा रहा था, उससे किसीने पूछा कि भाई! कहाँ जा रहे हो? तो वह कुल्हाडी वाला पुरुष कहता है कि मैं प्रस्थको लेने जा रहा हूँ। प्रस्थ एक मापका बर्तन है जिसमें मानो ४-५ किलो चीज समाये ऐसा काठका बर्तन हो उसे प्रस्थ कहते हैं। उस प्रस्थको लेने जा रहा हूँ ऐसा वह बोलता है। अब यहाँ देखिये कि प्रस्थ पर्यायनिष्पन्न तो नहीं है, पर प्रस्थकी निष्पत्तिके लिए उसने संकल्प किया है और प्रस्थ बनानेके लिए वह कुल्हाडी लेकर जंगलमें चला है प्रस्थ बनाई जा सकने लायक लकडी लानेके लिए तो इसने संकल्पमात्रमें ही उस प्रस्थको समझ रखा है और प्रस्थ लानेके लिए ही जा रहा हूँ, इस तरह वह बोल रहा है तो यह नैगमनय हुआ। अथवा कोई पुरुष ईंधन अथवा पानी लानेमें लगा हुआ था। उस पुरुषसे किसीने पूछा कि भाई, आप क्या कर रहे हैं, तो वह बोलता है कि मैं चावल पका रहा हूँ, रसोई बना रहा हूँ। तो भात पर्याय अभी निष्पन्न तो नहीं है, भात अभी बना तो नहीं है, पर भात बनानेके लिये उस पुरुषने इरादा किया है और उस इरादा मात्रसे वह भातका व्यवहार बना रहा है। तो यों अनिष्पन्न अर्थको संकल्प मात्रसे ग्रहण कर रहा है इस कारण यह आशय नैगमनय

कहलाता है। इसकी दूसरी व्युत्पत्तिके अनुसार अर्थ करनेपर भी नैगमके नयका मर्म जाना जाता है। नैगमका व्युत्पत्त्यर्थ है जो एकको गम (ग्रहण करने वाला) न हो। गम कहते हैं प्राप्त होनेको। जो एक ही को प्राप्त न हो उसे नैगम कहते हैं अर्थात् इस ज्ञाताके अभिप्रायमे दो बाते हैं। पहिले बताये गए व्युत्पत्त्यर्थमे भी दो बातें थी—लकडी और प्रस्थ। अथवा दूसरे दृष्टान्तमे जल और भात या रसोई। तो इस प्रकार नैगमनयके अभिप्रायमे निष्पन्न और अनिष्पन्न ये दो बाते रहा करती हैं अथवा द्रव्य और पर्याय इन दो बातोमें एकको गौण कर देना, दूसरेको प्रधान कर देना और जिसको अभी गौण किया था उसे प्रधान कर देना, अन्यको गौण कर देना अथवा भेद और अभेद रूपसे प्ररूपण करना इसे कहते हैं नैगमनय। एकको प्राप्त नहीं है उसे नैगमनय कहते हैं, क्योकि नैगमनयके आशय में धर्म और धर्मीको गौण और प्रधान भावसे बताया गया है। जैसे जब यह प्रयोग किया जाय कि जीवका गुण सुख है तो इस प्रयोगमे जीवकी तो गौणता है और सुखकी प्रधानता है, क्योकि जीव तो विशेषण रूपसे आया है और सुखकी प्रधानता है क्योकि विशेष्य सुख बना हुआ है। जीवका गुण सुख है। तो यहाँ अस्तित्व किसमें लादा जा रहा है? प्रधान पद कौनसा है? वह है पर्यायरूप सुख और जब यह प्रयोग किया जाय कि सुखी जीव है तो इस कथनमें जीवकी प्रधानता आई, सुखकी प्रधानता नही आई। क्योकि सुखी तो है विशेषण और जीव है विशेष्य। तो जैसे यहाँ द्रव्य और पर्यायमें कभी पर्यायकी प्रधानता हुई तो कभी द्रव्यकी प्रधानता हुई।

नैगमनयके विषयकी प्रमाणविषयतासे अन्यता—शंका एकको प्राप्त नहीं हुआ इस कारण यह सब पर्यायात्मकताका बात आ गयी। नयको इसमे क्या बात रही? वस्तुका एक अंश क्या ग्रहण किया? सुख जाना तो सब जाना। जीवको जाना तो जीवको जाना। इसे प्रमाणरूप क्यो नही मान लिया जाता? समाधान उसका यही है कि प्रमाणात्मक ज्ञानमे धर्म और धर्मीका भेद रूपसे ज्ञान नही होता तथा उनमेंसे एकको प्रधानरूपसे जानना, अन्यको गौण रूपसे जानना, ऐसी बात प्रमाणात्मक ज्ञानमे नही होती। पर यहाँ नैगमनयमें तो उन द्रव्य और पर्यायोमेंसे धर्म और धर्मीमेंसे कोई एक ही प्रधानरूपसे अनुभूत किया जा रहा है तब द्रव्य पर्याय-द्वयात्मक पदार्थका अनुभवन करने वाला विचार बने तो उसे प्रमाण मानना चाहिए। पर जहाँ द्रव्य पर्यायमे एकको प्रधान रूपसे, अन्यको गौण रूपसे ग्रहणकी बात चल रही हो तो वहाँ वे प्रमाण ज्ञान नही किन्तु, नयरूप ज्ञान है। यह नैगमनयमे द्रव्य पर्यायमें धर्म धर्मीमे निष्पन्न अनिष्पन्नमें प्रधानता और गौणरूपसे ज्ञान किया। इसी कारण यह नैगमनय कहलाता है।

नैगमाभास—जहाँ धर्म धर्मीमें निष्पन्न अनिष्पन्नमें द्रव्य पर्यायमे सर्वथा याने एकान्तरूपसे भिन्नताका अभिप्राय बना ले तो वह नैगमाभास कहलाने लगता है। इसका

कारण यह है कि धर्म धर्मी सर्वथा भिन्न हो ऐसा तो कुछ विषय ही नहीं है। जो बात किसी भी प्रकार विषयभूत ही नहीं, उसे जानें तो वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता वह अंशका परिज्ञान सम्यक्में नहीं कहलाता, धर्म और धर्मीमें सर्वथा भिन्नता यदि मान ली जाती है तो फिर धर्मीमें धर्मका रहना भी कैसे बन सकता है? जैसे आत्मा धर्मी है, ज्ञानानन्द यह धर्म है। अब यदि आत्माको भिन्न मान लिया जाता और उन धर्मोंका ज्ञान और आनन्दभावको एक जुदा पदार्थ मान लिया जाता तो जब ये दोनों भिन्न भिन्न पदार्थ मान लिये गये तो अब यह कैसे कहा जा सकता कि ज्ञान और आनन्द आत्मामें रहा करते हैं। जब स्वतंत्र दो पदार्थ हो गए तो उनका आधार नहीं बताया जा सकता। जैसे विन्ध्याचल और हिमालयपर्वत। ये दो भिन्न स्वतंत्र पूर्ण सत् हैं। तो इनका आधार आधेय तो नहीं कहा जा सकता कि हिमालयमें विन्ध्याचल है और विन्ध्याचलमें हिमालय है। ऐसे ही आत्मा धर्मीको ज्ञानानन्द आदिक धर्मसे सर्वथा भिन्न मान लिया जाय तो यह किसी भी प्रकार नहीं सिद्ध किया जा सकता कि ज्ञान और आनन्द आत्माओंमें हुआ करते। जब सर्वथा भिन्नपना मान लिया गया तो ये ज्ञानानन्द आकाशमें क्यों नहीं हो जाते? तो इससे विदित होता कि धर्म और धर्मीमें भिन्नता नहीं है सर्वथा अभिन्नता भी यदि कह दी जाय तो उस नाम व्यपदेश धर्म धर्मी रूपसे उनकी जानकारी ये सब कुछ नहीं हो सकते हैं। तो यों धर्म धर्मीमें कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद है और उसीमें ही व्यवस्था बनती है। किन्तु कोई सर्वथा भेद स्वीकार करले अथवा सर्वथा अभेद स्वीकार करले, तो वह नयाभास हो जायगा। तो यहाँ नैगमनयके विषयभूत धर्म धर्मीमें सर्वथा भिन्नताका अभिप्राय होना यह नैगमाभास कहलाता है। इस तरह नैगमनय और नैगमाभासका वर्णन किया गया है। इसमें यह नैगमनय बहुत विशाल विषयको लिए हुए है। इसके आगे जो भी नय चलेंगे वे अपने अपने पूर्व नयसे सूक्ष्मरूपको लिए हुए हैं। और उस का पूर्व पूर्वनय एक व्यापक रूपको लिए हुए है। तो इन ७ नयोंमेंसे सबसे अधिक बड़ा विषय है तो नैगमनयका है।

परसंग्रहनयका परिचय—दूसरा द्रव्यार्थिकनय है संग्रहनय। अपनी जाति का विरोध न करते हुए पदार्थोंको जिसने अपनेमें लीन किया है, ऐसे समस्त पदार्थोंको एक प्रकारतासे लाकर सबको ग्रहण करे उसे संग्रहनय कहते हैं। जिसका सीधा भाव यह है कि जो सब पदार्थोंका संग्रह करे और एकपनेमें जिसका परिज्ञान अथवा प्रतिपादन हो उसको संग्रहनय कहते हैं। वह संग्रहनय दो प्रकारका है—परसंग्रह और अपरसंग्रह। जिसमें परसंग्रह तो समस्त पदार्थोंका सत्तात्मरूपसे एकत्वको विषय करता है जैसे कि सर्व एक कुछ एक है। क्योंकि सबमें सत्की अविशेषता है। सभी सत् है। तो सत्त्वकी दृष्टिसे जगतमें जो कुछ भी है, वह सब सत् है, सत्की अविशेषता होनेसे, ऐसा कहनेपर समस्त पदार्थोंका एकत्व संग्रहीत किया गया है। और, वह एक सत्तात्मरूपसे संग्रहीत है। और समस्त पदार्थोंमें एक सत्तात्मकता है। इस प्रकार

का बोध किया है, यह सत् यह सत् ऐसे अनुवृत्तिरूप वचनसे। जिसमें यह सत्, यह भी, सत् इस प्रकारका एक रूपसे वचन चल रहा है। और सभी पदार्थोंमें जिस प्रकार समान वचन चलता है और इसी प्रकार समान ज्ञान भी चलता है। सभी पदार्थोंके विषयमें यह सत् है, यह सत् है। समान रूपसे सत्का ज्ञान हो रहा है तो समान रूप से सत्का ज्ञान हो रहा है तो समानरूपसे सत् वचन और सत् विज्ञान इस लिङ्गसे समस्त पदार्थोंकी सत्तात्मकता रूपसे एकता है। यह अनुमित होता है इससे संग्रहनय द्वारा समस्त पदार्थोंका यह एकत्व विषय होता है। लेकिन कोई ऐसा एक सत्त्व मानना कि समस्त विशेषोंका निराकरण करदे अर्थात् एकान्ततः सब एक ही है, उसमें विशेष कुछ नहीं मानना। जैसे कि द्रव्य है, गुण है, पर्याय है, पुद्गल है, आत्मा है आदिक कुछ भी विशेषतायें न माने, सबका निराकरण करे। और एक सत्ताद्वैतको ही अभिप्राय रखे तो ऐसा अभिप्राय संग्रहाभास है, क्योंकि समस्त विशेषोंका निराकरण करते हुए एक रूप ही मानना यह प्रत्यक्षसे भी बाधित है और आगमसे भी बाधित है, अनुमानसे भी बाधित है।

अपर संग्रहनयका परिचय—अब दूसरा संग्रहनय है अपर संग्रह। यह अपर संग्रहनय द्रव्यपनेसे समस्त द्रव्योंका एकत्व विषय करता है। पर संग्रहनय तो सबको एक रूपसे संग्रह किया। उससे विशाल संग्रह कुछ नहीं होता। पर-संग्रह एक रूप ही होता है। अब पर संग्रहसे ग्रहण किए गए एकत्वमें भेद लाकर किसी एक भेद रूपमें अपनी जातिमें सबका संग्रह करना यह अपर-संग्रहनयका विषय है। यहाँ द्रव्य, ऐसा कहनेपर अतीत भविष्य वर्तमान काल वर्ती विवक्षित और अविवक्षित पर्यायोंसे परिणमन स्वभाव रखने वाले समस्त जीव अजीवोंका और उनके भेद प्रभेदका एकत्व रूपसे संग्रह किया गया है। इस संग्रहनयका लक्षण यों भी कह सकते हैं कि विशेषकी अपेक्षा रखता हुआ जो सत्ता मात्रको ग्रहण करता है उसे संग्रह कहते हैं। संग्रहमें होता ही यह है, जैसे व्यवहारमें जिन पदार्थोंका हम संग्रह कहते हैं उनमें संग्रहपनेका तो एकपना है किन्तु उन अनेकोंका ही तो संग्रह है, अन्यथा संग्रह नाम किसका? संग्रहनयमें विषय यद्यपि एकत्वका हो रहा है लेकिन उसमें नानापन लेना है। उन नाना पदार्थोंने ही तो एकत्वरूपको इस आशयमें ग्रहण किया है, अतएव संग्रहमें ग्रहण तो सत्तामात्रका है लेकिन विशेषकी अपेक्षा रखता हुआ है वह। और भी दृष्टान्त लो। जैसे घट कहा तो घट कहनेपर समस्त घट व्यक्तियोंका घटपनेसे एकत्वका संग्रह हुआ है। अपर संग्रह नाना प्रकारके होते हैं। ऊपर संग्रहके भी भेद करके उन भेदोंमेंसे एकका संग्रहरूप बनाना भी अपर संग्रह है जहाँ तक संग्रह चल सकता है चाहे थोड़े पदार्थोंमें हो, एकत्वका विषय आ सकता है वहाँ तक वे सब अपर संग्रहनय हैं। अरे इस अपर संग्रहमें सामान्य और विशेष ये न सर्वथा अभेदरूप हैं न सर्वथा भेदरूप हैं, तथा सामान्य का विषय करके विशेषको सामान्य बनाया ना, अपर संग्रहमें अर्थात् किसी एक बड़े संग्रहमें भेद करके, विशेष करके उन विशेषोंमेंसे एक विशेषको सामान्य बनाकर संग्रह

रूप बनाकर उसमें और अविशेषोंको अ तर्लीन किया है तो इस पद्धतिमें सामान्य और
विशेषोंको सर्वथा भिन्नपना माननेका अभिप्राय अपर संग्रहाभास है और सर्वथा अभिन्न
माननेका अभिप्राय भी अपर संग्रहाभास है, क्योंकि इसमें प्रतीतिमें विरोध आता है।
सामान्य और विशेष प्रतिभासभेदसे भेदरूप हैं किन्तु वे स्वतन्त्र अलग-अलग सामान्य
और विशेष पदार्थ पड़े हुए हों ऐसा नहीं है। इस दृष्टिसे अभिन्न रूप हैं। सामान्य और
विशेष परस्पर कथंचित् भेदरूप, कथंचित् अभेदरूप होनेपर भी उनमें सर्वथा अभेदपने
का अभिप्राय करे तो अपर संग्रहाभास है। और, सर्वथा भेदपनेका अभिप्राय करे तो
भी अपर संग्रहाभास है।

व्यवहारनयका परिचय—अब तीसरा द्रव्यार्थिकनय है व्यवहारनय। संग्रह
नयसे ग्रहण किये गए पदार्थोंका विधि पूर्वक विभाग करना, भेदरूपमें विभाजन करना
सो व्यवहारनय है। यह व्यवहारनय द्रव्यको विषय कर रहा है। पर्यायका विषय करने
वाले नयका भी अपर नाम व्यवहार है अध्यात्म शास्त्रोंमें, यहाँ उस व्यवहारनयसे प्रयो
जन नहीं, किन्तु संग्रहनयके ग्रहण किए हुए पदार्थोंका पदार्थकी पद्धतिमें विधि पूर्वक
विभाग करनेको व्यवहारनय कहते हैं। जिसपर संग्रहनयने तो सत् इस प्रकार समस्त
पदार्थोंका एकत्वरूपमें संग्रह किया, क्योंकि सर्व पदार्थ सत् धर्मके आधारभूत हैं। सब
सत् हैं तो सबको एक रूपमें संग्रह किया, पर संग्रहका व्यवहार उसके विभागका निष
करता है। जो सत् है वह द्रव्य है अथवा पर्याय है, उस है को द्रव्यरूपसे निरखा जा
सकता है। और, पर्यायरूपमें निरखा जा सकता है। इस प्रसंगमें गुणकी बात नहीं
कही गई इसका कारण यह है कि गुण द्रव्यमें अन्तर्भूत है। केवल अन्तर यह है कि
उस द्रव्यको अभेदरूपसे निरखनेपर द्रव्य समझमें आता है और उस द्रव्यको अभेदरूप
समझनेपर गुण नजर आता है तो द्रव्य और गुणमें भेद और अभेदका अन्तर है। कि
द्रव्य जैसे शाश्वत है, गुण भी शाश्वत है, द्रव्य जैसे परिणमनका आधार है और अपने
आपके स्वरूपमें अपरिणामित्वको लिए हुए है इसी प्रकार गुण भी पर्यायका आधार है
और अपने स्वरूपमें अपरिणामित्वको लिए हुए है। यों द्रव्य और गुण एक समान है
एक भेद और अभेद दृष्टिसे परखनेका अन्तर है। जब कि संग्रहनयसे सहित ऐसा कहा
जानेपर उसका जो विभाग किया जा रहा है वह द्रव्यरूपमें निरखकर अथवा पर्याय
रूपमें निरखकर किया जा रहा है। तो पर संग्रहके भेद द्रव्य और पर्यायरूपमें किया।
अब इन दो भेदोंमेंसे एक द्रव्यको ग्रहण करले तो अब यह अपरसंग्रहमें समस्त द्रव्योंमें
द्रव्य है ऐसे शब्दकी अनुवृत्ति है और सभी ये द्रव्य हैं, ये द्रव्य हैं, जो जो भी द्रव्य हैं
उन सबमें द्रव्यरूपका विज्ञान भी चल रहा है। यों द्रव्यत्वके रूपसे वचन और विज्ञान
की समानतारूप चिन्हसे एकत्व जाना जा रहा है। इसी प्रकार सत्के विभाग द्रव्य
और पर्यायमेंसे अब पर्यायकी दृष्टिमें लेकर संग्रह करता है तो सर्व पर्यायोंमें पर्याय है,
इस प्रकार एकत्वरूपसे संग्रह किया जा रहा है। तो यह अपर संग्रह हो गया। संग्रह
नयसे किए गए विभागको संग्रहरूपसे विषय करना अपरसंग्रह हुआ, किन्तु व्यवहार

नहीं हुआ । व्यवहारनय तो उसका विभाग-विषय करता है। और जब विभाग किया गया तब तो वह व्यवहारनय है, जब उसका संग्रह किया गया तो वह संग्रहनय है।

व्यवहारनयमें वस्त्वनुरूप विभजनकी पद्धति— व्यवहारनय संग्रहका किस प्रकार विषय करता है उसे सुनो ? जैसे अपर संग्रहनयने द्रव्य ऐसा विषय किया तो जब यों निरखा जाय कि जो द्रव्य है वह जीवादिक ६ प्रकारका है—जीव, पुद्गल, धर्म अधर्म, आकाश और काल । तो अब अपर संग्रहनयसे द्रव्यरूपसे समस्त द्रव्योंका ग्रहण किया है। अब उन द्रव्योंका विभाग किया जा रहा है। तो इन विभागोंमें पर्यायको नहीं छुवा, किन्तु अखण्ड पिण्डको अब भी देखा जा रहा है, इस नातेसे यह व्यवहार द्रव्यार्थिकनय है। इसी प्रकार द्रव्य और पर्यायमेंसे द्रव्यका विभाग बताकर पर्यायका विभाग भी समझिये। जो पर्याय है वह दो प्रकारका है। सहभावी और क्रमभावी। सहभावी पर्याय तो उसे कहते हैं जो एक साथ होवे। जैसे कि भेद दृष्टिसे एक द्रव्यमें अनेक गुण देखे गए और जब उन अनेक गुणोंके आश्रयसे उन अनेक गुणोंके प्रत्येक गुणके परिणमन हैं ना, तो यों एक साथ अनेक पर्यायें भी हैं। तो वे सब पर्यायें सहभावी पर्याय कहलाती हैं। और, उस एक द्रव्यमें भूत भविष्य वर्तमान कालमें होने वाली पर्यायोंपर दृष्टि देकर जब पर्यायपना देखा गया तो वह क्रमभावी पर्याय कहलाती है। यहाँ समस्त पर्यायोंका संग्रह किया गया। तो यह व्यवहार द्रव्यार्थिकनय है। पर्यायोंको भी पर्यायार्थिकनयसे न निरखकर यहाँ द्रव्यार्थिकनयसे निरखा जा रहा है। जिसमें कि संख्या प्रधान है। नानाका समुदायरूप एक एकका विभागरूप बना इस प्रकारका द्रव्यस्वरूप ही प्रयोजन पर्यायके निरखनेमें पड़ा हुआ है। इस कारण इस पर्यायरूप व्यवहारको भी द्रव्यार्थिकनय कहते हैं।

व्यवहारनयका क्षेत्र— अपर संग्रहनयके विभाग करके जो व्यवहारनयके द्वारा जाना गया है उसका भी और विभाग किया जाय और इस तरहसे अपरसंग्रहनयका व्यवहार अर्थात् अपर संग्रह बना बनाकर विभाग करते जानेकी पद्धति ऋजुसूत्रसे पहिले पहिले तक की जाती है क्योंकि ऋजुसूत्रनय ऐसी निरंश पर्यायको ग्रहण करता है कि जिसके बाद उसका विभाग सम्भव नहीं है। अतएव ऋजुसूत्रनयसे पहिले पहिले अपर संग्रहोंका व्यवहार चलाया जा सकता है। और, यह संग्रह व्यवहारनयका प्रसंग परसंग्रहनयके बाद प्रारम्भ होकर ऋजुसूत्रनयसे पहिले-पहिले होता है। अर्थात् संग्रहनयके बाद कोई संग्रह नहीं किया जा सकता। जैसे ऋजुसूत्रनयके विषयमें विभाग नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार पर संग्रहके विषयमें संग्रह भी नहीं बनाया जा सकता है। यह संग्रह व्यवहार प्रपंच इस कारण चलता है कि समस्त वस्तुयें कथंचित् सामान्य विशेषात्मक हुआ करती हैं। जब समस्त पदार्थ सामान्य विशेष रूप हुए तो सामान्यको प्रधान करके तो संग्रहनय बनता है और विशेषको प्रधान करके व्यवहारनय बनता है।

नैगमनय व व्यवहारनयमें अन्तर—अब यहाँ द्रव्य और पर्यायकी विधि प्रताके प्रकारसे सामान्य विशेष बनाकर संग्रह व्यवहारका भेद तो किया किन्तु कोई यहाँ यह कहे कि इस तरह तो यह व्यवहार नैगमरूप हो जायगा। नैगमनय संग्रहनय विभाग करनेमें समर्थ हो जायगा। क्योंकि, नैगमनयमें भी प्रधान और गौण पदार्थ विषयमें पड़े हुए हैं। उत्तरमें कहते हैं कि नहीं, नैगमनयका व्यवहार संग्रहनय या संग्रहनयका व्यवहार नैगमनय नहीं हो सकता है। अथवा यह व्यवहार नैगमरूप नहीं हो सकता है। कोई इस प्रकार शंका यदि करे कि जब सामान्य विशेषात्मकता होनेसे प्रधान गौण रूप दृष्टि करके व्यवहार बनाया जा रहा है तो यही बात नैगमनयमें भी थी तो इस व्यवहारनयमें नैगमनयपना आ जायगा, सो बात नहीं, क्योंकि व्यवहारनय संग्रहनयके विषयका विभाग करनेमें समर्थ है किन्तु नैगमनय तो गौण और प्रधानभूत दोनोंको विषय करने वाला है। जैसे कि नैगमनयमें बताया गया था कि जीवका गुण सुख है तो यहाँ जीव तो अप्रधान रहा और सुखकी यहाँ प्रधानता है। तो इस नैगमनयने यहाँ एकको प्रधान करके और एकको गौण करके विषय किया है। केवल एकको विषय नहीं किया। अथवा जब कहा कि सुखी जीव है तो यहाँ सुखकी तो अप्रधानता है और जीवकी प्रधानता है। सो नैगमनयसे दोनों को ही विषय किया है किन्तु व्यवहारनय उन दोनोंमेंसे एकको विषय करता है। वहाँ दूसरेके निराकरणकी हठ करता हुआ नहीं करता है। यों व्यवहारमें और नैगमनयमें अन्तर है।

व्यवहाराभास—व्यवहारनयमें जो विभाग किया जाता है वह वस्तुके अनुरूप किया जाता है। लेकिन जो कल्पनासे आरोपित द्रव्य पर्यायके विभागको मानता है वह व्यवहारनय नहीं, किन्तु व्यवहाराभास है, क्योंकि उसमें प्रमाणसे बाधा आती है। अपनी कल्पनाके अनुसार जिस किसी भी प्रकार विभाग बना दे तो वह व्यवहारनयका विषय नहीं है। जैसे कि कोई कहते हैं कि द्रव्य ९ प्रकारके हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल दिशा आत्मा और मन। अब ये विभाग किसी व्यवस्था को लिये हुए नहीं हैं। सभी कुछ द्रव्य एक जातिमें आ गये कुछ द्रव्य रह गये, कुछ द्रव्य ही नहीं हैं, कल्पनासे उनमें द्रव्यरूपता मान ली गई है। इसी प्रकार पर्यायोंमें जो भेद करना कि पर्यायें, क्या उत्क्षेपण अवक्षेपण, आकुञ्चन आदिक ५ प्रकारकी हैं, यह भी एक कल्पनासे आरोपित विभाग है। तो जो कल्पनासे आरोपित द्रव्य पर्यायके विभागको मानता है वह अभिप्राय व्यवहाराभास है, क्योंकि उसपर विचार करनेसे उसमें प्रमाणसे बाधा आती है। यह नहीं कहा जा सकता कि द्रव्य आदिक का विभाग कल्पनासे आरोपित हो होता है। कोई यह कह बैठे कि सब एक सत् है। यह बात तो सत्य है। अब उसका जो विभाग किया जायगा वह कल्पनानुसार किया जायगा। सो यों अटपट स्वच्छन्द रूपसे कल्पनासे विभाग आरोपित नहीं होता, क्योंकि यदि कल्पनासे ही विभाग बनाया जाय तो फिर वह पदार्थ जिसको व्यवहार-

नयसे अलग अलग बताया है वह अपनी अर्थ क्रियामे कारण नहीं हो सकता। जैसे कोई कल्पनासे आकाशका फूल मान ले तो मानले। कल्पना है उसकी, पर कल्पनासे मान लेने मात्रसे कही आकाशपुष्पमें अर्थ क्रिया न हो सकेगी। सुगन्धी आये या उस की माला बनायी जा सके उसका कुछ उपयोग हो सके, यह कुछ न हो सकेगा, क्योंकि वह तो असत् है। केवल एक कल्पनासे आरोपित किया गया है। इसी प्रकार द्रव्यसे पर्यायका विभाग केवल कल्पनामे ही आरोपित हो, तत्वभूत पाया न जाता हो तो उसमे भी अर्थक्रिया नही बन सकती। इसलिए व्यवहारनय द्वारा जो विभाग किया गया है वह असत्य नहीं है।

व्यवहारनयमे असत्यताके आक्षेपका निराकरण– व्यवहारको असत्य माननेपर व्यवहारकी अनुकूलतासे प्रमाणमे फिर प्रमाणता नही हो सकती। प्रमाणमे जो प्रमाणता आती है वह व्यवहारकी अनुकूलतासे ही लायी जाती है। व्यवहारकी अनुकूलता न होनेपर जो ज्ञान है वह बाध्यमान ज्ञान है, उनमें बाधा आयगी। अतएव बाध्यमान ज्ञानोमें भी फिर प्रमाणताका प्रसग आ जायगा। फिर तो स्वप्नमे जो भ्रान्त ज्ञान बन रहा है उस भ्रान्त ज्ञानकी अनुकूलतासे भी चूकि ज्ञान तो चल रहा है, तो उन ज्ञानोमे भी प्रमाणताका प्रसग आ जायगा। तो प्रमाणमे जो प्रमाणता लायी जाती है, व्यवहारकी अनुकूलतासे उसमे व्यवहार बन सकता है उसमे हित प्राप्ति और अहित परिहार बन सकता है, वो प्रमाणता मानी जाती है, यो व्यवहार सत्य है। व्यवहार अगर असत्य होता तो प्रमाण व्यवस्थाका भी लोप हो जाता। यहा व्यवहारनय द्रव्यार्थिकनयरूप है और जैसे सग्रहनयमें अखण्ड पदार्थोंका सग्रह है। जिनका सग्रह किया गया है उनका अखण्डत्व खण्डित नही होता है इसी प्रकार सग्रहनयसे ग्रहण किये गये विशेषोका जो विभाग किया जा रहा है उस विभागमे भी उनका अखण्डपना खण्डित नही किया जाता। अथवा यहा द्रव्यका अर्थ परिणमनको गौण रखकर सख्याओका विषयभूत तत्वग्रहणमें किया गया। इसी कारण यह व्यवहारनय द्रव्यार्थिनयका भेद है पर्यायरूप जो व्यवहरण किया जायगा वह तो ऋजूसूत्रनयसे शुरु होगा। व्यवहारनयमें जो विभाग किया जाय वह पर्यायरूपसे नही किया गया है। पर्यायको भी पर्याय ऐसी सख्याके विषयरूपसे स्वीकार करके उनका विभाग किया गया है। इस प्रकार द्रव्यार्थिकनयके तीन भेद—नैगमनय, सग्रहनय और व्यवहारनयका वर्णन किया गया है। इससे द्रव्यको विषय करनेपर, भी पर्यायका निराकरण नहीं किया गया अतएव यह नय उन्हीं पुरुषोके लिए सदरूप है जिन्होंने प्रमाणसे वस्तुका परिचय किया है और अब प्रयोजनवश उनमेसे द्रव्यको विषय करने का अभिप्राय किया है, उनके लिये यह नय है। यदि कोई पर्यायका निराकरण करके केवल द्रव्य विषयको ही ग्रहण करे तो उनके लिये तो यह नयाभास होगा।

ऋजुसूत्रनयका परिचय---पर्यायार्थिकनयमें प्रथम ऋजुसूत्रनय है। ऋजु-

सूत्रनयका अर्थ है कि जो ऋजु अर्थात् सरल, प्रांजल यानी व्यक्त वर्तमान समयमात्र परिणमनमें जो बोध कराता है उसे ऋजुसूत्रनय कहते हैं, अर्थात् सिद्ध यानी एक क्षणवर्ती पर्यायको ग्रहण करने वाला और प्रतिपक्षीकी अपेक्षा रखने वाला ऋजुसूत्रनय होता है जैसे कहा इस समय सुख पर्याय है। तो यहाँ केवल ऋजुसूत्रनय समयवर्ती सुख पर्यायको ही सूचित कर रहा है। यद्यपि जिस समय सुख पर्यायका बोध हो रहा है उस समय भी द्रव्यमें द्रव्यत्व है अथवा सर्वत्र ही द्रव्यपना तो रहता ही है उस वस्तुमें लेकिन द्रव्य सत् होने पर भी उसकी यहाँ विवक्षा नहीं है। ऋजुसूत्रनय वर्तमान परिणमनमात्रको ही ग्रहण करता है अतएव इस नयकी दृष्टिमें द्रव्य नहीं है, द्रव्य होनेपर भी उसकी विवक्षा नहीं है इसी प्रकार उस द्रव्यमें, उस वस्तुमें अतीतके परिणमन और भी हैं। भविष्यके परिणमन भविष्यमें होंगे, अतीतके परिणमन हो चुके ऐसी अतीत और अनागत पर्यायें भी हैं, लेकिन अतीत पर्याय तो नियष्ट हो चुकी, अनागत पर्याय अभी हुई नहीं है, आगे होगी, इस कारणसे वर्तमान कालमें अतीत और अनागत क्षण भी असम्भव हैं, उनकी विवक्षा न होनेसे। यहाँ कोई यह शंका कर सकता है कि वर्तमान समयमात्र पर्यायको ग्रहण करनेसे तो लोक व्यवहारका लोप हो जायगा, क्योंकि लोकव्यवहार भूत भविष्यत् सब तरहके शब्दोंको चलता है। उत्तरमें कहते हैं कि लोक व्यवहारका लोप यों नहीं हो सकता कि लोकव्यवहार तो समस्त नयसमूहोंके द्वारा साध्य है। यहाँ तो नयोंका विषयमात्र बताया जा रहा है कि ऋजुनयका विषय वर्तमान समयवर्ती परिणामको ग्रहण करनेका है। जब लोकव्यवहारकी बात होगी तो उसमें ऋजुसूत्रनय भी आता है तो सभी नयोंके आश्रयसे लोकव्यवहार बनता है।

निराकृतप्रतिपक्ष ऋजुसूत्रमें ऋजुसूत्राभासता—यहाँ जो विषय बताया जा रहा कि ऋजुसूत्रनयने शुद्ध पर्यायको ग्रहण किया। शुद्ध पर्यायके आयनेसे यहाँ केवल पर्यायार्थिकनय, द्रव्यकी विवक्षा न रखकर, केवल वर्तमान पर्याय भूत, भविष्यकी पर्यायका भी सम्बन्ध न बनाकर केवल वर्तमान पर्यायको ग्रहण करने वाला ऋजुसूत्र नय है किन्तु इस प्रसंगकी आड लेकर कोई बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग द्रव्यका सर्वथा निराकरण करता है अर्थात् द्रव्यानेको स्वीकार नहीं करता। ऋजुसूत्रनयके विषयभूत वर्तमान पर्यायमात्रको ही सर्वस्व समझता है, क्योंकि समस्त पदार्थ प्रतिक्षण क्षणिक हैं ऐसा अनुमान हुआ है उनकी मुख्यता हुई है। कोई भी पदार्थ दूसरे समय नहीं रहता ऐसी पदार्थोंकी सर्वथा क्षणिकता माननेके कारण जो द्रव्यका निराकरण करता है ऐसा जो अभिप्राय है वह तो ऋजुसूत्रनयाभास है। ऋजुसूत्र नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रतीति तो इस तरहकी नहीं होती। द्रव्यको छोड़कर पर्याय होता ही नहीं। केवल पर्यायमात्र ही वस्तु है ऐसी प्रतीति नहीं होती, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान आदिकसे बाह्य और अन्तर एक द्रव्यकी प्रतीति बराबर होती है। बाह्य द्रव्यसे मतलब हुआ कि कुछ लोकव्यवहारमें द्रव्य माना जाता है, पर्याय संततिमें जो एक द्रव्य पिण्ड की कल्पना होती है। अथवा जैसे मनुष्य १०० वर्ष जीवित है तो बालक वृद्ध तककी जो

मनुष्य पर्याय है वह एक द्रव्यरूपसे निरख ली गई है। यो बाह्य द्रव्य हुआ। अन्तः द्रव्य पुद्गलमे परमाणु और देहियोमे ज्ञानस्वभावमय आत्मा जो कि शाश्वत है ये दोनो प्रकारके द्रव्य प्रत्यभिज्ञान प्रमाण आदिक द्वारा जाने जाते हैं। जो द्रव्य, पूर्व पर्याय और उत्तर पर्यायमे रहने वाला है ऐसे पूर्वोत्तर पर्यायवर्ती द्रव्यको प्रत्यभिज्ञान सिद्ध करते हैं। जिनमे कि कोई बाधा नही, पदार्थ सामान्यविशेषात्मक होते। जब नाना पदार्थोंपर दृष्टिपात करते हैं तो नाना पदार्थों सम्बन्धी सामान्य, तिर्यक सामान्य कहलाता है और नाना पदार्थोंमे जो परस्पर विशेष है, भेद है वह तिर्यक विशेष कहलाता है। और, जब केवल एक ही वस्तुके सम्बन्धमें उस वस्तुकी भूत भविष्यत् पर्यायोमे रहने वाले शाश्वत् भावको देखा जाता है तो उसे ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं। और उस ही एक पदार्थके पूर्वोत्तर समस्त पर्यायोपर दृष्टि करते हैं तो ऊर्ध्वताविशेष कहलाता है। ऊर्ध्वता सामान्यकी सिद्धिसे भी यह बात सिद्ध होती है कि शाश्वत द्रव्य होता है। तो जो पुरुष उस द्रव्यका निराकरण करते हैं और ऋजुसूत्रनयके विषयभूत केवल वर्तमान पर्यायमात्रको स्वीकार करते हैं उनका यह अभिप्राय ऋजुसूत्राभास है। पदार्थ प्रतिक्षण क्षणिक हैं, यह बात प्रमाणसे सिद्ध नही होती। तब निष्कर्ष यह निकला कि अपने प्रतिपक्ष द्रव्यत्वकी अपेक्षा रखकर जो वर्तमान पर्याय मात्रको ग्रहण करने वाला ऋजुसूत्र है वह तो ऋजुसूत्रनय है और द्रव्यका निराकरण करते हुए एकान्ततः केवल वर्तमान पर्याय मात्रको ग्रहण करने वाला अभिप्राय ऋजुसूत्राभास है।

शब्दनयका परिचय – अब पर्यायार्थिकनयमे द्वितीय भेद शब्दनयका वर्णन करते हैं। ऋजुसूत्रनयमे एक पर्यायको किन्ही शब्दो द्वारा किन्ही भी पद्धतियोसे ग्रहण करनेकी बात की थी। अब उस विषयमेसे संक्षिप्त विषय करके यह शब्द नय काल, कारक, लिंग, संख्या, साधन उपसर्गके भेदसे भिन्न अर्थको ग्रहण करता है, इस हीको शब्दनय कहते है। शब्दकी व्युत्पत्ति यह है — शपति इति शब्द जो वर्णन करे, कहे उसे शब्द कहते हैं। तो शब्दनयमे शब्द प्रधान है। शब्दके भेदसे भिन्न अर्थको ग्रहण करना यह शब्दनयका काम है। और, इसके बाद भी जो दो नय आयेंगे—समभिरूढ नय एव भूतनय ये भी शब्द यसे सम्बन्धित हैं अर्थात् शब्दका आश्रय रखकर अर्थको बताने वाला नय। यहाँ शब्दनय एव भूत और समभिरूढनयसे बड़ा विषय रखने वाला शब्दनय काल भेदसे भिन्न अर्थको स्वीकार करता है।

शब्दनयकी दृष्टिमे कालभेदसे अर्थभेदका निर्णय – शब्दनयके विरुद्ध याने लिङ्गभेदसे अर्थभेद न माननेको वैयाकरणोका मत है। जैसे कि पाणिनीय व्याकरणोंमें एक सूत्र आया है—'धातुसम्बन्धे प्रत्ययः' यह एक अधिकारसूत्र है। इस सूत्रका आरम्भ करके अनेक सूत्र और आते गए और इस प्रसगमें अन्तिम सूत्र है—विश्वदृश्वास्य पुत्रो भविता। यहाँ तक कालभेद होनेपर भी एक पदार्थको बताया है

वैयाकरणोंने । जैसे इसका पुत्र विश्वदृश्वा होगा । यहाँ विश्वदृश्वाका अर्थ है समस्त विश्वको देख चुकने वाला । तो विश्वदृश्वा शब्दका अर्थ अतीतकाल सम्बन्धित है और समस्त विश्वको जान चुका वह विश्वदृश्वा है । और, प्रयोग यों किया जा रहा है कि इसका विश्वदृश्वा पुत्र होगा । बात तो कह रहे हैं होगा, भविष्यकालमें होगा और जिस पुत्रके भविष्यकालमें होनेकी बात की जा रही है उसके बारेमें विशेषण दे दिया है यह कि सारे संसारको जान चुकने वाला । तो विशेषण तो अतीत कालसे सम्बन्ध रखता है, जो समस्त विश्वको जान चुका है और उसको कह रहे हैं कि होगा । तो यहाँ अतीत काल और भविष्यकालके भिन्न दो अर्थोंका एक साथ जोड़ दिया है, अभेद कर दिया है । ऋजुसूत्रनयके विषयमें भी और संक्षिप्त विषय करके शब्द नय जाना करता है । तो यहाँ अतीत कालका अर्थ और भविष्य कालका अर्थ इन दोनोंको शब्दनय एक रूप स्वीकार नहीं कर सकता है । वैयाकरणोंने तो इस भिन्न अर्थ वाले अतीत काल और भविष्यकालके अर्थ वाले प्रयोगका इस तरहसे निष्कर्ष निकालकर बताया है कि जो समस्त विश्वको देखेगा, ऐसा इसका पुत्र होगा, लेकिन विश्वदृश्वा शब्दमें भविष्यकाल परक अर्थ नहीं है । उसका अर्थ अतीत सम्बन्धित है । तो ऋजुसूत्र-नय इस अभेद अर्थको ग्रहण नहीं करता, क्योंकि भविष्यकालके साथ अतीत कालका अभेद नहीं है, पर उस प्रयोगमें भविष्यकालके साथ अतीत कालका अभेद बनाया गया है और व्यवहार भी इसी तरहसे पाया जाता है, और यों कहते भी हैं कि इसका सर्वज्ञ पुत्र होगा । इसका ऐसा पुत्र होगा जो कि सर्वज्ञ होगा । तो सर्वज्ञका भी अर्थ क्या ? जो समस्त विश्वको जान चुके जो समस्त विश्वको जाने उसे सर्वज्ञ कहते हैं । हारमें तो यह बात पायी जाती है कि इसके विश्व [illegible] पुत्र होगा । अतीत के [illegible] को भविष्यकालके अर्थके साथ जोड़ देनेकी बा[illegible] में पायी तो जाती यह शब्दनयकी दृष्टिमें असंगत बात है, क्योंकि [illegible] अर्थके भेद करता है ।

कालभेद होनेपर भी सर्वथा [illegible]

सर्वथा कालका अभेद होनेपर भी अर्थका [illegible] प्रसंग होगा । जैसे कि रावणके शंखका [illegible] हुआ तब उसने शंखनाद किया, अब उसका [illegible] जो शब्द होगा वह भविष्यकालका शब्द है [illegible] शब्दमें भी एकार्थकता आ जानी चाहिये । [illegible] मानी जाने लगी भी । तो रावण था शंख [illegible] कालमें होगा लेकिन अब तो अतीत और अन[illegible] इन दोनोंमें भी एकां[illegible] नी चाहिए [illegible] विषयपना है रावण [illegible] है वर्तमान शब्द प्र[illegible]

कहते कि तब तो इसी कारणसे अतीत कालका भविष्य विषय भिन्न है। तो विश्वदृश्वा होगा, सर्वज्ञ होगा, इसमे भी एकार्थकता न आनी चाहिए। क्योंकि विश्वदृश्वाका विषय दूसरा है। सारे विश्वका जो ज्ञान चुका उसे विश्वदृश्वा कहते हैं और भविता का अर्थ दूसरा है। जो होगा उसे भविता कहते हैं। तो यहाँ भी भिन्न विषय बन गया। इस कारण इन दोनोंमें भी एकार्थकता न बनेगी अर्थात् यह प्रयोग असिद्ध रहेगा, क्योंकि विश्वदृश्वाका अर्थ तो यह है कि जो समस्त विश्वको देख चुका। अब यह अर्थ तो अतीतकाल सम्बन्धी है। अब उस हीको कहते कि "भविता" मायने आगे मानना होगा। भविता इस शब्दका अर्थ अनागतकाल वाला है, भविष्यमें होगा। तो भला जो आगे होगा पुत्र उसमे अतीतपनेकी बात जोड़ना कैसे अविरुद्ध हो सकता है? भावी चीजमे अतीतपनेका विरोध देखा जा रहा है। इस कारण रावण गत शब्द व चक्रवर्ती शब्दकी तरह यहाँ भी अर्थभेद मानिये शब्दनयसे। यदि कहो कि अतीतकालमें भी अनागतपनेका अध्यारोप कर दिया जायगा और एकार्थता मान ली जावेगी याने अतीतकालमे भविष्यकालपनेका आरोप करके फिर उसमे एकार्थपना मान ली जावेगा। तो उत्तरमे कहते हैं कि भले ही अतीतकालकी बातमें अनागतपनेका उपचार करके या भविष्यकालकी बातमे अतीतकालपनेका उपचार करके एकार्थपना मान लिया जाय, लेकिन परमार्थसे तो यह बात सिद्ध न होगी। अभिन्न अर्थकी व्यवस्था न बन सकी। क्योंकि काल भेदसे अर्थ भिन्न ही होगा। उपचारसे काल भेद होनेपर भी अभिन्न अर्थकी व्यवस्था बना ली जाय तो इससे परमार्थसे तो कालभेद होनेपर अभिन्न अर्थकी व्यवस्था नहीं बन सकती। यो कालके भेदसे भिन्न अर्थको ग्रहण करने वाला यह शब्दनय है।

शब्दनयमे कारक भेदसे अर्थ भेदकी प्रतिपादकता—शब्दनय कारक भेद से भी भिन्न अर्थका प्रतिपादन करता है। जैसे करोति और क्रियते। यहाँ करोति तो है कर्तृकारकका प्रयोग और क्रियते है कर्मकारकका प्रयोग, तो इस प्रकार कर्तृकारक और कर्मकारकके भेद होनेपर भी अभिन्न अर्थको वैयाकरण लोग मानते हैं। जैसे कि जो कुछ करता है, किसीके द्वारा वह किया जाता है—इस प्रकारकी प्रतीति होती है। समाधानमें कहते हैं कि वैयाकरणोंको इस प्रकार कर्ता कर्म कारकका भेद होनेपर भी अभिन्न अर्थ मानना सब अयुक्त है अन्यथा याने कर्ताकारक और कर्म कारकका भेद होनेपर भी अर्थ यदि एक मान लिया गया तो जब यह प्रयोग होता है कि देवदत्त चटाईको करता है तो कहीं कर्ता तो है देवदत्त और चटाई है कर्म। कर्ता कर्म कारक का भेद होनेपर भी मान लिया वैयाकरणोंने एक अभिन्न अर्थ तो यहाँ भी कर्ता देवदत्त कर्म चटाई ये दो भिन्न-भिन्न हैं, लेकिन इनमें भी अभेद बन बैठेगा, क्योंकि अब तो यहाँ यह नियम बना दिया कि कर्ता और कर्म कारकमे भेद होनेपर भी एक ही अभिन्न अर्थ है-तो यो अत्यन्त भिन्न पदार्थ जिनका कभी एक अर्थ होता ही नहीं, कर्ता और कर्म कारकका प्रयोगभेद हो जानेपर भी वे एक बन बैठें। इससे शब्दनयकी दृष्टिमे कर्तृ

वैयाकरणोंने। जैसे इसका पुत्र विश्वदृश्वा होगा। यहाँ विश्वदृश्वाका अर्थ है समस्त विश्वको देख चुकने वाला। तो विश्वदृश्वा शब्दका अर्थ अतीतकाल सम्बन्धित है जो समस्त विश्वको जान चुका वह विश्वदृश्वा है। और, प्रयोग यों किया जा रहा है कि इसका विश्वदृश्वा पुत्र होगा। बात तो कह रहे हैं होगा, भविष्यकालमें होगा और जिस पुत्रके भविष्यकालमें होनेकी बातकी जा रही है उसके बारेमें विशेषण दे दिया है यह कि सारे संसारको जान चुकने वाला। तो विशेषण तो अतीत कालसे सम्बन्ध रखता है, जो समस्त विश्वको जान चुका है और उसको कह रहे हैं कि होगा। तो यहाँ अतीत वाला और भविष्यकालके भिन्न दो अर्थोंको एक साथ जोड़ दिया है, अभेद कर दिया है। ऋजुसूत्रनयके विषयमें भी और संक्षिप्त विषय करके शब्द नय जाना करता है। तो यहाँ अतीत कालका अर्थ और भविष्य कालका अर्थ इन दोनोंको शब्दनय एक रूप स्वीकार नहीं कर सकता है। वैयाकरणोंने तो इस भिन्न अर्थ वाले अतीत काल और भविष्यकालके अर्थ वाले प्रयोगका इस तरहसे निष्कर्ष निकालकर बताया है कि जो समस्त विश्वको देखेगा, ऐसा इसका पुत्र होगा, लेकिन विश्वदृश्वा शब्दमें भविष्यकाल परक अर्थ नहीं है। उसका अर्थ अतीत सम्बन्धित है। तो ऋजुसूत्र-नय इस अभेद अर्थको ग्रहण नहीं करता, क्योंकि भविष्यकालके साथ अतीत कालका अभेद नहीं है, पर उस प्रयोगमें भविष्यकालके साथ अतीत कालका अभेद बनाया गया है और व्यवहार भी इसी तरहसे पाया जाता है, और यों कहते भी हैं कि इसका सर्वज्ञ पुत्र होगा। इसका ऐसा पुत्र होगा जो कि सर्वज्ञ होगा। तो सर्वज्ञका भी अर्थ क्या है? जो समस्त विश्वको जान चुके जो समस्त विश्वको जाने उसे सर्वज्ञ कहते हैं। तो व्यव-हारमें तो यह बात पायी जाती है कि इसके विश्वदृश्वा पुत्र होगा। अतीत कालके अर्थको भविष्यकालके अर्थके साथ जोड़ देनेकी बात व्यवहारमें पायी तो जाती है लेकिन यह शब्दनयकी दृष्टिमें असंगत बात है, क्योंकि शब्दनय कालभेदसे अर्थके भेदको स्वीकार करता है।

कालभेद होनेपर भी सर्वथा अर्थका अभेद माननेपर दोषापत्ति—यदि सर्वथा कालका अभेद होनेपर भी अर्थका अभेद कर दिया जाय तो फिर इसमें अतिप्रसंग होगा। जैसे कि रावणके शंखका शब्द, यह अतीत हो चुका है। जब रावण हुआ तब उसने शंखनाद किया, जब उसका वह शब्द था और चक्रवर्तीका शब्द जो भी शब्द होगा वह भविष्यकालका शब्द है। तो रावण शंख शब्दमें और चक्रवर्ती शब्दमें भी एकार्थकता आ जानी चाहिये। क्योंकि अब तो कालभेदसे अर्थका अभेद माना जाने लगा भी। तो रावण शंख शब्द अतीतकालका था चक्रवर्ती शब्द अनागत कालमें होगा लेकिन अब तो अतीत और अनागत अर्थको एक मान लिया गया, तब इन दोनोंमें भी एकार्थकता आ जानी चाहिए। यदि कहो कि इन दोनों अर्थोंमें भिन्न विषयपना है रावण शंख शब्दमें और चक्रवर्ती शब्दमें। रावण शंख शब्द अलग बात है चक्रवर्ती शब्द प्रथक चीज है। इसलिये एकार्थपना नहीं आ सकता। तो समाधानमें

कहते कि तब तो इसी कारणसे अतीत कालका भविष्य विषय भिन्न है। तो विश्वदृश्वा हुआ, सर्वज्ञ होगा, इसमे भी एकार्थकता न आनी चाहिए। क्योंकि विश्वदृश्वाका विषय दूसरा है। सारे विश्वको जो जान चुका उसे विश्वदृश्वा कहते हैं और भविता का अर्थ दूसरा है। जो होगा उसे भविता कहते हैं। तो यहाँ भी भिन्न विषय बन गया। इस कारण इन दोनोंमे भी एकार्थकता न बनेगी अर्थात् यह प्रयोग असिद्ध रहेगा, क्योंकि विश्वदृश्वाका अर्थ तो यह है कि जो समस्त विश्वको देख चुका। अब यह अर्थ तो अतीतकाल सम्बन्धी है। अब उस हीको कहते कि "भविता" मायने आगे मानना होगा। भविता इस शब्दका अर्थ अनागतकाल वाला है, भविष्यमें होगा। तो भला जो आगे होगा पुत्र उसमे अतीतपनेकी बात जोड़ना कैसे अविरुद्ध हो सकता है? भावी चीजमे अतीतपनेका विरोध देखा जा रहा है। इस कारण रावण शख शब्द व चक्रवर्ती शब्दकी तरह यहाँ भी अर्थभेद मानिये शब्दनयसे। यदि कहो कि अतीतकालमे भी अनागतपनेका अध्यारोप कर दिया जायगा और एकार्थता मान ली जावेगी याने अतीतकालमे भविष्यकालपनेका आरोप करके फिर उसमे एकार्थपना मान ली जावेगी। तो उत्तरमे कहते हैं कि भले ही अतीतकालकी बातमें अनागतपनेका उपचार करके या भविष्यकालकी बातमे अतीतकालपनेका उपचार करके एकार्थपना मान लिया जाय, लेकिन परमार्थसे तो यह बात सिद्ध न होगी। अभिन्न अर्थकी व्यवस्था न बन सकी। क्योंकि काल भेदसे अर्थ भिन्न ही होगा। उपचारसे काल भेद होनेपर भी अभिन्न अर्थकी व्यवस्था बना ली जाय तो इससे परमार्थसे तो कालभेद होनेपर अभिन्न अर्थकी व्यवस्था नही बन सकती। यो कालके भेदसे भिन्न अर्थको ग्रहण करने वाला यह शब्दनय है।

शब्दनयमें कारकके भेदसे अर्थ भेदकी प्रतिपादकता—शब्दनय कारक भेद से भी भिन्न अर्थका प्रतिपादन करता है। जैसे करोति और क्रियते। यहाँ करोति तो है कर्तृकारकका प्रयोग और क्रियते है कर्मकारकका प्रयोग, तो इस प्रकार कर्तृकारक और कर्मकारकके भेद होनेपर भी अभिन्न अर्थको वैयाकरण लोग मानते हैं। जैसे कि जो कुछ करता है, किसीके द्वारा वह किया जाता है इस प्रकारकी प्रतीति होती है। समाधानमें कहते हैं कि वैयाकरणोंको इस प्रकार कर्ता कर्म कारकका भेद होनेपर भी अभिन्न अर्थ मानना सर्व अयुक्त है अन्यथा याने कर्ताकारक और कर्म कारकका भेद होनेपर भी अर्थ यदि एक मान लिया गया तो जब यह प्रयोग होता है कि देवदत्त चटाईको करता है तो यहाँ कर्ता तो है देवदत्त और चटाई है कर्म। कर्ता कर्म कारक का भेद होनेपर भी मान लिया वैयाकरणोने एक अभिन्न अर्थ तो यहाँ भी कर्ता देवदत्त कर्म चटाई ये दो भिन्न-भिन्न हैं, लेकिन इनमें भी अभेद बन बैठेगा, क्योंकि अब तो यहाँ यह नियम बना दिया कि कर्ता और कर्म कारकमें भेद होनेपर भी एक ही अभिन्न अर्थ है तो यो अत्यन्त भिन्न पदार्थ जिनका कभी एक अर्थ होता ही नही, कर्ता और कर्म कारकका प्रयोगभेद हो जानेपर भी वे एक बन बैठें। इससे शब्दनयकी दृष्टिमे कर्तृ

कारक और कर्म कारकका भेद होनेपर उन्हें भिन्न अर्थमें ही बतलाता है।

शब्दनयमें लिङ्ग भेदसे अर्थ भेदकी प्रतिपादकता—शब्दनय लिङ्गके भेदसे भी भिन्न अर्थको ही बताते हैं। जैसे पुष्य और तारका ये दो शब्द हैं। इनमें पुष्य है पुलिङ्ग और तारका है स्त्री लिङ्ग। तो यहाँ लिङ्गका भेद होनेपर भी एक ही नक्षत्र अर्थ वैयाकरण लोगोंने माना है। और, ऐसा ही लोक व्यवहारमें देखा जाता है। इस युक्तिसे वैयाकरण लोग लिङ्गभेद होनेपर भी अर्थभेद नहीं मानते, किन्तु अभिन्न अर्थ मानते हैं यह भी बात शब्दनयकी दृष्टिमें असंगत है। शब्दनय शब्दकी विशेषतापर दृष्टि देता है। तो लिङ्गभेद होनेपर भी यदि एक ही अर्थ उसका विषय मान लिया तब तो पट, और कुटी इन दो शब्दोंमें भी एकत्वका प्रसंग आ जायगा। पट मायने तो कपड़ा है और कुटी मायने झोंपड़ी है, कितना भिन्न अर्थ है? कहाँ तो कपड़ा और कहाँ झोंपड़ी? लेकिन अब आग्रह ठान लिया कि लिङ्गभेद होनेपर भी अर्थ एक रहता है, तो यहाँ भी लिङ्गभेद है। पट शब्द पुलिङ्ग है और कुटी शब्द स्त्रीलिङ्ग है, तो इसका भी ठीक अभेद अर्थ हो बैठेगा? इस कारण शब्दनयकी दृष्टिमें लिङ्गभेद होनेसे भिन्न अर्थका ही ज्ञापन होता है। शब्दनय शब्दकी विशेषता पर कड़ी दृष्टि रखता है।

शब्दनयकी दृष्टिमें वचनभेदसे (संख्याभेदसे) अर्थभेद—शब्दनय संख्याके भेदसे भी पदार्थमें भेद मानता है। जैसे प्रयोग किया गया आपः अम्भः। आपः यह बहु वचनान्त शब्द है। तो आप में बहु वचन आया, इसकी संख्या बहुत हुई और अम्भ मे एक वचन आया। तो वचनका भेद होनेपर भी वैयाकरणजन एक जल नाम का अर्थ ही उसका वाच्य मानते हैं। उनका कथन है कि संख्याका भेद पदार्थका भेदक नहीं होता है। जैसे कोई एक किस्मके ही अनेक पदार्थ रखे हैं, मानो गेहूँका ढेर लगा है, और उनमें अनेक गेहूँ कम वजनके हैं कुछ विशेष वजनके हैं। होते ही हैं ऐसे, तो उस ढेरके गेहूँओंमें गुरु लघुका भेद है, पर ऐसा भेद होनेसे वह भिन्न अर्थ नहीं कहलाता है तो वह गेहूँ ही एक। तो यों ही जब वचनके भेदसे संख्याभेद हो तो भी वह एक ही अर्थ कहलाता है। शब्दनयकी दृष्टिमें यह बात भी अयुक्त है। यदि संख्याभेद होनेपर भी पदार्थोंमें अभेद मान लिया जाता है तो जैसे प्रयोग किया पटः ततव तो पटः यह प्रयोग तो है एक वचनका व ततव यह प्रयोग है बहुवचनका। पट मायने कपड़ा और ततव मायने अनेक सूत। अब वचनके भेदसे अर्थ एक मान लिया तो पट और तंतु भी एक ही बन जाँय। इससे शब्दनयकी दृष्टिमें यह सिद्ध होता है कि संख्याके भेदसे पदार्थ भिन्न—भिन्न कहलाते हैं।

शब्दनयकी दृष्टिमें साधनभेदसे अर्थका भेद—शब्दनय साधनके भेदसे भी भिन्न भिन्न अर्थको ग्रहण करता है। वैयाकरण इस सम्बन्धमें यह कहता है कि जैसे प्रहासके समय एक वाक्य बोला किसीने कि "एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि यातस्ते पिता" तो यह साधनका भेद है फिर भी वैयाकरण लोग अर्थका

अभेद मानते हैं व्याकरणका सूत्र भी अभेदसाधक है 'प्रहासे मन्यवाचि युष्मन्मन्यतेऽस्मदेक वच्च" एक यह व्याकरणका सूत्र है जिस सूत्रसे प्रहासके प्रसगमे और माननेके वाच्य मे युष्मत् और अस्मत् शब्द एक समान हो जाते हैं। किसीके ध्यानमें कुछ भी प्रयोग करलो तो उस प्रहास वाक्यमे यह कहा कि जावो तुम समझते हो कि रथमे जाऊगा नहीं जावोगे, तेरे पिता भी गए, इस प्रकारका कोई हास्य वाक्य बोले तो इस वचनमे युष्मद्की जगह अस्मत् और अस्मत्की जगह युष्मदका प्रयोग किया गया है यह साधन का भेद है। और उस स्थानका भेद होनेपर भी यह एक अर्थ माना गया है वैयाकरणों द्वारा शब्दनयकी दृष्टिमें समाधान कर रहे हैं कि यह बात भी असगत है। यदि साधन भेद होनेपर भी एकार्थता मान ली जाती है तो अहं पचामि त्वं पचसि, जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि मैं पचाता हूँ। तुम पचाते हो, यहाँपर भी एक अर्थका प्रसग हो जायगा। पर क्या एक अर्थ है ? मैं पकाऊ इसका भाव दूसरा है। तुम पकाते हो इसका भाव दूसरा है तो शब्दनयकी दृष्टिसे साधन भेदसे अर्थ भिन्न भिन्न हो जाता है।

शब्दनयकी दृष्टिमे उपसर्गभेदसे अर्थभेद—उपसर्गके भेदसे भी अर्थ भिन्न भिन्न हो जाता है शब्दनयकी दृष्टिमे। जैसे सतिष्ठते और प्रतिष्ठित। इन दो धातुवों का प्रयोग उपसर्गके सम्बन्धमें है तो यहाँ उपसर्गके दो भेद होनेपर भी वैयाकरण लोग अर्थका भेद मानते हैं और उनके सिद्धान्तसे यह भाव आता है कि उपसर्ग तो धातुका अर्थ मानकर प्रकाश किया करता है इसलिए धातुके साथ उपसर्ग भी लग जाय तो भी वही अर्थ है जो धातुका है। किन्तु शब्दनयकी दृष्टिमे यह बात असगत बैठती है। उपसर्गके लगनेका अर्थ कहीं-कहीं तो स्पष्ट भेद नजर आता है। जैसे प्रहार, उपहार—इनमे उपसर्ग भिन्न-भिन्न है। प्रहारमे प्र उपसर्ग लगा, उपहारमे उप उपसर्ग लगा, और इस उपसर्गके लगनेसे प्रहारका अर्थ तो चोट पहुँचाना है और उपहारका अर्थ भेंट करना है। यदि उपसर्गका भेद होनेपर भी अर्थ अभिन्न माना जाय तो इनका भी अर्थ एक बन जाय, पर इनका अर्थ एक तो नहीं है। अत. उपसर्गभेदमे भी अर्थमे भेद हो जाता है शब्दनयकी दृष्टिमें।

शब्दनयमे कालादिभेदसे अर्थभेदका निर्णय—उक्त विवरणसे यह ही निर्णय मानना चाहिए कि काल आदिकके भेदसे शब्दका अर्थ भिन्न ही होता है। इस सम्बन्धमें यह अनुमान प्रयोग भी है कि विभिन्न काल आदिक सम्बन्धित शब्द विभिन्न अर्थके प्रतिपादक होते हैं क्योंकि विभिन्न काल आदिक वाले अन्य शब्द भिन्न अर्थका ही प्रतिपादन करते हैं रावण शख शब्द, चक्रवर्ती शब्द ये विभिन्न कालके शब्द हैं ना, रावण शख शब्द अतीत है। चक्रवर्ती शब्द अनागत है अथवा रावणसे पहिले जो चक्रवर्ती हुए उनके शब्द अतीत हैं। उसकी अपेक्षा रावण शखका शब्द भविष्य है तो इन दोनोंमें भी एकार्थपना आ जायगा। यदि भिन्न अर्थका प्रतिपादक न माना जाय इन शब्दोंको तो उनके अभेदका प्रसग होगा पर अभेद तो नहीं रावण शख शब्द अनागत

है, चक्रवर्ती शब्द अलग है। ये भी विभिन्न काल आदिकसे सम्बन्धित शब्द हैं। जो विश्वको जान चुका उसे विश्वदृश्वा कहते हैं। और, विश्वदृश्वा पुत्र होगा, अतीत वाली बातको भविष्यके साथ वाक्यमें जोड रहे हैं तो ये भिन्न अर्थके हैं दोनों शब्द शब्दनयकी दृष्टिमें ऐसा जुड़ाव नहीं होता। अथवा यों निष्कर्ष समझिये कि ऋजुसूत्रनयमें तो काल कारक लिंग, सख्या, साधन, उपग्रह इनका व्यभिचार चले भले ही भिन्न कारकके शब्द हों, ऋजुसूत्रनयका प्रयोजन तो वर्तमान अर्थको बता देना मात्र है, लेकिन शब्दनय उनके व्यभिचारको दूर करता है। भिन्न काल शब्दोंको अभेदरूपसे शब्दनय स्वीकार नहीं करता। उन्हें भिन्न भिन्न अर्थके प्रतिपादक मानता है। इसी प्रकार कारक आदिकके भेदमे उन शब्दोंका भिन्न अर्थका प्रतिपादक माना है।

शब्दनयके कारण लोकव्यवहारविलोपकी शका और उसका समाधान

यहाँ कोई शका करता है कि इस तरह तो लोकव्यवहारका विरोध हो जायगा। लोक में बराबर यही व्यवहार चल रहा। आप बहुवचनको कहा तो उसका अर्थ है जल। अम्भ एक वचनको कहा तो उसका अर्थ है जल। संख्याभेद है, मगर अर्थ एक ही है। और, इसका सर्वज्ञ पुत्र होगा। ऐसा बराबर लोकव्यवहारमें देखा जाता है। लोग तीर्थंकरको तो पहिलेस कह देते कि अब माताके गर्भमें तीर्थंकरका जीव आ गया। तीर्थंकर तो तीर्थंकर होने वाला मनुष्य पर्यायमें भी जब भगवान बने। १३ वाँ गुण स्थान हो तो तीर्थंकर कहलायेगा। क्योंकि तीर्थंकर प्रकृतिका उदय भी तब आया है और धर्म प्रवृत्ति भी उनके नामसे तब चलती है। सो तीर्थंकर शब्दका प्रयोग असलमें तो जब सकल परमात्मा हो ले तब तीर्थंकर शब्दका प्रयोग होना चाहिए। लेकिन, लोग उसे तो अभीसे ही कहते हैं बहुत पहिलेसे तीर्थंकर शब्द कहते हैं। गर्भकल्याणक जन्म कल्याणक होते हैं तो कहते हैं कि तीर्थंकरके गर्भ कल्याणक, जन्म कल्याणक हुआ। तो तीर्थंकर पर्याय तो भविष्यकी है मगर अतीतके साथ उसे जोड देते हैं। यों ही अनेक व्यवहार चलते हैं। तो उन सब व्यवहारोंका विरोध हो वैठेगा। यदि भिन्न काल आदिकके शब्दोंसे भिन्न भिन्न अर्थको ग्रहण किया जायगा उसके समाधानमे कहते हैं कि यदि ऋजुसूत्रनयकी बात बताते हुए लोकव्यवहार विरुद्ध होता है तो हो। यहा तो तत्त्वकी मीमांसा की जा रही है। ऋजुसूत्रनयका विषयभूत पदार्थ क्या है उसका यहाँ विचार किया जा रहा है। रोगीकी औषधि उसकी इच्छा के अनुसार दी जाय ऐसा तो नहीं होता। जिन प्रकारसे रोगनिवृत्ति हो उस प्रकारसे वैद्य दवाई बताता है। तो यों ही लोकव्यवहारविरुद्ध हो जाता है इस कारण यों न कहना चाहिए यह को सिद्धान्त की बात नहीं है। कोई तत्त्व ऐसा हो है कि जिस तत्त्वके दर्शनमें लोकव्यवहार नहीं बनता तो मत बनो। किन्तु विषय तो है, यहाँ ऋजुसूत्रनयका विषयभूत पदार्थ क्या है वह यहाँ बताया जा रहा है लोकव्यवहार तो समस्त नयोंके द्वारा साध्य है। तो यहाँ शब्दनयके विषयमें यह बताया गया है कि अगर दो शब्द भिन्न भिन्न कालकी सूचना कर रहे हों तो ऋजुसूत्रनयके प्रसगमें भले

ही उन दो शब्दोका अर्थ एक हो जाय मगर शब्दनयकी दृष्टिमें उन दोनोका एक अर्थ नही हो सकता है। शब्दनयका अभिप्राय तो शब्दकी विशेषताके अनुसार चलता है।

अर्थनयोसे शब्दनयकी भिन्न दिशा—अब तक द्रव्यार्थिकनयके भेदमें नैगमनय संग्रहनय और व्यवहारनय कहा और पर्यायार्थिकनयके भेदमे ऋजुसूत्रनयका प्रयोग हुआ। वे चार अर्थनय कहलाते थे, वहां शब्दके भेदसे अर्थ भेदकी कल्पनाकी कोई दृष्टि न थी। जिस नयका जो वाच्य है वह बात ध्यानमें आना चाहिए। इसके लिये ही वचन प्रयोग है तो उन चार नयोमे तो अर्थनयत्व है, वे अर्थका प्रतिपादन करते हैं, किन्तु शब्दनयमे शब्दकी प्रधानता है स्त्रीलिंग और पुलिंग वाले दो शब्द एक ही अर्थके पर्यायवाची हैं। लेकिन उनमे लिङ्ग भेद आदिक होते तो वे भी भिन्न अर्थ को ही कहने वाले हैं। अर्थकी भिन्नता थोडी थोडी दृष्टिभेदसे हो जाया करती है। तो पूर्वोक्त वे चार नय अर्थनय थे। अर्थको जितनी सूक्ष्म सूक्ष्म बात कही जा सकती थी वह ऋजुसूत्रनयमे कह दी गई। द्रव्यार्थिकनय तो सामान्यको विषय करता है। उस का विषय विशाल है। पर्यायार्थिकनय एक समयवर्ती पर्यायको ग्रहण कर रहा है क्योंकि अनेक समयोकी पर्यायको ग्रहण करे तो उसकी दृष्टि द्रव्य जैसी दृष्टि बन जाती है और वह द्रव्यार्थिकनयमे सामिल हो जाती है। तो एक समयवर्ती पर्याय वह भी अर्थ सम्बन्धित है। और, उसको विषय करने वाला ऋजुसूत्रनय अर्थनय कहलाता है। उसमे भी लिंगआदिकके भेदसे अर्थभेद करने वाला यह शब्दनय कहा गया है। शब्दनयकी दृष्टिसे शब्दमें जरा भी अन्तर हो लिंगका अन्तर, साधनका अन्तर, कारक अन्तर उपसर्ग सम्बन्धका अन्तर, कालका अन्तर सख्याका अन्तर तो उन अन्तरोंके कारण अर्थमें भी यही भेदको सिद्ध करते हैं अर्थात् उन शब्दोंके द्वारा वाच्य अर्थ भिन्न भिन्न ही होते हैं।

द्रव्यार्थिकनयोमे पूर्व पूर्वनयके विषयसे उत्तर उत्तरनयके विषयकी अल्प विषयता – द्रव्यार्थिक नयमें तीन नय बताये गए वे नैगमनय, संग्रहनय और व्यवहारनय। नैगनयन तो सत् और असत् दोनोको विषय करता है। क्योकि नैगमनय का अभिप्राय है कि संकल्प मात्रसे अर्थको ग्रहण करना। जैसे कोई ईंधन रसोईघरके लिए किए जा रहा हो उससे पूछे कि भाई क्या कर रहे हो? तो वह कहता है कि रोटी बना रहे हैं। तो असत् है रोटी और सत् है वर्तमान क्रियाका विषय संग्रहनयने केवल सत्को विषय किया। संग्रह तो किया लेकिन सत्का संग्रह किया, असत् इसका विषय नही है। सो नैगमनयके विषयसे संग्रहनयका विषय अल्प रहा संग्रहनयसे सूक्ष्म विषय है व्यवहार नयका। संग्रहनयने जितने पदार्थोंका संग्रह किया उनमेसे भेद करके भेद रूपमें ग्रहण करना यह व्यवहारनयका काम है। ये तीन तो द्रव्यार्थिकनय हैं। जैसे सत्को संग्रहनयने एक सत् यह विषय किया तो व्यवहारनय कहता है कि सत् या तो

द्रव्यरूप है और पर्यायरूप है। तो व्यवहारनयने द्रव्यको ही विषय किया, पर्यायको भी विषय किया लेकिन यहाँ जिस पर्यायको विषय किया वह द्रव्यपद्धतिका है यानी पर्यायों का समूहरूप पर्यायको ग्रहण किया। वर्तमान समयकी पर्यायको ग्रहण नहीं किया। तो अब अतीत अनागत वर्तमान समस्त पर्यायोंमें यह पर्याय है, यह पर्याय है इस प्रकार अनुवृत्ति रखने वाली पर्यायको ग्रहण किया तो, यह द्रव्यपद्धतिसे ग्रहण किया, इस कारण यह भी व्यवहारनय है।

द्रव्यार्थिकनयसे पर्यायार्थिकनयकी अल्पविषयता एवं व्यवहारनयसे ऋजुसूत्रनयकी सूक्ष्मविषयता तथा ऋजुसूत्रनयसे शब्दनयकी सूक्ष्मविषयता— द्रव्यार्थिकनयसे सूक्ष्मपर्यायार्थिकनयका विषय बनता है। पर्यायार्थिकनयोंमें महाविषय वाला ऋजुसूत्रनय है। पर्यायार्थिकनयके ४ भेद हैं - ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढ़ नय और एवंभूतनय। इन चारोंमें सबसे बड़ा विषय है ऋजुसूत्रनयका। ऋजुसूत्रनय वर्तमानकी एक पर्यायको ग्रहण करता है। उसे चाहे किन्हीं शब्दोंसे बोलें उसका नियन्त्रण नहीं है, लेकिन ऋजुसूत्रनयके विषयको और सूक्ष्म करके चूंकि ऋजुसूत्रनयके विषयसे और सूक्ष्म हो नहीं सकता तब शब्दके सहारे उस ऋजुसूत्रनयके विषयको सूक्ष्म किया गया है। इस कारण यहाँ अन्तिम तीन नय शब्द नय कहलाते हैं। ऋजुसूत्रनय तो किन्हीं भी शब्दोंसे एक पर्यायको ग्रहण कर लेता था। अब कालके भेदसे, कारकके भेदसे, लिङ्गके भेदसे, साधनके भेदसे, उपसर्गके भेदसे भेद कर देना शब्दनयका काम है। जैसे ऋजुसूत्रनय कलत्र शब्दसे भी स्त्रीको ग्रहण करता है और भार्या शब्द से स्त्रीको ग्रहण करता है। कलत्र मायने भी स्त्री भार्या मायने भी स्त्री, लेकिन शब्द नय कहेगा कि भार्या शब्दका वाच्य पदार्थ दूसरा है कलत्र शब्दका वाच्य दूसरा है। तो अब ऋजुसूत्रनयसे जो ग्रहण किया था उससे सूक्ष्म विषय हुआ शब्दमें नय।

शब्दनयसे समभिरूढनयकी सूक्ष्मविषयता— अब शब्दनयके विषयमें और सूक्ष्म करके समभिरूढनय होता है। समभिरूढनयका लक्षण है नाना पदार्थोंका आश्रय करके किसी एक पदार्थके अभिमुख होकर रूढ होनेको। जैसे शब्द नयका विषय है शुद्ध, एकरूप विषय अर्थात् जहाँ न लिंगका भेद हो न साधनका भेद हो, समान पर्यायवाची शब्द हो, जैसे इन्द्र शक्र, पुरन्दर ये तीन नाम इन्द्रके हैं। इनमें न लिंग व्यभिचार है न संख्या, क्योंकि तीनों ही शब्द पुलिंग हैं तीनों ही एकवचन हैं, तीनों का कारक एक कर्ता कारक है। यों शब्दनय समान होनेसे पर्याय शब्दके भेदसे यहाँ अर्थभेदको ग्रहण नहीं करता है लेकिन समभिरूढनय कहता है कि इन्द्र, शक्र, पुरन्दर इत्यादिक शब्द विभिन्न अर्थको विषय करने वाले हैं। जो ऐश्वर्यशाली है वह इन्द्र है, जो शक्तिशाली है वह शक्र है, जो नगरको दरण करे वह पुरन्दर है। अथवा जो ऐश्वर्यशाली हो उसको इन्द्र कहेंगे, जो शक्तिशाली हो उसे शक्र कहेंगे, जो अपने साम्राज्यके अन्तर्गत व्यवस्था करे उसे पुरन्दर कहेंगे। तो शब्दनयका विषय क्या था?

कालादिभेदसे अव्यभिचरित अर्थको गहण करना । वह पर्याय शब्दके भेदसे अर्थभेद नही माना था, शब्दनय लिंगभेदसे अर्थभेद मानता था, कारकभेदसे अर्थभेद मानता था, लेकिन एक ही वचनसे एक ही लिंगके एक ही पदार्थके वाची अनेक शब्द हो तो भी किन्ही भी शब्दोसे उस पदार्थको पुकारता था, किन्तु समभिरूढनय उनमेसे किसी एकसे ही पुकारेगा सबसे नही । अब समभिरूढनयका अन्य प्रकारका दृष्टान्त लीजिये! जैसे गौ शब्दके तो अनेक अर्थ हैं —वाणी, किरण आदिक । लेकिन उन सभी अर्थोको टालकर केवल एक गाय नामके पशुमें ही रूढ बन जाय शब्द तो वह समभिरूढ है । तो शब्दनयने तो केवल काल आदिकके भेदसे अर्थभेद मानते थे, पर्याय शब्दके भेद से अर्थभेद नही माना, लेकिन समभिरूढनय पर्याय शब्दभेदसे भी अर्थभेद मानता है। जैसे इद्र, शक्र, पुरन्दर आदिक शब्द भिन्न-भिन्न अर्थके कहने वाले हैं क्योकि भिन्न शब्द हैं । भिन्न-भिन्न जब शब्द हैं तो उनका अर्थ भी भिन्न-भिन्न है । जैसे देखना, अवलोकना, निहारना आदिक । सामान्यतया इनके एक ही मतलब हैं, लेकिन इनमे अन्तर है । जब शब्द न्यारे-न्यारे हैं तो सूक्ष्म दृष्टिसे इनका अर्थ भी न्यारा-न्यारा है, देखना - यह सामान्य है, अवलोकना—कुछ परीक्षणसा करता हुआ देखना, इसको अवलोकना कहते हैं । निहारना—बहुतसी मिली हुई चीजोमे किसी चिन्ह विशेषके द्वारा किसी वस्तुको छाटकर देखना इसको निहारना कहते हैं । जितने शब्द हैं उतने ही भिन्न-भिन्न अर्थ हैं । ऐसा समभिरूढनयका विषय है ।

समभिरूढनयसे एवभूतनयकी सूक्ष्मविषयता—अब समभिरूढनयके बाद सूक्ष्म विषय है एवभूतनयका एव माने इस प्रकारके विवक्षित क्रियाके परिणमन रूपसे जो परिणत पदार्थ हो, उसे जो बताये उसे एवभूतनय कहते हैं । जैसे समाभिरूढने इन्द्रका अर्थ ऐश्वर्यशाली कहा । शक्रका अर्थ शक्तिशाली कहा । लेकिन एवभूतनय यह कहता है कि जब वह ऐश्वर्यके समारोहमे लगा हो तब वह इन्द्र है । जब वह अपनी शक्तिबल प्रयोगमे लगा हो तब वह शक्र है । जैसे एक ही पुरुषका मुनीम और पुजारी इन दोनो शब्दोसे कहते हैं तो वह एवभूतनयका विषय नही है । यह ऋजु-नयमे तो आ जायगा । जैसे शक्र शब्द कहा तो समभिरूढनयकी दृष्टिमें वह इन्द्रशक्ति प्रयोगकी क्रियामे लगा हो तो न लगा हो तो देवोका जो राजा है शक्र, उस अर्थको बता देगा, यह है शक्र । अथवा जैसे पशु गाय गमन क्रियामे लगी हो तब, न लगी हो तब अर्थात् गाय चल रही हो तब भी गाय है समभिरूढनयकी दृष्टिमे, न चल रही हो तब भी गाय है, क्योकि उस प्रकारकी उसमें रूढि है । लेकिन एव अभिभूतनय तो जिस समय चल रही हो गाय उस समय गाय कहेंगे । ऐसे ही जब शक्र जब अपनी शक्तिक्रियाके प्रयोजनमे लगा हो, व्यवस्थामें शक्ति प्रदर्शन कर रहा हो जब वह शक्ति क्रियाके प्रदशनमे लगा हो तो उसे शक्र कहेंगे एवभूतनयसे । जब वह पूजन कर रहा हो इन्द्र तो उसको शक्र न कहेंगे, क्योकि पूजनमे शक्तिप्रयोगका काम नही, वहाँ तो प्रभुभक्तिका काम है । एवंभूतनयकी दृष्टिकी अपेक्षा करके भी यदि अन्य कार्यमें लगे

हुएको अन्य शब्दसे बोल दिया जाय तो जैसे इन्द्र पूजन, तो कर रहा है इस समय उसे शक्र शब्दसे बोल दिया जाय तो अब इसका अर्थ यह हो गया कि कोईसा भी अर्थ हो, कोई सा भी शब्द बोल दे। कर तो रहा है वह पूजन, मगर बोल रहे हैं हम शक्र तो इसको बढ़ा करके ऐसा भी कहा जा सकता कि कोई कर तो रहा नमस्कार, किंतु यह नमस्कार करते हुए पुरुषमें रसोइयापन आ जाय। जैसे वही पुरुष पाचक है, वही पुरुष पूजक है तो जब वह पूजन कर रहा है तो उसमें पाचकत्व आ जाय याने रसोई पकानेकी बात बन जाय, यह प्रसंग इतना ही दोष नहीं दे रहा कि उसे जिस समय पूजा कर रहा है उस समय पाचक कहदे, यह भी दोष है, लेकिन इससे बढ़कर दोष यह कहा जा रहा है कि काम तो कर रहा है नमस्कारका और बात बन जाय पाचकत्वकी, तो एवंभूतनय न माना जाय तो व्यवहार बिगड़ जायगा।

एवंभूतनयकी उपयोगिता—इस प्रसंगमें जब ऋजुसूत्रनयका लक्षण किया जारहा था कि ऋजुसूत्रनय केवल वर्तमान एक क्षणकी पर्यायको ग्रहण करता है तो वहाँ प्रश्न यह किया गया कि द्रव्यको तो ऋजुसूत्रनय ग्रहण करता नहीं और भूत भविष्य पर्यायको भी ग्रहण नहीं करता, तब लोकव्यवहार केवल वर्तमान क्षणमात्रकी पर्यायको ग्रहण करनेसे हो नहीं सकता। जब द्रव्यदृष्टि भी हो, भूत भविष्यकी पर्यायों पर भी निगाह हो तब व्यवहार बन सकेगा। तो शंका यह उठाई गई थी कि वर्तमान पर्यायमात्रको ऋजुसूत्रनयका विषय मान लेनेपर फिर तो व्यवहारका लोप हो जायगा तो उत्तर यह दिया था उस ऋजुसूत्रनयका क्या विषय है ? वह यहाँ बताया जा रहा है। चाहे व्यवहारनयका लोप होता हो तो होओ, किन्तु विषयमात्र प्रदर्शित किया जा रहा है, साथ ही यह भी तो जानना चाहिये कि व्यवहार समस्त नयोंके द्वारा साध्य है। केवल एक हठसे व्यवहार नहीं बनता। जब सब नयों द्वारा व्यवहार साध्य है तब जिनसे व्यवहार नहीं बन रहेकी शंका की गई किसी दृष्टिमें, उन नयोंकी भी व्यवहारमें उपयोगिता है। तब देखिये ना, कि एवंभूतनय यह कहता है कि जिस शब्दका जो अर्थ है उस क्रियामें वह परिणति कर रहा हो तब उसे उस शब्दसे बोलें, अगर कामके विरुद्ध बोलेंगे तो कर रहा है कुछ काम और बन बैठेगा कुछ काम। इस कारण एवंभूतनय, समभिरूढ़नय सामान्यके विषयको भी सूक्ष्म विषयसे ग्रहण करता है।

एवंभूतनयके अभिप्रायमें सभी शब्दोंमें अक्रियाशब्दत्वका अभाव—अब एवंभूतनयके सम्बन्धमें एक विशेष बातपर और विचार किया जा रहा है। एवंभूतनयके अभिप्रायसे दुनियाका कोई शब्द ऐसा नहीं जिस शब्दमें क्रिया न भरी हो। कोई भी अक्रिया शब्द नहीं है एवंभूतनयकी दृष्टिसे। सब शब्दोंका निर्माण है व्याकरणके अनुसार धातुसे निर्माण हुआ है सभी शब्दोंका। अंग्रेजीमें कुछ शब्द तो ऐसे होवेंगे कि जिन शब्दोंकी जड़-धातु नहीं है प्राय. वहाँ भी धातुसे, उत्पन्न हुए शब्द हैं। जैसे Reccive़r आदिक शब्द हैं जहाँ धातुमें प्रत्यय लगा देनेसे शब्द बन जाते हैं।

किन्तु संस्कृतमें कोई शब्द ऐसा न मिलेगा जो शब्द धातुसे न बना हो। जैसे बोला गौ तो गौमे भी क्रियाकी धुन है जो चले सो गौ, जो जाये सो गौ। अश्वका अर्थ है घाडा। अश्वका अर्थ जो बहुत तेज चले। शुक्ल मायने सफेद। अब कुछ लोग सोच सकते हैं कि इसमे कौन सी धातु है। और, इसमे कौन सी क्रिया की ? तो शुक्लका अर्थ है शुचिभवनात् शुक्ल, जो पवित्र, स्वच्छ होवे उसे शुक्ल कहते हैं। तो इसमे भी क्रिया आ गई। नीला शब्द यह स्वय क्रियाभूत है नीलन सम्बधसे नील बना। जिसे हम नील रग कहते हैं उस रूप अपना रूप रखनसे नील है। क्रिया इसमे भी आ गई। कोई पूछे कि किसीका नाम देवदत्त रख दिया तो इसमें कौन सी क्रिया आ गई ? तो इसमे भी क्रिया है। देव जिसको देवे उसे देवदत्त कहते हैं। यज्ञदत्त कहा तो इसमें कौनसी क्रिया है ? यज्ञमें जिसे दिया जाय उसे यज्ञदत्त कहते है। घट कहा तो घट मायने घडा, इसमे कौनसी क्रिया है ? घटनात् घट घटन क्रियासे जो होवे उसे घट कहते है। कुम्हार चाकपर मृतपिण्ड रखता है और उसे फिर घडता है। कमडल कहा इसमे कौन सी क्रिया ध्वनित है ? क मडले यस्मि न् इति कमडलु, क मायने जल, जिसमे जल बडी शोभारूपसे रहे उसे कमडलु कहते हैं। चौकी कहा तो इसमें कौनसी क्रिया ध्वनित हुई ? जो चार कोनो रूपसे वर्तन करे उसे चौकी कहते हैं। प्रत्येक शब्द मे क्रिया पडी हुई है। एव भूतनयइस बातपर दृष्टि दिलाता है कि हम किसी शब्दको तब बोलें जब उस शब्दका नाम उस पदार्थ हो रहा हो। इसी प्रकार सयोगी द्रव्य और समवायी द्रव्य शब्द यह भी क्रिया शब्द है। जैसे किसीने कहा दडी तो दडीका अर्थ है डडा वाला। कोई पूछे कि दडी शब्दमे कौन सी क्रिया ध्वनित हो रही है तो सुनो ! जिसके पास डडा उसे डडी कहते हैं। है खुद एक किया है, एक विशेषणको "है' से जोड करके दडी बनाया तो इसमे भी क्रिया शब्द है। विषाणी—विषाण कहते हैं सीगको और विषाणी कहते हैं सीग वालेको। तो विषाणीमे कौन सी क्रिया ध्वनित हुई ? विषाण जिसके हो उसे विषाणी कहते हैं।

स्वेच्छसम्बन्धवाचक शब्दकी व्यवहार मात्रसे प्रवृत्ति होनेके कारण क्रियाशब्दत्व अन्वेषणकी शब्दोमे अनुद्भूति—कुछ शब्द ऐसे हैं कि जाति गुण क्रिया आदिकका प्रयोजन रखकर सम्बन्ध बनाने वाले शब्द हैं व परिणति व्यवहार मात्रसे है निश्चयसे नही है। इसका उदाहरण ऐसा है कि जिस रूढिमे जितने गालियो के शब्द है वे सब प्रससावाचक हैं। जो शुद्ध गाली है अर्थात् एक शब्द वाली गाली है उसका अर्थ उत्तम निकलेगा। लेकिन काई दो चार शब्द बोलकर मां बहिन आदिके नाम देकर गाली दे तो वह सही गाली नही है जो एक शब्द वाली गाली है उसमे अर्थ उत्तम निकलेगा। पहिले तो गाली शब्दका ही अर्थ समझ लीजिए। गाली, इसने मेरी कीर्ति गाली। तो गाली कहते हैं प्रशसा करनेकी घटनाको। जब गाली शब्दका स्वय अर्थ प्रशसा है तब फिर जिन शब्दोके द्वारा गाली दी जाती है वह क्यो न ऊँचा शब्द होगा ? जैसे किसीने कहा उचक्का। तो इसमे शुद्ध शब्द है उचक्का जो सबसे

ऊँचा पुरुष हो उसे उचक्का कहते हैं। पुंगा—पुंगव शब्दसे बना, जो श्रेष्ठ हो उसे पुंगा कहते हैं। तो जो मिला जुला करके गालीके शब्द हैं वे तो केवल व्यवहार मात्र हैं और जो मूलभूत हैं वे समझिये निश्चयसे गाली हैं यहाँ निश्चय और व्यवहारका अर्थ है Pure और Ompure तो ऐसे शब्द पच्चथी आदिक हैं जो व्यवहार मात्रसे उन सबकी प्रवृत्ति है, निश्चयसे उनकी प्रवृत्ति नहीं है।

नयोमे सम्यक्त्व और मिथ्यात्वका कथन तथा अर्थनय व शब्दनयका विभाग—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र शब्दनय समभिरूढनय एवंभूतनय अगर ये सापेक्ष हो अन्य नयोके विषयकी अपेक्षा रखते हों, तो समीचीन है। परस्पर नयोंकी अपेक्षा न रखें ये नय तो ये मिथ्या हैं। नयोंमें एकमें दो नहीं समा सकते। जिस नयकी दृष्टिमें जो बात है उस दृष्टिमें वही दृष्ट है, लेकिन उस दृष्टिको जो पुरुष कर रहा है उस पुरुषके आशयमें यदि अन्य नयोकी अपेक्षा है तो यह नय सम्यक है, सही है और एक दूसरेकी अपेक्षा नहीं करता है तो यह नय मिथ्यानय है। तो इन चार नयोंमें ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढनय और एवंभूतनय। इनमें पर्यायका अवलोकन प्रधान है और नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय इनमें द्रव्यका अवलोकन प्रधान है, किन्तु अर्थके नातेसे नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय, और ऋजुसूत्रनय ये चार नय एक ओर है और शब्दके नाते शब्दनय समभिरूढनय एवंभूत नय ये एक ओर है नैगमनयसे ऋजुसूत्रनय पर्यन्त नय किसी अर्थको विषय करते हैं इनमें शब्दकी प्रधानता नहीं है इसलिए वे चार अर्थनय कहलाते हैं। और, शब्द समभिरूढ एवं भूतनय इनमें शब्दकी प्रधानता है इस कारणसे ये शब्दनय कहलाते हैं।

नयोंकी प्रकारपद्धतिका विशेष वर्णन—अब एक दृष्टि यह है कि नयोंके प्रयोग उपयोग तीन प्रकारमें होते हैं—ज्ञान अर्थ और शब्द जैसे चौकी कहा तो चौकीमें तीन बातें आ गयी ज्ञान चौकी, अर्थ चौकी और शब्द चौकी। शब्द चौकी तो चौकी ऐसे दो शब्द बोला या लिखा वह है शब्द चौकी, और जिसपर बैठे या पुस्तक आदि रखें, वह है अर्थ चौकी, और अर्थ चौकीके बारेमें जो भीतरमें ज्ञान झलका, जो विकल्प हुआ वह है ज्ञान चौकी। जैसे पुत्र तीन प्रकारके हैं—ज्ञान पुत्र अर्थ पुत्र और शब्द पुत्र पु और त्र ऐसा दो शब्द लिख दिया अथवा बोल दिया तो वह है शब्द पुत्र। और, जो दो हाथ, दो पैर वाला पुत्र है, वह है अर्थ पुत्र, और उस अर्थ पुत्रके विषयमें जो ज्ञान होता है, जो विकल्प बनते हैं वह है ज्ञान पुत्र। अब यहाँ कोई पूछे कि तुम शब्द पुत्रसे राग करते हो या अर्थ पुत्रसे या ज्ञानपुत्रसे तो इसका सही उत्तर क्या होगा? ज्ञान पुत्रसे हम राग करते हैं शब्दपुत्रसे तो कोई राग करता नहीं, अर्थ पुत्र भी बिल्कुल भिन्न पदार्थ है। तो उस पुत्र के बारेमें जो हम कल्पनायें करते हैं, वह ज्ञान पुत्र है। उससे हमारा राग चलता है। तो अब इन नयोंके बारेमें हम ये तीन नय कह दें। यद्यपि यहाँ उस ढङ्गसे प्रयोग नहीं किया गया, किन्तु उसका आशय लेकर भेद करें तो तीन

भेद करें — ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनय । इनमेंसे ज्ञाननय है सिर्फ नैगमनय। नैगमनय किसी पदार्थको नही विषय करता, सकल्पमें अर्थको ग्रहण करता है । इस कारण नैगमनय ज्ञाननय है। सग्रहनय, व्यवहारनय ऋजुसूत्रनय, इनमें किया पदार्थ को विषय अतएव ये तीन नय कहलायेंगे अर्थनय और शब्दनय, समभिरूढनय, एव भूतनय इनमे शब्दके बलपर काट पीटकी है, इनमे शब्दकी प्रधानता है, इस कारण ये कहलायेंगे शब्दनय। इस प्रकार ये ७ नय नैगमनय, सग्रहनय व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढनय, और एवभूतनय। इनको एक सामान्य आगम पद्धतिसे कहा गया है। इनको अध्यात्मपद्धतिमें ढाला जाय तो भेद पद्धतिकी दृष्टि लेकर जो नय होगा वह व्यवहारनय होगा । और अभेदपद्धतिका आश्रय लेकर जो नय बना वह निश्चयनय है। तो अध्यात्म दृष्टिमे भेद और अभेद पद्धतिके प्रकारसे भेद है और इस पद्धतिमे पूर्वनयके विषय किए हुएमे ही भेद करके सूक्ष्म विषयको ग्रहण करे इस पद्धति से भेद है। यो नयोमे तीन द्रव्यार्थिकनय हुए और चार पर्यायार्थिकनय हुए।

नयोकी बहुविषयता अल्पविषयता कारणभूतता व कार्यभूतताके निर्णयके प्रसगमे नैगमनय व सग्रहनयका पारस्परिक विवरण — नयोंका वर्णन करके अब यह पूछा जा रहा है कि इन नयोमे बहुत विषय वाला नय कौन है और अल्प विषय वाला नय कौन है ? और, उन नयोमे कारणभूत नय कौन है और कार्यभूत नय कौन है ? इस प्रश्न पर उत्तर देते हैं कि पहिले पहिलेका नय तो बहु विषय है और उसके आगे आगेका नय अल्प विषय है। इसी प्रकार पहिले पहिलेका नय तो कारणभूत है और आगे आगेका नय कार्यभूत है। इसका स्पष्ट भाव यह है कि नैगमनयका बहुत विषय है उससे अल्प है सग्रहनयका, उससे अल्प है व्यवहार नय का उससे अल्प है ऋजुसूत्रनयका उससे अल्प है शब्दनयका उससे अल्प है समभिरूढ़-नयका और सबसे अल्प है एवभूतनयका तो अब नैगम और सग्रहनय इनके विषयोंपर विचार करें। नैगमनयका विषय है कम। वैसे एकदम अधिक विचार करनेपर लगता ऐसा है कि सग्रहनयसे और बडा विषय किसका होगा? जिसने सबका सग्रह कर लिया किन्तु सग्रहनयसे बहुत विषय है नैगमनयका क्योकि सग्रहनय तो भाव अभाव दोनो को विषय करता है। नहीं भी वह है। भी वह जैसे कि सकल्प सत् पदार्थमे होता है वैसे सकल्प असत् पदार्थ में भी होता है। सत् पदार्थ तो विद्यमान वस्तु है उसमें भी सकल्प होता है और असत् अतीत अनागतकी वस्तु है जो वर्तमानमें नही है तो भूत भविष्य वाली चीज जो कि वर्तमानमें असत् है उसमें भी सकल्प होता है। सर्वथा असत्की बात नही कही जा रही, जो अप्रमेय है, असत् है, उसमे सकल्प हो यह नही कहा जा रहा किन्तु वर्तमानमें हो उसे कहते हैं सत्। वर्तमानमें नही है, अतीत में था, भविष्यमे होगा पर वर्तमानमें नहीं है उसे कहते हैं असत् तो जैसे सत् पदार्थमें सकल्प होता है उसी प्रकार असत् होनेपर भी सकल्प होता है, यह है नैगमनकी वा । तो अब स्पष्ट हुआ कि नैगमनय भाव और अभाव दोनोको विषय करता है, किन्तु

संग्रहनय नैगमनयसे अल्प विषय वाला है, क्योंकि [illegible] वाला है; क्योंकि संग्रहनय केवल सन्मात्र (सत्) को विषय करता है असत्को नहीं। इस संग्रहनयमें दृष्टि सत्के संग्रह करनेकी है। यह तो हुई नैगमनय और संग्रहनयके बीचके विषयकी बात अब कारण कार्यकी बात देखिये! नैगमनयपूर्वक संग्रह नय होता है। इस पद्धतिसे नैगमनय कारणभूत हुआ और संग्रहनय कारणभूत नहीं हुआ। कारणमेंसे कार्य निकाल ऐसी लोकरूढ़ि भी है। तो नैगमनयके विषयमेंसे ही संग्रहनय निकला तो संग्रहनय कार्यभूत हुआ नैगमनय कारणभूत हुआ।

संग्रहनय व व्यवहारनयमें तथा व्यवहारनय व ऋजुसूत्रनयमें कारण-कार्यभूतता व बह्वल्पविषयताका विवरण— अब संग्रहनय और व्यवहारनयके बीचकी बात सुनो! संग्रहनय सन्मात्रका ग्राहक है और व्यवहारनय सद्विशेषका ग्राहक है। संग्रहनयसे संगृहीत सत्के भेद करके उन भेदोंका ग्रहण करनेवाला है। इस कारण संग्रहनय तो हुआ बहुविषयक और व्यवहारनय हुआ अल्पविषयक। इसी प्रकार कार्य और कारणमें भी देख लो! संग्रहनय है कारणभूत और व्यवहारनय है कार्यभूत, क्योंकि संग्रहनयके विषयको ही कारण बनाकर उसका विधिपूर्वक भाग किया गया है तो विभजन हुआ कार्य और संग्रह था कारण। अब व्यवहारनय और ऋजुसूत्रनयके बीच इन दोनों प्रसंगोंकी बात देखिये व्यवहारनयमें तो तीन कालमें रहने वाले अर्थको विषय किया था, क्योंकि व्यवहारनयको अर्थात् वर्तमान परिणमनको निरखनेकी नहीं है। जैसे जीव यह हुआ संग्रहनयका विषय और जीवके दो भेद हैं—संसारी और मुक्त। तो व्यवहारनयसे संसारी व मुक्त जानो और संसारी कहते ही विकार पर्यायोंका समूह आ गया फिर भी व्यवहारनयके विषयभूत जीव विशेषको संसारी जीवको न कहकर एक संसारी जीवको ही ग्रहण किया। जो अतीत अनागत एवं विकार परिणामोंमें रहने वाला संसारी जीव है यह उसका निष्कर्ष हुआ। इसकी दृष्टि केवल वर्तमानपर नहीं टिक रही। तो तो व्यवहार तो हुआ त्रिकालवर्ती अर्थको विषय करने वाला और ऋजुसूत्रनय केवल वर्तमान परिणमनको विषय करता है। तो बहु विषय है व्यवहारनयका और ऋजुसूत्रनयका अल्प विषय है तथा ऋजुसूत्रनय व्यवहारकपूर्वक हुआ है इसलिये व्यवहारनय कारणभूत है और ऋजुसूत्रनय कार्यभूत है। जैसे किसी बातको विवेचनाका सिलसिला बनाते हैं तो जहाँसे सिलसिला उठाया गया तो हुआ कारणप्रसंग और जहाँ ठहरे हैं वह हुआ कार्य। तो ऋजुसूत्रनयमें जहाँ जिस पर्यायका बोधन कराया तो किस स्थलमें, किस आधारमें वह व्यवहारनयका विषय था। उसमेंसे सूक्ष्मका ग्रहण किया। तो यों व्यवहारनय कारणभूत हुआ और ऋजुसूत्रनय कार्यभूत हुआ।

ऋजुसूत्रनय व शब्दनयमें कारणकार्यभूतता व बह्वल्पविषयताका विवरण—अब ऋजुसूत्रनय और शब्दनयके बीचमें इन दो प्रसंगोंको देखिये। ऋजु

सूत्रनय लिङ्ग कारक, संख्या आदिकके भेदसे अर्थमें भेद नहीं कर रहा। इसके साम्रा-ज्यमें लिङ्ग कारक आदिक भेदसे अर्थको अभिन्न माना जा रहा था। यह तो ऋजुसूत्रनयका विषय है और शब्दनयके लिङ्ग कारक संख्या आदिकके भेदसे पदार्थमें भी भेद कर लिया तब ऋजुसूत्रनयसे शब्दनयका विषय सूक्ष्म हो गया, यों तो है ऋजुसूत्रनयके बहुविषयताकी बात और शब्दनयमें अल्पविषयपनेकी बात। अब कारणत्व व कार्यत्वकी बात देखिये। ऋजुसूत्रनय है कारणभूत और शब्दनय है कार्यभूत। ऋजुसूत्रनयने जिन पदार्थोंको देखा उनके वाचक जितने अन्य शब्द हैं लिङ्ग कारक आदिकके भेद वाले भी उनमेंसे अब और भेद किया तो ऋजुसूत्रनयपूर्वक ही शब्दनय बन सका। शब्दनय कहनेको चले तो उसका आधार ऋजुसूत्रनय है। उसमें ही और दृष्टि करके साधनभेद करके अर्थका भेद किया है तो ऋजुसूत्रनय हुआ कारणभूतनय और शब्दनय हुआ कार्यभूतनय।

शब्दनय व समभिरूढनयमें बह्वल्पविषयता व कारणकार्यभूतताका विवरण—अब शब्दनय और समभिरूढनयके बीचके प्रसंगको निरखें। शब्दनय पर्यायके भेदसे पदार्थमें भेद नहीं कर रहा था लिङ्ग कारक संख्या भेदसे तो भेद कर रहा था पर पर्याय शब्दके भेदसे अर्थमें भेद नहीं कर रहा, इसका तात्पर्य यह है कि जैसे कलत्र और भार्या ये दोनों शब्द स्त्रीके वाचक हैं। तो ऋजुसूत्रनय तो इन दोनों शब्दोंमें भी भेद नहीं कर रहा और शब्दनय इन दोनोंमें भेद कर लेता है, क्योंकि लिङ्ग भेद है। शब्दनयके अभिप्रायसे जैसे भार्या, स्त्री, महिला आदि जो केवल स्त्री लिङ्ग वाले ही शब्द हैं पर्यायवाची शब्द ये कहलाते हैं। जिसमें लिङ्गका फर्क न हो, कारक आदिकका अन्तर न हो और फिर हों अनेक शब्द तो वे पर्यायवाची शब्द सही रूपसे कहलाते हैं। शब्दनयकी दृष्टिमें तो शब्दनय पर्यायशब्दभेदसे अर्थमें भेद नहीं कर रहा, लेकिन समभिरूढनय शब्दपर्यायभेदसे अर्थमें भेद कर डालता है। तो एक तरहसे देखो तो एक दूसरेसे विपरीत विषय है, लेकिन यह विपरीतता स्थूल और सूक्ष्मकी अपेक्षा है। यों तो शब्दनय बहुविषय हुआ और समभिरूढनय अल्प विषय हुआ और कारण कार्यकी बात भी स्पष्ट है। शब्दनय है कारणभूतनय और समभिरूढनय, कार्यभूतनय, समभिरूढनयने पर्यायके अभेदक उन शब्दोंमें ही तो भेद करनेकी बात है इसलिये शब्दनयपूर्वक समभिरूढनय हुआ है। अतः शब्दनय कारणभूतनय है और समभिरूढनय कार्यभूतनय है।

समभिरूढनय व एवंभूतनयमें बह्वल्पविषयता व कारणकार्यभूतताका विवरण—अब समभिरूढनय और एवंभूतनयके प्रसंगको देखें। समभिरूढनय पर्याय शब्दभेदसे अर्थमें भेद तो कर रहा था मगर क्रियाभेदसे भेद नहीं कर रहा था। क्रियाभेद होनेपर भी अभिन्न अर्थको ही जान रहा था। जैसे गौका अर्थ

समभिरूढनयसे गाय है। तो गमनक्रियामें परिणत हो वह तब भी गौसमभिरूढ नयसे है और गमनक्रियामें परिणत नहीं है तब भी लोग उसे गौ कहते हैं। अब गौ शब्दके मौख्यमें एवभूतनय क्रियाके भेदसे अर्थभेद कर डालता है। जब जाती हो तब गौ, जब न जाती हो तब गौ नहीं। तो यो समभिरूढनयका विषय बड़ा हो गया और एवभूतनयका विषय अल्प हो गया। यों तो इन दोनों नयोमें बहु विषयकी और अल्प विषयकी बात है। अब कारणकार्यकी बात देखिये। एवभूतनय क्रियाके भेदसे अर्थमें भेद कर रहा है पर किस अर्थमें भेद कर रहा है जिसे समभिरूढनयने निर्णीत कर दिया, गौके मायने विशिष्ट पशु। यह तो समभिरूढनयसे तय किया गया कि गौ शब्दके अनेक अर्थ थे, उन अनेक अर्थोमेसे अन्य अर्थोंको त्यागकर केवल एक विशिष्ट पशुको ही गौ करार किया तो यह समभिरूढका विषय है। अब गौ शब्दसे जिस पदार्थका प्रतिपादन किया गया उस ही पदार्थमें तो एवभूतनय भेद कर रहा है कि गौका अर्थ है जाने वाला। तो जब जाये तब गौ, जब न जाय तो गौ नहीं, इस प्रकार समभिरूढनय पूर्वक ही एवभूतनय हो गया। अत समभिरूढनय है कारणभूत और एवभूतनय है यो कार्यभूत उत्तर है इन प्रश्नोका सब नयोमे कौनसा नय बहुविषय वाला है और कौनसा नय अल्पविषय वाला है कारणभूत है और कौनसा नय कार्यभूत है ?

एक विषयमे नयोके प्रवर्तनकी एक विशेषता—यहाँ जिज्ञासु प्रश्न करता है कि ये सब नय क्या एक विषयमे बिना विशेषताके सामान्यरूपसे प्रवर्तते हैं अथवा इनमें कोई विशेषता है? उत्तरमे कहते हैं कि इनमें यह विशेषता है कि जहाँ उत्तरोत्तर नय पदार्थके अशमे वर्तता है, लगता है, वहाँ पूर्व-पूर्व भी नय लगता ही है। जैसे कि सहस्रमें अर्थात् हजारमें अष्टशतीका याने ८०० का विरोध नहीं है। अर्थात् हजारमें अष्टशती याने ८०० समाया हुआ है। अथवा अष्टशतीमें पञ्चशती अविरोधके वर्तती है याने ८००मे ५०० समाया हुआ है। तो जैसे यहाँ उत्तरोत्तर सख्या पूर्व पूर्व सख्यामें अविरोधमें रहती हैं इसी प्रकार उत्तरोत्तर नयके प्रसगमें पूर्व पूर्व नय लगता ही है परन्तु जहां पर पूर्व पूर्व नय प्रवर्तित होते हैं। वहाँ उत्तरोत्तर नय नहीं लगता है जैसे कि ५००में ८०० की प्रवृत्ति नहीं है। यहा मात्र यह है कि उत्तरनय सूक्ष्म विषयको जानता है और पूर्वनय उस उत्तरनयके विशाल विषयको जानता है। अब जहाँ सूक्ष्म विषय जाना गया है वहाँ यह बात स्पष्ट घटित है कि वह किसी विशाल विषयका ही तो सक्षेप है। तो जहाँ सूक्ष्म विषय जाना गया वहाँ विशाल विषयको जानने वाला नय लगता ही है, क्योकि विशाल विषय दिये बिना सूक्ष्म विषयका बोध नहीं हो सकता। एक प्रसग दृष्टान्तमें ले लो कि जैसे सग्रहनयके विषयमें व्यवहारनय प्रवर्तित होता है व्यवहारनय जिस विषयको जान रहा है उसकी उत्पत्ति सग्रहनयके विषयके बाद हुई है, इसी प्रकार सर्व प्रसगोंमें समझिये कि उत्तरनय जहाँ लगता है वहाँ पूर्वनय लगता ही है। और जहाँ पूर्वनय लग रहा है अर्थात् विशाल विषयको ग्रहण करने वाला नय चल रहा है वहाँ उत्तरनय नहीं चल रहा। कोई पुरुष विशाल

विषय करने वाले पूर्वनयसे परिज्ञान करके बस जिज्ञासा आगे न रखे उत्तरनयकी वहाँ गुंजाइस ही नहीं है, लेकिन उत्तरनयकी उत्पत्ति पूर्वनयके परिचयके बिना नहीं हो सकती, इस कारण जहाँ उत्तरनय लग रहा है वहाँ पूर्वनय लगता ही है, किन्तु जहा पूर्वनय लग रहा है उस विषयमें उत्तरनयकी धुन नहीं है।

नय और प्रमाणके विषयप्रवर्तनके सम्बन्धमे विशेषता—अब नय और प्रमाणकी वृत्तिपर विचार करिये जैसे कि उत्तर सख्यामे पूर्व सख्याका अविरोध है और उत्तरनयमे पूर्वनयका अविरोध है इसी प्रकार जो नयका अर्थ है, विषय है अर्थात् वस्तु के अश मात्रक। जानने वाले नयका विषय वस्तुका कोई अश, उसको जो जान रहा है उस परिज्ञानमे उस नयके विषयमे प्रमाणकी वृत्तिका अविरोध है। प्रमाण जानता है अश सहित वस्तुको और नय जानता है वस्तुके अशमात्रको। तो वस्तुके अशमात्रका ज्ञान तभी सम्भव है जब प्रमाणसे उस वस्तुको जान रखा हो और नयके लक्षणमे कहा भी है कि प्रमाणसे जाने हुए पदार्थमे वस्तुके अश मात्रको जानना सो नय है। जहाँ नयका परिज्ञान किया जा रहा है वहाँ प्रमाणकी वृत्ति अवश्य है, लेकिन जहाँ प्रमाणका विषय जाना जा रहा है वहाँ वस्तुके अशमात्रको जानने वाले नयकी वृत्ति नहीं रहती, क्योंकि प्रमाण वस्तुको पूर्णतया जानने लगता है। अब उस समग्र विषयके परिचयमे वस्तुके अशमात्रकी कल्पना नहीं की जा रही है इस कारण प्रमाणके अर्थमे नयोकी वृत्ति तो नहीं है लेकिन जहाँ नयोकी वृत्ति है नयका विषय जाना जा रहा है तो वह तभी सम्यक्नय कहलायेगा जब कि प्रमाणका विषय उस ज्ञाताके ज्ञानमे है। तो नयके अर्थमे प्रमाणकी वृत्ति अविरुद्ध रूपसे रहती है। यह है नयोके एक विषयमें विशेषतामे प्रवर्तित होनेकी बात।

नयसप्तभगीकी प्रवृत्तिमें नैगम और सग्रहनय दृष्टिकृत विधिप्रतिषेध कल्पना—अब शकाकार कहता है कि जब यह अन्तर आया कि नयके विषयमें प्रमाण की वृत्ति चलती है पर प्रमाणके विषयमे नयकी वृत्ति नहीं चलती, तब फिर नय सप्त-भगीकी प्रवृत्ति कैसे चलेगी ? अर्थात् अब नयमे परस्पर विरुद्ध व अवक्तव्य आदिक अनेक भगोंकी प्रवृत्ति कैसे हो जायगी। उत्तरमे कहते हैं कि प्रत्येक पर्यायके प्रति किसी एक वस्तुमें अविरुद्ध रूपसे विधि और प्रतिषेधकी कल्पना करनेसे नयसप्तभगीकी प्रवृत्ति हो जायगी। उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि जैसे सकल्पमात्रको ग्रहण करने वाले नैगमनयका आश्रय करनेसे विधिकी कल्पना होती है अर्थात् नैगमनयमें जैसे यह विषय हुआ कि कोई पुरुष जगलमें लकडी लेनेके लिए जा रहा था और किसी ने पूछा कि कहाँ जा रहे हो ? तो वह कहता है कि प्रस्थ लेनेके लिए जा रहा हूँ। प्रस्थ होता है एक मापका बाँट। जैसे ५–६ किलो अनाज जहाँ समा जाय ऐसा एक काठका बर्तन उसे कहते हैं प्रस्थ। तो वहाँ प्रस्थ केवल कल्पनामात्र है। तो कल्पना-मात्ररूपसे जाना गया प्रस्थ वहाँ याने नैगमनयकी दृष्टिमे है, सो प्रस्थ स्यात् अस्ति

अर्थात् संकल्प मात्रमें समझा गया इस दृष्टिसे प्रस्थ है, लेकिन जब संग्रहनयका आश्रय किया जायगा तो वहाँ प्रतिषेध कल्पना बनेगी अर्थात् संकल्पमात्र प्रस्थ नहीं है संग्रहनयकी दृष्टि मे । नैगमनय सत् और असत् दोनोको विषय करता है, तो नैगमनयके अभिप्रायमें जिस प्रकारका पदार्थ है संग्रहनयके अभिप्रायमें पदार्थ उस प्रकार नहीं है, क्योंकि संग्रहनय सत्को ही विषय करता है । प्रस्थ वहाँ सत् है नहीं, क्योंकि संकल्प मात्र है तो अब यहाँ नयों नयोंके बीचमे स्यात् अस्ति और स्यात् नास्तिका प्रयोग बन गया। नैगमनयकी दृष्टिमें जो संकल्पमात्र है प्रस्थ, संग्रहनयकी दृष्टिमे वह नहीं है। संकल्पमात्र प्रस्थ केवल उपयोगमे कल्पनामें समाया हुआ वस्तु नैगमनयकी दृष्टिमें है पर संग्रहनयकी दृष्टिमें नहीं है । संग्रहनय सत्को ही विषय करता है। संग्रहनयकी दृष्टिमे प्रस्थ सन्मात्र होगा अर्थात् जो बनाये हुए प्रस्थ मापके बर्तन हैं, उन सबका संग्रहरूप जातिको प्रस्थ कहेंगे । जब कि नैगमनयमे एक कुछ लायें भी नहीं हैं, केवल संकल्प है कि हमे प्रस्थ बनाना है और उसके लिए लकड़ी लाना है, तो उसके चित्तमें अभीसे प्रस्थ स्यात् अस्ति है परन्तु संग्रहनयकी दृष्टिमें सन्मात्र प्रस्थकी प्रतीति होती है और संग्रहनयकी दृष्टिमें असत् संकल्प मात्र प्रस्थकी प्रतीतिका विरोध है। जैसे आकाश पुष्प असत् हैं, आकाशका कोई फूल नहीं होता । तो आकाश फूल संग्रहनयकी दृष्टिमें नहीं है । किसका संग्रह करे । जब कुछ है ही नहीं तो संग्रह किसका किया जाय ? सो यहाँ वह प्रस्थ आदिक संकल्पमात्र नैगमनयसे है और संग्रहनयसे नहीं है। इस प्रकार एक ही वस्तुमें दो भंगोंका अविरोध हुआ ।

व्यवहारनयकी दृष्टिमे पूर्वनयके विषयकी प्रतिषेधकल्पना—नयसप्तभंगीके विषयमे अब आगे चलो । जब व्यवहारनयका आश्रय किया जाता है तो द्रव्यमें अथवा पर्यायमें प्रस्थकी प्रतीति होती है । अब यहाँ संग्रहनय और व्यवहारनयके मुकाबलेमे स्यात् अस्ति और नास्तिकी बात कही जा रही है। संग्रहनयने सन्मात्र प्रस्थको ग्रहण किया था, व्यक्तिरूप प्रस्थको नहीं । संग्रहनयने जितने भी प्रस्थ हो लें उन सारे प्रस्थोका संग्रह हो जाय ऐसी प्रस्थ जातिका संग्रह किया था, लेकिन ऐसे जातिमात्र रूपसे सन्मात्र प्रस्थका परिचय संग्रहनयकी दृष्टिमें है, पर व्यवहारनयकी दृष्टिमें नहीं, क्योंकि व्यवहारनय प्रस्थको द्रव्यरूप या पर्यायरूपसे ग्रहण करता है। तो जब संग्रहनयका आश्रय करके सन्मात्र प्रस्थका अस्तित्व जाना तब व्यवहारनयका आश्रय करके उस सन्मात्र प्रस्थको प्रतिषेध किया गया । अथवा उस नैगमनयके मुकाबलेमें व्यवहारनयकी बात रखकर परिचय किया जा रहा है। नैगमनयकी दृष्टिमें संकल्पमात्र प्रस्थ है तो व्यवहारनयकी दृष्टिमें संकल्पमात्र प्रस्थका अस्तित्व नहीं है किन्तु द्रव्यरूप अथवा पर्यायरूपका अस्तित्व है, क्योंकि व्यवहारनयसे विपरीत, अर्थात् द्रव्यरूप या पर्यायरूप व्यक्तिरूपको ग्रहण करने वाले व्यवहारनयसे विपरीत विषय है नैगमनयका और वह व्यवहारनयकी दृष्टिमें असत् है । उस असत्का या संग्रहनयके द्वारा सन्मात्ररूपसे जाने गए प्रस्थका अनुभव नहीं किया जा सकता है ।

पूर्वनयोके विषयकी ऋजुसूत्रनयदृष्टिसे प्रतिषेधकल्पना—अब और आगे चलें तो ऋजुसूत्रनयका आश्रय करनेसे पर्यायमात्र प्रस्थ हीकी प्रस्थरूपसे प्रतीति होती है। तो नैगमनयसे सकल्पमात्रका ग्रहण किया था उसकी दृष्टिमे सकल्पमात्र प्रस्थ है, किन्तु ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमे वह नही है और सग्रहनयसे भी विषय किए गए प्रस्थका अस्तित्व भी ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमे नही है। व्यवहारनयके द्वारा विषय किए गए प्रस्थकी भी सत्ता ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमे नही है, क्योकि पर्यायमात्र प्रस्थ निगाहमे न हो तो ऋजुसूत्रनयका वह विषय ही नहीं बन सकता है। तो इन नयोके विषयमे यह घटित हो रहा है कि वही एक वस्तु धर्म स्यात अस्ति स्यात नास्तिरूप है नयोकी दृष्टिमे। नैगमनयकी दृष्टिमे जिसरूप प्रस्थ है उसरूप प्रस्थ ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमे नही है, अन्य नयोकी दृष्टिमे नही है।

शब्दनयोकी दृष्टियोका नयसप्तभगीमे सहयोग—अब इससे आगे और बढो, वह सकल्पमात्र प्रस्थ अथवा अब तकके नैगमसंग्रह व्यवहार ऋजुसूत्रनयके विषयमे आया हुआ प्रस्थ उन नयोकी दृष्टिमें है तो शब्दनयकी दृष्टिमे वह नही है, क्योकि शब्दनयका आश्रय करनेमे काल आदिकसे भिन्न अर्थमे प्रस्थपना बनता है अर्थात् ऋजुसूत्रनय तो कालभेदसे भेद ग्रहण नही करता था और शब्दनय काल आदि भेदोसे पदार्थमे भेद ग्रहण करता है तो ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमे काल आदिक भेदोसे भेदको न प्राप्त हुआ अर्थस्वरूप पर्यायमात्र प्रस्थ ग्रहणमे आ रहा था, लेकिन शब्दनय की दृष्टिमे शब्द प्रधानताके कारण काल आदिक भेदोसे भिन्न हुए अर्थमे प्रस्थपना है, तब उस ही पूर्वनयके विषय किये गए पदार्थका शब्दनयकी दृष्टिसे प्रतिषेध हो गया है। यदि कालभेदसे पदार्थमें भेद न माना जाय तो पट आदिकमें भी प्रस्थकी कल्पना हो बैठेगी। इससे पूर्वनयोके द्वारा विषयभूत हुआ प्रस्थ शब्दनयकी दृष्टिमे नही है। अथवा इन पूर्वनयोके द्वारा विषय किया गया प्रस्थ समभिरूढनयका आश्रय करनेपर नही है। समभिरूढनयकी दृष्टिमे पर्यायभेदसे भिन्न हुए अर्थमे प्रस्थपनेका परिचय होता है और समभिरूढनयका विषय भी अपनी सीमामे यथार्थ है। अथवा और आगे चलो तो इन सब पूर्वनयोके द्वारा विषय किया गया प्रस्थ अथवा नैगमनयके द्वारा विषय किया गया सकल्पमात्र प्रस्थ एवभूतनयकी दृष्टिसे नही है। एवभूतनयकी दृष्टिमे उस ही प्रस्थमे प्रस्थपना माना जायगा कि जो माप रहा हो, जो प्रयोगमे आ रहा हो, अनाज जब नापा जा रहा हो तो उस प्रस्थकी क्रियामे परिणत हुए प्रस्थको ही प्रस्थ कहा जायगा। तो एवभूतनयकी दृष्टिसे उसका नास्तित्व है। इस प्रकार एक ही प्रस्थ नामक वस्तुमे भिन्न-भिन्न नयोकी दृष्टिसे अस्तित्व और नास्तित्व घटित होते हैं।

नयसप्तभगीमे सयोगी भगोका गठन—नयसप्तभगीमे जैसे कि पहिले दो भग घटित हुए हैं इन दोनो भगोकी एक साथ नही बोला जा सकता है इस कारणसे अवक्तव्य भग बनता है। इस तरह नय सप्तभगीके प्रसगमे ये तीन स्वतंत्र

भंग हुए अस्यस्यात् अस्ति अस्य स्यात् नास्ति, अस्यस्यात् अवक्तव्य । अब इन तीन भंगोंके संयोगवाली दृष्टिसे देखते हैं तो क्रमसे दो दृष्टियोंको लेकर तीन भंग और बनते हैं—अस्यस्यात् अस्तिनास्ति । अस्यस्यात् अस्ति अवक्तव्य, अस्यस्यात् नास्ति अवक्तव्य और, अब इन तीनों दृष्टियोंको एक साथ ग्रहण करते है और अब उन्हें क्रमसे विवक्षित करते हैं तो वहाँ ७ वाँ भंग उपस्थित होता है अस्य स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य । इस प्रकार तीन स्वतन्त्र, तीन दो के मिलकर और एक तीनोंका मिलकर ये ७ भंग एक विषयमें बनते हैं ।

प्रमाणसप्तभंगीकी विशेषता – अब शंकाकार कहता है कि नय सप्तभंगी का तो उदाहरण दे दिया गया है, पर अब यह बतलावो कि प्रमाण सप्तभंगीसे उस नय सप्तभंगीमें कोई विशेषता है क्या ? सप्तभंगी तो दोनों जगह लगी । ७ प्रकारके भंगकी कल्पना नयोंके सम्बन्धमें भी हुई और प्रमाणके सम्बन्धमें भी हुई । पर इन दोनों सप्तभंगियोंमें कोई अन्तर है अथवा नहीं ? उत्तरमें कहते हैं कि इसमें सकलादेश और विकलादेशकृत अन्तर है अर्थात् प्रमाणसप्तभंगीमें तो सम्पूर्ण वस्तुमात्रको ग्रहण करते हुए भंग बनता है और नय सप्तभंगीमें वस्तुके अंशमात्रको ग्रहण करता हुआ भंग बनता है । नय सप्तभंगी विकलादेश स्वभाव वाली है, क्योंकि नयसप्तभंगी वस्तुके अंशमात्रका निरूपण करती है । नयोंका विषय ही वस्तुके अंशमात्रका प्ररूपण करती है नयोंका विषय ही वस्तुके अंशमात्रका कथन करना है तो अब नयोंके प्रसंगमें सप्तभंगी की जायगी अर्थात् ७ प्रकारसे परिचय किया जायगा तो वह सारा परिचय भी वस्तुके अंशमात्रका कथन करने वाला होगा, परन्तु प्रमाण सप्तभंगी सकलादेशस्वभाव वाली है अर्थात् प्रमाणका विषय समस्त वस्तुओंको ग्रहण करनेका है । तो सम्पूर्ण वस्तुओंका ग्रहण करने वाले प्रमाणके प्रसंगमें जब उसका भंग लगाया जायगा तो उसमें भी ये सबके सब सम्पूर्ण वस्तुओंको ग्रहण करने वाले होंगे ।

उदाहरणपूर्वक प्रमाणसप्तभंगीकी विशेषताका विवरण—जैसे कि एक जीव वस्तुके विषयमें प्रमाणसप्तभंगी घटित किया जाय तो यों घटित होंगे । जीव अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे है तो जीव वस्तु स्वचतुष्टयसे स्यात् अस्ति और वही जीव वस्तु परद्रव्यके क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे स्यात्नास्ति, तो यहाँपर उस जीवको ही पूरेको लक्ष्यमें लेकर पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी दृष्टि करके उसका नास्तित्व कहा गया है । वही जीव वस्तु स्वचतुष्टयसे है और वही जीव वस्तु-परचतुष्टयसे नहीं है । प्रमाण प्रसंगमें ऐसे दो भंग बननेपर इन दोनोंको एक साथ कहना चाहिए । जब एक वस्तुके सम्बन्धमें दो दृष्टियोंसे अस्तित्व और नास्तित्व जाना गया है तो वस्तुकी समग्रता तो वही हुई अर्थात् पूरा परिचय अस्तित्व और नास्तित्वसे जाना गया । अब उसको एक साथ ही समझाना चाहिये । तो जब उसे एक साथ कथन करनेका प्रयास करते हैं तो वह कथन हो नहीं पाता । एक समयमें

इन दोनो अपेक्षाओंका वक्तव्य नहीं हो सकता, इस कारण यह जीव वक्तव्य है। इस तरह जीव परवस्तुके सम्बन्धमे तीन स्वतन्त्र भग हुए जीव स्यात् अस्तित्व, जीव स्यात् नास्ति, जीव स्यात् अवक्तव्य। अब ये तीन स्वतन्त्र दृष्टियाँ हुई। इन्हें क्रमसे विवक्षित करके जब प्रयोगमें लायेंगे तो दो-दो भगोके सयोग बनेंगे, तीन और तीन स्वतन्त्र भगोका सयोग बनेगा एक। तब ये सयोगी चार भग इस प्रकार होगे कि जीव स्यात् अस्ति नास्ति, जीव स्यात् अस्ति अवक्तव्य जीव स्यात् नास्ति अवक्तव्य, जीव स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य, तो उस जीवको पूर्णरूपसे ग्रहण कर करके इनकी अपेक्षा भेदोंसे अस्तित्व नास्तित्वको प्रमाण जाने तो यह प्रमाण सप्तभगी कहलाया। समग्र वस्तुको विषय करते हुए भग कल्पनायें बनाना उसे कहते है प्रमाण सप्तभगी। और, वस्तुके अशमात्रको ग्रहण करने वाले नयोकी अपेक्षासे अस्तित्व नास्तित्वके विधिप्रतिषेधकी कल्पनायें बनाना उसे कहते हैं नयसप्तभगी। तो प्रमाण सप्तभगीमे नयसप्तभगीमे यह अन्तर है कि प्रमाण सप्तभगी तो सकलादेश स्वभाव वाली है और नय सप्तभगी विकलादेश स्वभाव वाली है इस प्रकार जैसे नयोंमे सप्तभगी घटित की गई थी इसी प्रकार प्रमाणमे भी यह सप्तभगी घटित होती है।

नयवाक्य और प्रमाणवाक्यमे सात ही भग होनेके नियमसे कारणका

प्रश्न —यहाँ जिज्ञासु प्रश्न करता है कि नय वाक्य और प्रमाण वाक्यमें ७ ही भग क्यों सम्भव होते हैं। जैसे प्रमाणके विषयमे सप्तभग कहे है उसी प्रकार नयके विषय मे भी सप्तभग कहे हैं। जब किसी एक वस्तुको पूरा विषय करके कोई धर्म बताया जाता है तब तो प्रमाण सप्तभगी होती कही है और जब किसी वस्तुके अशमात्रको लक्ष्य मे लेकर धर्म बताया जाता है तब नयसप्तभगी कही है। नयसप्तभगीमे जैसे नैगमनयके विषयको लक्ष्यमे लेकर अस्ति भग बनाया तो वही सग्रहनयकी दृष्टिमे नास्ति है अन्य सब नयोंकी दृष्टिमे नास्ति है। जैसे नैगमनयका विषय है कि कोई पुरुष रसोई घरमें लकडी जला रहा है और पूछनेपर वह उत्तर देता है कि रोटी बना रहे हैं तो रोटी सकल्पमात्र है, सत् नही है असत् है। तो सकल्पमात्र रोटी नैगमनयकी दृष्टिमे अस्ति है तो सग्रहनय और अन्य नयोकी दृष्टिमे सकल्पमात्र रोटी नास्ति है फिर अवक्तव्य और सयोगी भग होकर नयके विषयम ७ भग होते हैं। प्रमाणके विषयमे [पूरे जीव को लक्ष्यमे लेकर जीव स्वचतुष्टयसे है पर चतुष्टयसे नहीं है। एक साथ न कहा जा सकनेसे अवक्तव्य है फिर जहाँ तीन स्वतत्र भग हुए कि चार सयोगी भग और होगे। इस तरह नयवाक्यमें सप्तभग कहे हैं और प्रमाण वाक्यमें जो ७ भग कहे हैं, तो जिज्ञासुका प्रश्न है कि ७ ही भंग क्यो सम्भव है ?

नयवाक्यमे व प्रमाणवाक्यमे सात ही भग होनेके कारणका प्रतिपादन

उक्त प्रश्नके उत्तरमें कहते है कि जिसे समझाना है ऐसे शिष्यके प्रश्न ७ प्रकारके ही सम्भव हो सकते हैं; जिज्ञासायें ७ प्रकारकी होती उनके समाधानमे ये ७ भग बनते

है। प्रश्नके वशसे ही सप्तभंगीका नियम बनता है? अब जिज्ञासु पूछता है कि ७ प्रकारके ही प्रश्न क्यों होते हैं? उत्तरमें कहते हैं कि जिज्ञासा ७ प्रकारकी ही सम्भव हो सकती है। अनेकान्तके विषयमें जिज्ञासु शिष्य जाननेकी इच्छा करेगा, तो उसके ७ प्रकारसे ही प्रश्न हो सकेंगे जाननेकी इच्छा हो सकेगी। यदि पूछो कि जिज्ञासा भी ७ प्रकारकी ही क्यों होती है? तो उत्तर यह है कि ७ प्रकारसे ही संशय हो सकते हैं। जिज्ञासा हुआ करती है उस तत्त्वकी जिसका संशय सम्भव है? चाहे संशय न हो रहा हो पर जितने प्रकारोंमें संशय सम्भव है उतने ही प्रकारोंमें जिज्ञासा हुआ करती है। यदि पूछा जाय कि संशय भी ७ ही प्रकारसे क्यों होता है? तो उसका समाधान यह है कि संशयके विषयभूत वस्तु धर्म ७ ही प्रकारसे हो सकते हैं।

सप्तभङ्ग होनेका स्पष्टीकरण इस ही सप्तभंगके सम्बन्धमें स्पष्टीकरण करते हैं कि जैसे सर्वप्रथम किसी भी वस्तुधर्मका सत्त्व माननेपर अस्ति पहिले ही मानना होता है। जैसे जीव स्वरूप चतुष्टयसे है तो जीवका सत्त्व यह जीवका धर्म है इस प्रसंगमें यदि जीवका सत्त्व नहीं माना जाय, पहिला भंग नहीं माना जाय, स्वरूप चतुष्टयसे जीव है ऐसा न माननेपर जीव पदार्थमें वस्तुता ही नहीं ठहर सकेगा जीव है यह नहीं माना, इसका अर्थ क्या हुआ कि जीव वस्तु न रही। जैसे कि खरगोशके सींग, उसमें सत्त्व नहीं है तो अर्थ यह है कि है ही नहीं, तो पहिला भंग हुआ सत्त्वका। सत्त्व न माननेपर वस्तुमें वस्तुत्व नहीं रह सकता है। दूसरा धर्म है असत्त्व। जीव परचतुष्टयसे असत् है। तो जीवका ऐसा कथंचित् असत्त्व जीवका धर्म है। जीवमें नास्तित्व तक आ रहा है पर चतुष्टयकी दृष्टिसे यदि असत्त्वको नहीं मानते हैं अर्थात् परचतुष्टयसे जीव नहीं है यदि यह धर्म न हो तो अर्थ क्या हुआ कि जीव परचतुष्टय से भी है तो जीवका वस्तुत्व नहीं रह सकता। तो जीवमें जैसे सत्त्व धर्म है, उसी तरह असत्त्वधर्म भी है। अगर असत्त्व धर्म नहीं माना जाता तो, जैसे स्वरूप चतुष्टयसे वस्तुसत्त्व है उसी तरह पररूपसे भी वस्तुसत्त्व हो जायगा। तब प्रतिनियत स्वरूप सम्भव ही न हो सका, क्या स्वरूप रहा? अपने स्वरूपसे है, परके स्वरूपसे है, सर्वात्मकरूपसे है, तो उसमें प्रतिनियत स्वरूप सम्भव न हो सका तो वस्तुका स्वरूप क्या बना, इससे दूसरा भंग मानना होगा। क्या जीव है? इसका उत्तर प्रथम भंगने दिया। क्या जीव नहीं है? इसका उत्तर द्वितीय भंगने दिया। हाँ, जीव नहीं है, कैसे जीव नहीं है? परचतुष्टयसे नहीं है। ये दो पहिले धर्म परिचित हो जानेपर फिर अब ये दो धर्म हैं, वस्तुमें तो इन्हें एक साथ भी बताना चाहिए कि पूर्ण रूप से यह वस्तु किस प्रकार है। तो एक साथ न बताया जा सकनेसे अवक्तव्य है। वस्तु पूर्णतया सब दृष्टियोंसे कैसी है ऐसा भी प्रश्न हो सकता है? उसका उत्तर दिया तृतीय भंगमें कि वस्तु अवक्तव्य है। फिर ये तीन होकर भी अब इन दृष्टियोंको क्रम से भी दृष्टिमें लाकर समझा जा सकता है तो उससे फिर चार संयोगी धर्म बनते हैं स्यात् अस्ति नास्ति स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य और तीनोंका संयोग,

करके बना स्यात अस्ति अस्ति नास्ति अवक्तव्य । ये ७ भग हैं ।

सयोगी भङ्गसहित सप्तभगकी सिद्धि—यदि ये सयोगसहित ७ भग न हो तो क्रमसे सत् और असत् सम्बन्धी शब्द विकल्पादिकका व्यवहार ही नही हो सकता । कोई ऐसी मनमे जिज्ञासा करें कि स्यात् अस्ति स्यात् नास्ति स्यात् अवक्तव्य ये तीन धर्म काफी हैं । अब सयोगी धर्म माननेकी क्या आवश्यकता है ? आवश्यकता क्या है इसम तत्व परिचय नही कराया जा रहा, किन्तु पुरुषोको जिज्ञासा होती है क्रमसे इन दृष्टियोको निरखकर वस्तुधम जाननेकी उसके समाधानमे ये चार सयोगी भङ्ग बन जाते हैं । यदि ये सयोगी भग न होते तो क्रमसे सत् असत् अवक्तव्य आदिक विकल्प व शब्द व्यवहार नही बनते जब ये भग वस्तुमे होते हैं तो यह शब्दव्यवहार बराबर चलना रहता है इससे सिद्ध है कि वस्तुमे ये ७ भग हैं । यह सयोगीभग विषयक शब्द व्यवहार निर्विषय नही है कि इसका कोई विषय न हो और शब्द व्यवहार थोथे चल रहे हो ऐसा नही होता, क्योकि वस्तुके जानने और वस्तुमें प्रवृत्ति और उसकी प्राप्तिका निश्चय होनेसे यह सयोगी भग भी एक वास्तविक विषय सिद्ध होता है । जैसे कि अस्ति नास्ति और अवक्तव्य विषयक ज्ञानसे प्रवृत्ति प्राप्ति और अर्थकाय होता है इसी प्रकार इससे भी उसके सम्ब धमे जानकारी होना, प्रवृत्ति होना, निर्णय होना ये सब पाये जाते हैं । इससे ७ प्रकारके सशय सम्भव हैं । अतएव ७ प्रकारकी जिज्ञासा है और ७ प्रकारकी जिज्ञासाके समाधानमे सप्तभग होते हैं । भैया, यह प्राकृतिक बात है कि कुछ भी बोला जाय कुछ भी विषय ज्ञानका बनाया जाय । धम किसी भी धर्मके जाननेके साथ ही उसमे सातो भग आ जाते हैं । अस्ति नास्ति से गुम्फित है । कुछ भी वस्तु है तो वह अपने प्रतिपक्षकी अपेक्षासे नही है, यह बात उसमे अपने आप पडी हुई है । जैसे यह चौकी है तो चौकी है इसके साथ ही अथवा इसके माननेपर इसकी अविनाभावी यह बात भी पडी है कि चौकीके सिवाय बाकी जितने पदाथ हैं वे पदार्थ यह नही है । यदि इन दोनो कामोंमेंसे किसी भी एक को न माना जाय तो वस्तुका स्वरूप नही बन सकता है ? इस प्रकार इस नय वाक्यमें और प्रमाण वाक्यमें ये ७ वाक्य सम्भव हुए ।

सयोगी भगमे सयुक्त भगका पुन सयोग माननेकी असंगतता—शकाकार कहता है कि प्रथम और द्वितीय धर्मकी तरह प्रथम और तृतीय आदिक धर्मोका क्रम से और युगपत् विवक्षा करनेपर अन्य धर्म भी सिद्ध हो बैठेंगे तो ७ प्रकारके धर्मोका नियम नही सिद्ध हो सकता । शकाकारका मतलब यह है कि जैसे प्रथम और द्वितीय धर्मसे मिलकर एक धर्म बनावा स्यात् अस्ति नास्ति, यह एक धर्म बन गया अब स्यात् अस्ति नास्ति और मिला दिया तो यह अन्य धर्म कैसे सिद्ध न होगा ? स्यात् अस्ति स्यात अस्ति नास्ति । इसी प्रकार प्रथम धर्मके साथ अन्य धर्म जोड दे, पञ्चम, षष्ठ, सप्तम जोड़ दे तो यो अनेक धर्मान्तर क्यो न होंगे जैसे ७ वां भग है स्यात अस्ति

नास्ति अवक्तव्य उसे अस्तिके साथ जोड़ दिया। एक ८ वाँ भंग यह भी बन बैठे स्यात् अस्ति अस्ति नास्ति अवक्तव्य, पूर्व प्रथममें और ८ वें आदि भंगको जोड़ दें, इस तरहसे अनेक भंग हो सकते हैं। फिर यह नियम कैसे रहा कि भंग ७ ही होंगे। उत्तर देते हैं कि क्रमसे विवक्षित प्रथम और तृतीय धर्मकी अन्य धर्मरूपसे प्रतीति नहीं होती, क्योंकि एकमें दो सत्त्वका होना असम्भव है। एक जीवके स्वरूपमें जैसे अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावस्वरूप है और पररूपसे भी सत्त्व हो जाय, ये दो बातें जैसे सम्भव नहीं हैं, इसी प्रकार ७ भंगोमेंसे अब किन्हीं भी दो भंगोंको जोड़ करके एक धर्म बनाया जाय यह सम्भव नहीं है। जैसे कि मनुष्य भवकी अपेक्षा अस्तित्व नास्तित्वकी बात करे तो यह मनुष्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे है और अन्य देव तिर्यंच आदिक स्वरूपसे नहीं है। अब ये स्वतंत्र धर्म हुए। स्वतन्त्र धर्मोंको मिला करके तो संयोगी धर्म बनाया जा सकता है पर संयोगी भंग बननेके बाद फिर स्वतन्त्रके साथ संयोगीको मिलाकर फिर अन्य धर्म बनाया जाय सो न बनेगा, क्योंकि संयोगी भंगमें वह स्वतन्त्र स्वयं सम्मिलित हो गया है। जैसे तीन वस्तु हैं—हर्र, बहेड़ा, आंवला, अब ये स्वतंत्र हैं इन्हें स्वतंत्र भी खाया जा सकता है और संयोगी बनाकर हर्र बहेड़ा हर्र आंवला, बहेड़ा आंवला, और हर्र बहेड़ा आंवला इस तरह चार संयोगी भंग भी हो जाते हैं। अब ये ७ प्रकार हो गए। अब इन सातोंमें कौनसी गुंजाइश रही कि सातोंमें किसी औरको मिलाकर भंग बनाया जाय। सातमें सब आ गए। कोई कहे कि हर्र और हर्र बहेड़ा इन दोनोंको मिला दिया जाय तो ये तो पहिले मिले हुए ही हैं। अब अन्य धर्म बनानेकी वहाँ आवश्यकता नहीं हो सकती। तो यों किसी भी वाक्यमें ७ भंग ही सम्भव हो सकते हैं अन्य नहीं हो सकते।

वचनके साथ ही सप्तभंगका अनुपदेश—कोई भी पुरुष दर्शनशास्त्रमें या व्यवहारमें कुछ भी बात बोले तो बोलनेके साथ ही उसमें सप्त प्रकारता बन जाती है। किसीने कहा कि इसका वचन सत्य है तो इसके साथ यह भी तो जुड़ा हुआ है कि इसके वचन असत्य नहीं हैं। यदि यह दूसरी बात जुड़ी हुई न हो तो इसका वचन सत्य है इसमें बल भी न रहेगा और यह स्वरूप ही न बनेगा। तो ये दो धर्म अविनाभावी हुए। अब इन दो धर्मोंको एक साथ समझनेकी दृष्टि भी होती है और फिर उनके प्रतिपादनके क्रमसे भी समझनेकी दृष्टि होती है। तो वहाँ ७ भंग बनेंगे। कोई पुरुष कुछ भी शब्द वचन बोले उस वचन बोलनेके साथ ही उसमें सप्त प्रकारता आ ही जाती है समझने वाले उसको समझा देते हैं दृष्टि बताकर और विवरण न समझने वाले नहीं समझा सकते लेकिन बात यदि प्रमाणीक है और किसी अल्पबुद्धिने भी शब्द बोला है तो उसे यदि अपने उस वचनमें दृढ़ता है तो अव्यक्तरूपसे उसके परिचयके ७ प्रकार सम्भव हैं और उस ही बलपर वह अपनी बातपर दृढ़ होता है। जैसे जीवके सम्बन्धमें कहा गया कि जीव नित्य है तो नित्य है का प्रतिपक्ष है अनित्य तो जीव नित्य है तो उसके साथ ही यह भी पड़ा है कि जीव अनित्य नहीं है, यह तो

एक दृष्टिकी अपेक्षा है प्रमाण सप्तभंगीमें जीव द्रव्यदृष्टिसे नित्य है तो जीव पर्याय-दृष्टिसे अनित्य है। दृष्टियाँ अलग अलग जुडती हैं और तब वचनमे सप्त प्रकारताकी बात आती है। तो इस प्रकार एक पर्यायदृष्टिसे भेददृष्टिसे जो कथन हुआ है उस कथनसे यह भी समझ लेना चाहिए कि उस तृतीय धर्मका क्रमसे अर्पित क्रमसे कहने की इच्छा किए जानेपर कोई अलग धर्म बन जाय, यह बात प्रतीतिमे नही आती है। अब यहाँ शकाकार कहता है कि यदि इस तरह दो भगोंका मिलकर एक भग नही बनाया जा सकता है तब फिर प्रथम और चतुर्थ भगका या द्वितीय और चतुर्थ भगका या तृतीय और चतुर्थ भगका मेल करनेपर फिर अन्य भग कैसे बना दिया? यहाँ इस प्रसगमें प्रथम धर्म तो "अस्ति" है, द्वितीय धर्म "नास्ति" है, तृतीय धर्म है "अस्ति नास्ति" तो अस्ति नास्तिका प्रथमके साथ मेल नही किया जा सकता, अर्थात् प्रथम और तृतीयको मिलाकर अन्य भग नहीं बनाया जा सकता। चतुर्थ भग दिया है यहा अवक्तव्य। अस्तिके साथ अवक्तव्यका सयोग कराया जा सकता है। द्वितीयके साथ चतुर्थ मिलाया जा सकता है। अस्तिके साथ अवक्तव्यका सयोग कराया जा सकता है। तृतीयके साथ भी चतुर्थ धर्म मिलाया जा सकता है। अस्ति, नास्ति, अवक्तव्य अब जब तीनो स्वतत्र धर्म एक बार मिल चुके हैं तब उनको मिलाकर अब नया धर्म नहीं बनाया जा सकता।

अवक्तव्यधर्मके साथ प्रथम, द्वितीय, तृतीय भगके सयोग होनेसे धर्मा-न्तरत्व होनेका कारण—अवक्तव्यके साथ ये सब धर्म क्यो मिल गए कि अवक्तव्य धर्ममे सत्त्व और असत्त्वका परामर्श (विचार) नही है। जिन धर्मोंमे सत्त्व असत्त्वके भग बन गए उनका मेल कराकर अन्य धर्म नहीं बनाया जा सकता। कोई कहे कि सातो भगोंका इकट्ठा मिला देवे अथवा झटपट किन्हीको मिलाकर एक करदे और उसका नाम अवक्तव्य रखदे वह भी अवक्तव्य है। तो उत्तरमे कहते हैं कि यह बात सम्भव नहीं है, क्योंकि उस प्रकारसे विवक्षित हुए उन तीनो धर्मोंको सर्वथा अवक्तव्य मान लिया जाय तो फिर "अवक्तव्य है" इस शब्दके द्वारा वक्तव्य नही हो सकता। यों वस्तुमे एक-एक दृष्टि करके और स्वतत्र तीन धर्म हुए हैं, अब उनका ही सयोग करके चार धर्म और बनाये जा सकते हैं। ७ भग बननेके बाद अब उनका और परस्पर मिलाप कराकर कोई नया धर्मान्तर खडा कर देना यह बात सम्भव नही है। इस तरह नय वाक्य हुआ अथवा प्रमाण वाक्य हुआ, दोनोंमे ७ही भग सम्भव हो सकते क्योंकि ७ ही प्रयोग और प्रश्न सम्भव हैं, ७ ही प्रकारकी जिज्ञासा सम्भव है जिसके आधार पर प्रश्न होता है और ७ ही प्रकारसे सशयकी सम्भावना है, जिसके आधारपर जिज्ञासा बनती है, इस प्रकार नय वाक्यमें और प्रमाण वाक्यमे ७ भग ही सम्भव होते हैं।

सातो भगोमे स्व-स्वविषयकी प्रधानतासे प्रतीतिका कथन—यहाँ

शंकाकार कहता है कि अस्ति, नास्ति व अस्ति नास्तिके साथ जो अवक्तव्य लगा है अथवा कहो अवक्तव्यके साथ जो अस्ति नास्ति और उभय (अस्ति नास्ति) लगाया गया है उसकी एक तो प्रतीति नहीं होती है और कदाचित मान लो कि है यहाँ तो ये अन्य धर्म सिद्ध नही होते। जैसे कि अस्ति अवक्तव्य कहा तो जो अस्ति भगमे और अवक्तव्य भगमें कहा गया वही तो अस्ति अवक्तव्य कह कर कहा गया, इसी प्रकार पृथक् पृथक नास्ति भगमें और अवक्तव्य भगमें जो कुछ कहा गया इन दोनोका सयोग करनेपर नास्ति अवक्तव्य भगमें भी वही कहा गया। तो यों सयोगी भगोमे धर्मान्तरता सिद्ध नही होती। समाधानमें कहते हैं कि यह शका सगत नही है, क्योकि सप्तभगीके ७ भगोमें प्रथम भगमें तो सत्त्वकी प्रधानतासे प्रतीति है, स्यात अस्ति इस प्रथम भगमें अस्तित्वकी प्रधानतासे प्रतीति है। द्वितीय भगमे अर्थात् स्यात् नास्ति इस विकल्पमें नास्तित्वकी प्रधानतासे प्रतीति है परचतुष्टयसे नही है तो ऐसा नास्तित्व जो एक प्रकृत वस्तुमें माना गया है उसकी प्रधानतासे प्रतीति है। तृतीय भगमें अर्थात् स्यात् अस्ति नास्ति इसमें क्रमसे विवक्षित सत्त्व और असत्त्वकी प्रधानतासे प्रतीति है। चतुर्थ भगमें अवक्तव्यपनेकी प्रधानतासे प्रतीति है। पचम भगमें अर्थात् स्यात अस्ति अवक्तव्य इस विकल्पमे सत्व सहित अवक्तव्यत्वकी प्रधानतासे प्रतीति है। छठे भगमें अर्थात् स्यात् नास्ति अवक्तव्य इसमें असत्त्वसे सहित अवक्तव्यपनेकी प्रतीति है और ७ वें भगमें अर्थात् स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य इनमें क्रम और अक्रमसे सत्त्वासत्त्वसंयुक्त अवक्तव्यपनेकी प्रतीति है। तो यो सातो भगोंमे यद्यपि तीन भग तो हैं स्वतत्र अस्ति नास्ति और अवक्तव्य और चार भग हैं सयोगी, तो जैसे उन तीन स्वतत्र भगोमें स्वतत्र धर्म की प्रतीति है इसी प्रकार इन सयोगी भगोंकी भी प्रधानतासे प्रतीति होती है।

विधि प्रतिषेधरूप वचनोंमें वक्तव्यताकी सुप्रसिद्धि होनेसे वक्तव्यत्वनामक अन्य भगके प्रसग होनेकी आपत्तिका अभाव—अब शंकाकार कहता है कि जैसे अवक्तव्यपनेको एक धर्म पृथक् माना है स्यात् अवक्तव्य, ऐसा कहकर तो फिर वस्तुमे वक्तव्य नामका भी एक ८ वाँ धर्म मानना चाहिए। जैसे वस्तु स्यात अवक्तव्य है इस ही प्रकार वस्तु स्यात् वक्तव्य भी है तब वक्तव्य नामका एक ८ वाँ भग और मानना चाहिए फिर सप्तभंगीका नियम न रहा कि इसमें सात ही भंग अथवा धर्म हैं। समाधानमें कहते हैं कि यह बात कहना युक्त नहीं है कारण यह है कि वक्तव्य है यह तो सामान्य कथन है और स्यात् अस्ति स्यात् नास्ति स्यात् अस्ति नास्ति ये वक्तव्यके ही विशेप कथन हैं। यह कहा जाने योग्य है यह अर्थ तो है वक्तव्यका और उस हीको विशेषरूपमें कह दिया किस प्रकार वक्तव्य है सो उस वक्तव्यका ही तो विशेप अर्थ हुआ ना भगोंमें स्यात अस्ति, स्यात नास्ति आदि रूपसे जो कहा गया है उससे वक्तव्यपनेकी ही तो प्रसिद्धि हुई है। स्यात् वक्तव्य इतना कहा तो इसका अर्थ है सामान्यरूपमें वक्तव्यपना। अब सामान्यरूपसे वक्तव्यपनेको ही विशेपरूपसे वक्तव्यपनेमे रख दिया है। अवक्तव्य भगको छोडकर जहाँ जहाँ भी अन्य कुछ धर्म बताये

गए हैं वे सब वक्तव्यत्वसे ही तो सम्बन्ध रखते हैं। इस कारण वक्तव्यनामको ८ वां भग कहनेकी यहां कोई आवश्यकता नहीं है।

वक्तव्यत्वनामक धर्म मान करके भी सप्तभंगिताके नियमके व्याघात का अभाव—अथवा मानलो दो धर्मोंकी प्रसिद्धि कि वक्तव्य धर्म भी है अवक्तव्य धर्म भी है, तो अब ये दो स्वतत्र धर्म हो गए, स्यात् वक्तव्य, स्यात् अवक्तव्य, तो जैसे अस्ति नास्ति ये दो धर्म होनेके कारण उस प्रसगमें सप्तभंगी बनती थी तो अब यहाँ वक्तव्य और अवक्तव्य इन दो धर्मोंको कहकर इसके प्रसगमें सप्तभंगी बन जायगी तो एक नई सप्तभंगी बन गयी फिर अब उलाहना ही कुछ न रहा जैसे कि स्यात नित्य है स्यात अनित्य है, ऐसे दो धर्म कहकर उनको सप्तभंगी कहते हैं। स्यात् एक, स्यात् अनेक ऐसा कहकर उनकी सप्तभंगी बनती है। स्यात अस्ति, स्यात नास्ति ऐसा कहकर इसकी सप्तभंगी बनती है इस ही प्रकार स्यात् अवक्तव्य स्यात वक्तव्य ऐसा कहकर इसकी सप्तभंगी बन जायगी। तो इन दोनोमें विधि और प्रतिषेध कल्पना करके जैसे कि सत्त्व और असत्त्वकी विधि प्रतिषेध कल्पना करके सप्तभंगी बनायी तो वैसे ही इसकी दूसरी सप्तभंगी बन जायगा। तो सप्त प्रकारके धर्म होते हैं इस नियम का घात तो नहीं हुआ। इस प्रकरणमें यह बात कही गई कि स्यात् अस्ति स्यात् नास्ति जो प्रमुख प्रतिपादित धर्म हैं उनमें वक्तव्यपना आ गया अतएव वक्तव्य नामक ८ वां भंग नहीं मानना पड़ता। और कदाचित यही हठ करके कोई पूछे कि इसका तो वक्तव्य शब्द कहकर ही भग बताओ तो अब यहां दूसरी सप्तभंगी बन जायगी। स्यात वक्तव्य, स्यात अवक्तव्य, स्यात वक्तव्य अवक्तव्य और स्यात उभयथा अवक्तव्य ये चार भग हुए फिर स्यात् वक्तव्य उभयथा अवक्तव्य, स्यात् अवक्तव्य उभयथा अवक्तव्य, स्यात् वक्तव्य अवक्तव्य, उभयथा अवक्तव्य तो इसकी सप्तभंगी न्यारी बन गई। बन जाय अलग कोई भी सप्तभंगी लेकिन यह नियम सवत्र रहा कि सप्त भगीके विषयमें ७ धर्मका ही नियम है। और जब ७ प्रकारके धर्म भी नियमसिद्ध होते हैं तो यह भी सिद्ध हुआ कि यहाँ ७ प्रकारकी ही जिज्ञासा सम्भव है। जब ७ प्रकारकी जिज्ञासा बनी तो प्रश्न भी ७ तरहके होंगे। सशय भी ७ प्रकारसे ही हो सकेगा तो इस प्रकार ७ प्रकारके वाक्यके नियमका कारण हैं ये ७ धर्म।

सप्तभंगीके लक्षणमें "एकवस्तुनि" इस पदका महत्त्व—उक्त प्रकार सप्तभंगी के कथनसे यह सिद्ध हुआ कि एक वस्तुमें बिना विरोधके प्रश्नके अनुसार विधि और प्रतिषेधकी कल्पना करनेको सप्तभंगी कहते हैं। सप्तभंगीका यह निष्कर्ष वाला लक्षण हुआ एक वस्तुमें बिना विरोधके प्रश्नवशात विधि और प्रतिषेधकी कल्पना होना सप्त-भंगी है। एक वस्तुमें सप्तभंगी बनती है इस प्रकार एक वस्तुमें ऐसा विशेषण देनेसे यह सिद्ध हुआ कि एक वस्तुके आश्रय ही विधिप्रतिषेधकी कल्पना करना अनेक वस्तुओंके आश्रयसे विधिप्रतिषेधकी कल्पना न करना, जैसे स्यात् नित्य है जीव स्यात

एक नहीं है पुद्गल यों प्रटपट प्राश्रय व धर्म और स्यात जीव नित्य है, स्यात् पुद्गल नित्य नहीं है, यों प्रटपट धर्म और प्राश्रय यों दो वस्तुओंमें विधिप्रतिषेधकी कल्पना से सप्तभंगी नहीं बनती। जीव है ऐसा कहकर उस जीवमें अस्तित्व निरखा जा रहा है। और, जीव परचतुष्टयसे नहीं है ऐसा कहकर जीवमें नास्तित्व निरखा जा रहा है यहाँ अपेक्षा तो यद्यपि अन्य वस्तुवोंकी हो गई, अर्थात् जो जीव नहीं है ऐसे अन्य पदार्थोंके चतुष्टयकी अपेक्षासे नास्तित्व कहा है। तो भी नास्तित्व तो उस एक ही वस्तुमें सिद्ध किया जा रहा है। कहीं एक ही वस्तुमें और उस ही के अंश अंशोंकी अपेक्षा अस्तित्व नास्तित्व कहा जाय तो वह भी एक वस्तुमें सप्तभंगी है और विपक्षाकी वजहसे वहाँ स्वपरकी सप्रतिपक्षताकी व्यवस्था है। जैसे अखण्ड क्षेत्रकी अपेक्षासे जीव है ऐसा कहा अर्थात् जीव अपने समस्त प्रदेशोंमें व्यापक होकर एक अखण्ड है। तो अखण्ड क्षेत्रकी अपेक्षा जीव है यह एक भंग हुआ। इसका प्रतिपक्ष हुआ खण्ड क्षेत्र अर्थात् जीव असंख्यात प्रदेशी है, उसके यो खण्ड मनमें लाकर प्रदेश नानात्वकी कल्पना करके जीव सोचा जानेपर अखण्डक्षेत्रके रूपसे सोचा गया जो जीव है वह नहीं है। असंख्यात प्रदेशके रूपसे जीव ऐसा सोचा गया है वह अन्य प्रकार है, तो अब यहाँ मुकाबलेमें दो धर्म आये। अखण्ड क्षेत्रकी अपेक्षासे जीव है और असंख्यात प्रदेशकी अपेक्षासे जीव नहीं है। तो यहाँ एक ही वस्तुमें एक ही वस्तुके अंशी अंशका विभाग करके उनका परस्पर प्रतिपक्ष बनकर अस्तित्व नास्तित्व सिद्ध किया है। और, यहाँ जीव चतुष्टयसे है, परचतुष्टयसे नहीं है इसमें भव तो एक ही वस्तुमें किया जा रहा है। नास्तित्व भी उस जीवमें देखा जा रहा है, अपेक्षा जरूर स्वचतुष्टय और परचतुष्टयकी है, पर वस्तु एक ही रही, जिसमें धर्म सिद्ध कर रहे हैं। तो एक वस्तुमे विधिप्रतिषेधकी कल्पना करना, ऐसा कहनेसे अनेक वस्तुमें विधिप्रतिषेधकी कल्पना करनेका खण्डन हुआ। अर्थात् अनेक वस्तुओंमें किसीकी विधि सिद्ध कर रहे किसी वस्तुमे प्रतिषेध सिद्ध कर रहे और उनका मिलकर सप्तभंग बन जाय ऐसा सप्तभंगीका नियम नहीं है।

सप्त भंगीके लक्षणमें "विना विरोध" इस पदका महत्त्व—सप्तभंगीके लक्षणमें "अविरोधेन याने बिना विरोधके" ऐसे शब्द देनेसे यहाँ प्रत्यक्षादिकविरुद्ध तत्त्वकी विधिप्रतिषेध कल्पनाका निराकरण किया गया है। जो प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणोंसे विरुद्ध है उसके सम्बन्धमें विधिकी प्रतिषेधकी कल्पना करनेसे सप्तभंगीकी मुद्रा नहीं बनती। जैसे कहा कि अग्नि ठंडी है। अब उसके बारेमें कल्पना करो जाय कि अग्नि स्यात ठण्डी नहीं है तो प्रत्यक्षादिसे विरुद्ध धर्मोंमें विधिप्रतिषेधकी कल्पना नहीं बनती। दृष्टिभेदसे धर्मोंमें विरुद्धता है। पर उस वस्तुमें अविरुद्ध रूपसे धर्मोंको रहना चाहिये तब उसमें सप्तभंगी बनती है। जैसे जीव स्यात् नित्य है, स्यात् अनित्य है तो यहाँ नित्यपना द्रव्यदृष्टिसे है अनित्यपना पर्यायदृष्टिसे है। तो दृष्टिभेदसे तो परस्पर वे विरुद्ध हैं, द्रव्यदृष्टिमें अनित्यपनेका विरोध है पर्यायदृष्टिमें, नित्यपनेका

विरोध है, लेकिन जिस एक वस्तुमे नित्यपना और अनित्यपना सिद्ध कर रहे हैं उस वस्तुमे वे दोनो बिना विरोधके रह रहे हैं। माने जीव नित्य भी है अनित्य भी है। नित्य होनेका और अनित्य होनेका जीवमे विरोध नहीं है, दृष्टियें विरोध है, द्रव्यदृष्टिमें अनित्यपनेका विरोध है, पर्यायदृष्टिसे नित्यपनेका विरोध है। किन्तु एक वस्तुमें दोनोका विरोध नही है। यों तो कथचित विरोध है और कथचित् अविरोध है लेकिन प्रत्यक्षसे ही जो विरुद्ध हो धर्म उनके सम्बन्धमे एक वस्तुमे विधिप्रतिषेधकी कल्पना करके सप्तभगी बनायी जाय तो वह नहीं बन सकती है स्पष्ट व सकेतरूपसे इस तरह नयोका और प्रमाणका वर्णन करनेके बाद उनके सप्तभगीकी यह व्यवस्था बताई गई है।

पत्रलक्षणकी जिज्ञासा और पत्रलक्षण विचारका सूत्रमें सकेत—परीक्षा मुखसूत्रमें जो कुछ वर्णन करनेकी बात थी वह इस सूत्रसे पहिले सब आ चुकी थी। इस ७४ वें सूत्रमे सम्भव अन्य तत्त्व भी विचार करना चाहिए ऐसा कह कर नयका विवेचन और नय सप्तभगी और प्रमाण सप्तभगीकी बात कही। अब इसी प्रसगसे सम्बन्धित यह भी एक जिज्ञासा बनती है कि इस सूत्रसे पहिले जो जय पराजयकी व्यवस्था बतायी गई है और उस व्यवस्थाका सम्बन्ध चतुरगसे है अर्थात् वादी, प्रतिवादी सभासद, और सभापति ये चार अग हुए बिना वाद नही बनता जय पराजयकी व्यवस्था होती है। वादी और प्रतिवादी अपना अपना मतव्य रख रहे हैं, तो उनमें किसकी जय हुई और किसकी पराजय हुई यह निर्णय क्या वादी प्रतिवादी दोनो मिलकर करेंगे ? सभासदोको करना है। तो सभासद भी चाहिएं, पर सभासद अनेक बैठे हैं, वादी प्रतिवादी अपना मतव्य रख रहे, एक दूसरेके कथनमे दूषण उपस्थित करते हैं, पर निर्णायक सभी बन जायें तो निर्णय हो ही नही सकता, इसलिए एक सभापति निर्णायक चुना जाता है। अथवा कोई दो तीन निर्णायक चुन लें, अर्थात् निर्णायक सभासद वादी और प्रतिवादी ये चार हो तो वहां वाद होता है ऐसा कथन पहिले किया गया था। तो यह चतुरङ्ग वाद पत्रके आलम्बनकी अपेक्षा रखता है पत्र का अर्थ है सामान्यतया अपना मतव्य जिन वाक्योंमे उपस्थित किया जाता है वे वाक्य चूंकि यह दार्शनिक ग्रन्थ है तो यहा पत्रमे विशेषता होनी चाहिए अनुमान प्रयोगकी, हेतु, दृष्टान्त, प्रतिज्ञा आदिककी। तो जिस कथनमें अनुमानके अवयव घटित किए गए हो और व्यवस्थित भाषामें गूढ पदोमें बात रखी गयी हो जो वक्ताका अभिप्राय साधे उस निरवद्यको पत्र कहते हैं। तो चतुरगवाद पत्रके आलम्बनकी अपेक्षा रखता है। इस कारण पत्रका लक्षण अवश्य कहना चाहिए क्योंकि जब तक पत्रके स्वरूपका ज्ञान नही किया जाता तब तक उसका आलम्बन भी नही हो सकता। और, अविज्ञात स्वरूप पत्रका आलम्बन उसकी व्यवस्थाके लिए समर्थ नही है इस कारण पत्रका लक्षण भी अवश्य कहना चाहिए। ऐसी जिज्ञासा होनेपर इस सूत्रमें ही उसके वर्णनका सकेत मिलता है। इस रूपमे कथन करते हैं कि यह जो ७४ वां सूत्र कहा है कि सम्भवद्

अन्यत् विचारणीय, सम्भव होने वाले अन्य अन्य भी विषय विचारणीय हैं। तो यहाँ सम्भवत् विषय पत्र स्वरूप है। अन्यत् शब्दसे यहाँ पत्र लक्षण ग्रहण करना और उस पत्र लक्षणका विचार भी करना चाहिए।

पत्रका लक्षण　पत्रका लक्षण है कि जो वक्ताके अभिप्रायमें आये हुए पदार्थका साधन करे और निर्दोष व गूढ पद जिसमें भरे हों जिसमें अवयवके लक्षण प्रसिद्ध हों उस वाक्यको पत्र कहते हैं। पत्र मायने वाक्य ऐसा वाक्य कि जो वाक्य वक्ताके अभिप्रायको प्रकट करे ऐसा वाक्य जिसमें निर्दोष और गूढ पद, गूढ पदके मायने है कि जिस पदका जन साधारण जल्दी अर्थ न लगा सकें, जिससे गूढ अर्थ भरा हो और जिसमें अनुमानके अवयव भी प्रसिद्ध होते हों वह वाक्य पत्र कहलाता है। पत्रके इस लक्षणमें तीन विशेषण दिये गए हैं। अपने अभिप्रेत अर्थका साधने वाला हो एक विशेषण दूसरा विशेषण है निर्दोष और गूढ पदोंसे भरा हुआ हो तीसरा विशेषण है जिसमें अनुमानके अवयव प्रसिद्ध होते हों। तो इन तीन विशेषणोंके सम्बन्धमें यों विचार करना है कि इनमेंसे कोई विशेषण यदि कम कर देते, उपस्थित न करते तो पत्रका लक्षण नहीं बनता था। मानो कि गूढ पद भी है, अवयवकी बात भी रख रहे हैं लेकिन वक्ताके अभिप्रेत अर्थका साधने वाला नहीं है तो वह पत्र नहीं कहला सकता। जो वाक्य वक्ताके अभिप्रेत अर्थको साधने वाला नहीं है वह चाहे दुष्ट वाक्य हो, अपशब्दोंसे भरा हुआ हो अथवा निर्दोष वाक्य हो, सभ्य शब्दोंसे भरा हुआ स्पष्ट रूप हो अथवा किसी भी रूप हो वह पत्र नहीं कहला सकता। क्योंकि पत्रका उद्देश्य तो यह है कि वक्ताके अभिप्रायको ज्ञात कर लेना। जब पत्र वक्ताके अभिप्रेत अर्थको सिद्ध नहीं करता तो वह पत्र नहीं कहला सकता। इसी तरह वक्ताके अभिप्रायको भी सिद्ध करे, निर्दोष गूढ पद भी हो लेकिन अवयवकी बात नहीं है तो वह भी पत्र नहीं कहलाता। जैसे काव्य साहित्यमें अनेक कथन आते हैं, उनमें अवयवकी बात नहीं है, तो वह काव्य जिसकी क्रिया भी गूढ है, पद भी गूढ है, फिर भी पत्र नहीं कहलाता। इसी प्रकार अवयवकी भी बात हो, अपने अभिप्रायको भी सिद्ध करता हो, लेकिन गूढ पद नहीं है सीधे साधारणरूपसे रखा गया है वह भी पत्रके लक्षणमें नहीं आता, इस कारण पत्रका यह लक्षण समीचीन है कि जिसमें अवयव प्रसिद्ध हों, अपने अभिप्रेत अर्थको साधने वाला हो और निर्दोष गूढ पद जिसमें भरे हों उस वाक्यको पत्र कहा करते हैं।

वर्णपदसमूहात्मक वाक्यको पत्र नामसे व्यपदिष्ट किये जानेकी अशक्यताका प्रश्न　शंकाकार कहता है कि पहिले कहे गए विशेषणोंसे युक्त वाक्यको पत्र नाम कैसे दिया जा सकता है क्योंकि वाक्य तो इन्द्रियसे जाने गए पदसमूहके विशेष रूप हैं, अर्थात् जिन विशेषणोंसे विशिष्ट पदसमूहको, वाक्यको पत्र कहा है वे तो भाषावर्गणाके परिणमन हैं और श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा जाननेमें आते हैं उन पदोंका समूह वाक्य

है किन्तु पत्र तो उससे विपरीत आकार वाला है। पत्र जैसे कि कागजोमे कोई निबध लिखा हुआ होता है तो वह श्रोत्र इन्द्रियके द्वारा जाने गए पद समूह रूप नही है। उनका आकार ही भिन्न है। वे नेत्र इन्द्रियके द्वारा देखे जाने वाले हैं और मनसे उनका सकेत समझा जाता है, तो पत्रका तो विपरीत आकार है, तब फिर वर्णपद रूप परिणत श्रोत्रेन्द्रियसमधिगम्य वाक्योका नाम पत्र कहा है वह कैसे सम्भव है। ऐसा तो नही हो सकता कि जो जिससे बिल्कुल भिन्न है वह उसके द्वारा व्यपदेश किये जानेके लिए शक्य हो। यदि भिन्न पदार्थ भी भिन्नके द्वारा व्यपदिष्ट किया जाने लगे तो इसमे बडे प्रसग आयेंगे। घटको पट नामसे भी कह दिया जाय, क्योकि अब तो जिससे भिन्न है उसके नामसे भी उसको कहे जानेकी बात मान ली है। जैसे कि वाक्य श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा समधिगम्य हैं और पत्र उससे विपरीत आकार वाला है लेकिन अब तो यहाँ वाक्य और पत्र भिन्न भिन्न होनेपर भी वाक्यको पत्र नामसे कहा जाने लगा है। तो भिन्न वस्तुको भिन्नके द्वारा व्यपदिष्ट नही किया जा सकता और इसी कारण यह यहा आपत्ति आती है कि प्रसिद्ध अवयव वाले अपने अभिप्रेत अर्थको सिद्ध करने वाला निर्दोष गूढ़ पदसे भरा हुआ वाक्य पत्र कहलाता है तो उस वाक्यका पत्र नाम कैसे रखा जा सकता है।

उपचरितोपचारसे वाक्यको पत्रनामसे व्यपदिष्ट किये जानेका समाधान—उक्त शकाके समाधानमे कहते हैं कि उन पदसमूहरूप वाक्योका पत्र नामसे उपचरितोपचारसे है जो वाक्य वर्णोंके समूहरूप पदोके समूहरूप बना हुआ है श्रोत्र-इन्द्रियके मार्गमें आता है उस वाक्यका लिपिमें उपचार किया गया है। जैसे वाक्य मुखसे बोला जाता है लोग कानोसे श्रवण करते हैं, किन्तु उन्हीं वाक्योको ग्रन्थमें पत्र में लिख दिया जाय तो वह लिखा हुआ भी तो वाक्य कहलाता है। वर्णात्मक वाक्य का लिपिमे उपचार किया गया है। और यह उपचार विरुद्ध नही है। समस्त लौकिक जन इसी व्यवहारके द्वारा वाक्योको पढ़ते हैं, समझते हैं। बडे बडे व्यापार भी चलाया करते हैं, तो जो भाषावर्गणा जातिके परिणमन है वर्णसमूहरूप हैं। पदसे जिनका सदर्भ बना है ऐसे ही वाक्योका लिपिमे उपचार किया गया है। लिपिमे उपचार किया गया है। क्योकि पत्रमें लिखे हुए वाक्यका लोग व्यवहार करते हैं वह वाक्यका पत्रमे उपचार करते है और वह पत्रमें ही स्थित है। लोग भाव समझते हैं और भाव समझकर उसके अनुकूल प्रवृत्ति भी किया करते हैं, इस कारण पत्रमे उपचरितोउपचारसे वाक्यका नाम पत्र कहा गया है। यहा यह भी नहीं कहा जा सकता कि जो जिससे अन्य है यह उसके द्वारा उपचारसे या उपचरितोपचार से व्यपदिष्ट नही किया जा सकता है, क्योकि भिन्न-भिन्न पदार्थोंका भी किसी सादृश्य के कारण उपचारस या उपचारितोपचारसे भिन्न पदार्थवाचक शब्दसे व्यपदेश किया ही जाता है। जैसे शक्र मायने इन्द्र है किन्तु किसी पुरुषका वैभव देखकर उसे भी शक्र कह देते हैं लोग तो यह उपचार कथन हुआ ना, तो शक्रसे भिन्न है पुरुष तो भी उप-

चारके बलसे उसको शक्र कहा जाता है और फिर, उस पुरुषकी मूर्ति बना दे काष्ठ आदिकमें तो उसे भी लोग शक्र कहेंगे, सो वह उपचरितोपचारसे है। जैसे राम रावण के समयमें एक राजाका नाम इन्द्र था और उस इन्द्र राजाने अपनी ठाठ बाठ रचना भी स्वर्गकी तरह या इन्द्र व्यवस्थाकी तरह बना रखा था, अपने नगरमें रहने वाले लोगोंका नाम देव रखा। नगरके चारो दिशाओंमें जिन्हें पहरेदार नियुक्त किया, ऐसे बडे विशिष्ट राजाओंको यम, वरुण, कुबेर आदिक नाम दिए गए। जो पाप करनेवाले पुरुष हुआ करते थे उन्हें नरकवासकी दण्ड व्यवस्थाकी और उनका नरक भी यहीं था कि पृथ्वीमें बहुत नीचे बहुत लम्बे चौडे कुवेकी तरह एक पातालसा बनाया और उसमें उसे भेज देते थे। तो उस इन्द्रने अपनी व्यवस्था भी बडे ऐश्वर्यको प्रसिद्ध करने वाली बनाई पूरी और नाम भी उसका इन्द्र था तो अब वह राजा जो इन्द्र नामसे कहा गया तो आखिर वह इन्द्रसे भिन्न ही तो है। इन्द्र तो रहता है स्वर्गोंमें, वैक्रियक शरीरवाला है, उसकी ऋद्धि, उसका वैभव ही पृथक है, लेकिन इस राजाको जो इन्द्र कहा जाने लगा तो वह उपचारसे ही तो कहा गया, भिन्न होनेपर भी उपचारसे उस नामसे व्यपदेश किया जा सकता है और फिर उस इन्द्र राजाकी मूर्ति बना दी जाय, स्टेचू बनने पर उसे भी लोग इन्द्र कहेंगे। तो उस स्टेचूको इन्द्र कहना यह उपचरितोपचारसे है, अर्थात् राजा इन्द्रमें इन्द्रका उपचार हुआ और उपचरित इन्द्रका उस काष्ठमूर्तिमें उपचार हुआ तो उपचरितोपचारसे भी इन्द्रका नाम प्रसिद्ध किया जा सकता है। तो यह बात भी न रही कि जो जिससे भिन्न है वह उस स्वभावके द्वारा व्यपदिष्ट किए जाने में सर्वथा अशक्य हो। उपचरितोपचारसे अथवा उपचारसे भिन्नका भी भिन्नके नाम से व्यपदेश किया जा सकता है।

वाक्यको मुख्यतया पत्र नामसे व्यपदिष्ट किये जा सकनेका वर्णन—अथवा पत्र शब्दका निरुक्त्यर्थ अगर देखें तो प्रकृत वाक्यका ही मुख्यरूपसे पत्रव्यपदेश होता है। पत्रका अर्थ है— 'पदानि त्रायन्ते गोप्यन्ते रक्ष्यन्ते परेभ्यः स्वयं विजिगीषुणा यस्मिन् वाक्ये तत्पत्रम्'' अर्थात् स्वयं विजिगीषु पुरुषके द्वारा पद अन्य लोगोंसे याने प्रतिवादियोंसे रक्षित किये जाते हैं जिस वाक्यमें उसे पद कहते हैं। स्वयं जीतकी इच्छा करने वाला वादी पदोंको इस तरहसे रखता है कि प्रतिवादियोंसे वे रक्षित रहें, प्रतिवादी उन्हें सहसा जान न सके और उन पदोंमें कोई दोष न दे सके इस तरह पदोंकी रक्षा किए जानेका नाम है पत्र। इस व्युत्पत्तिके कारण पत्र शब्दका सीधा यही अर्थ हुआ जो कि पत्रके लक्षणमें कहा गया है। पत्र अपने अभिप्रेत अर्थका साधक होता है, उसके बिना तो बात करना ही व्यर्थ है और वह प्रसिद्ध अवयव वाला है, जिसमें युक्ति नहीं, हेतु नहीं, उसकी कोई महिमा भी नहीं है। साथ ही उसमें निर्दोष एवं गूढ पद हो कि जिसको हर एक पुरुष न समझ सके और उसका भाव गुप्त रह सके, सुरक्षित रह सके उसका नाम पत्र है। तो पत्रकी व्युत्पत्तिमें जो भाव आता है, वह भाव पत्रके लक्षणमें समाया हुआ है, क्योंकि यहाँ प्रकृति प्रत्यय आदिकके गोपनसे

पदका गोपन है अर्थात् पद कहलाता है प्रकृति और प्रत्ययका मेल। जब प्रकृति अलग है तो वह पद नहीं है, प्रत्यय अलग है तो वह पद नहीं है। जैसे हिन्दीमे कहते हैं—गायको लावो! तो 'गाय' केवल इतना कहा जाय तो वह प्रकृति हुई, पद नहीं हुआ और 'को' केवल इतना ही कहा जाय तो वह प्रत्यय हुआ, पद नहीं हुआ। प्रकृतिमें जब प्रत्यय मिलता है तब वह पद कहलाता है। तो प्रकृतिका गोपन हो, प्रत्ययका गोपन हो सुरक्षित रहे, सहसा कोई जान न सके, कोई साधारण जन जानकर उसको बिगाड़े नहीं उसका महत्त्व न घटाये। तो इस प्रकार जब प्रकृति और प्रत्ययका गोपन होता है तो पदोंका भी गोपन होता है और ऐसा गोपन, ऐसी सुरक्षा, ऐसा बचाव परोसे याने प्रतिवादियोंसे कर सकना सम्भव ही है। यद्यपि वह प्रतिवादी इतना विद्वान है कि पदोके स्वरूपका उसके निर्णय है और उन पदोके द्वारा जो कुछ तत्त्व कहा जाता है उनका भी निर्णय है, ऐसे भी विद्वानोसे जो बचाव कर लिया जाता है, पदोंकी रक्षा कर ली जाती है जिन वाक्य प्रयोगमे, उन होका नाम पत्र है। तो इस प्रकार पत्रका निर्दोष लक्षण यह बना कि जिसमे अवयव प्रसिद्ध हो, वक्ताके अभिप्रेत अर्थका जिसमे साधन बने, जो निर्दोष और गूढ पदोंसे भरा हुआ हो, जिसमे किसी अन्य प्रमाणोंसे बाधा न आवे उसे पत्र कहते हैं।

दो अवयव वाले पत्रसे साध्यसिद्धि होनेका एक उदाहरण—उक्त प्रकार तीन विशेषणोंसे लक्षित पत्रके अवयव अनियायरूपसे दो ही प्रयुक्त किये जाते हैं, क्योंकि दो ही अवयवोंके प्रयोगसे साध्यकी सिद्धि हो जाती है। पत्रमे अनुमानकी प्रधानता है और अनुमानके अङ्ग हैं पाँच—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। इन ५ अवयवोंमेंसे कहीं केवल दोका ही प्रयोग किया जाता है और उन दो के प्रयोगसे ही साध्यकी सिद्धि हो जाती है। अब पत्रका एक उदाहरण देते हैं। जिसमें दो अवयवोंसे ही अनुमानकी सिद्धि की गई है और जिसका गूढ़ अर्थ है। जैसे एक छन्द मे कहा गया है—स्वान्तशासितभूत्याद्यन्तात्मनदुभान्तवाक्। परान्तद्योतितोद्दीप्तमितीतस्वात्मकत्वतः॥ इस पूरे श्लोकका भाव यह है कि समस्त पदार्थ उत्पादव्यय-ध्रौव्यात्मक हैं प्रमेय होनेसे। समस्त पदार्थ इस शब्दको कहा गया है "उभान्तभाक्"। उभान्तभाक्का अर्थ है सब। यह अर्थ कैसे निकला? सुनिये! व्याकरणमे सर्वनामके प्रकरणमे एक शब्दसमूह है—सर्व विश्व उभ उभय उतर उतम ...... आदिक, तो इस क्रम वाले शब्दोंमें उभ है अन्तमें जिसके ऐसा वचन (उभान्तवाक्) क्या है? विश्व। सर्वविश्व उभ। उभ है अन्तमे जिसके, ऐसा वचन मायने विश्व। मतलब यह है कि जैसे किसी पुरुषका नाम नागकुमार रखा तो यह सीधा कह सकते हैं कि यह नागकुमार है, पर ऐसा न कहकर एक विद्याकी और पत्रकी विशिष्ट भाषामें यदि यह कहा जाय विद्युदान्तवाक्, असुर नाग विद्युत् सुपर्ण अग्नि वात स्तनित उदधि द्वीप दिक्कुमार ये नाम हैं यहाँ विद्युत है अन्तमें जिसके ऐसा वचन क्या है नाग अर्थात् शब्द क्या है ? वाक्, इसका अर्थ हुआ नागकुमार। तो यह पत्रकी पद्धति चल

रही है। पत्रके शब्द बहुत गूढ हुआ करते हैं जिनको जनसाधारण नहीं जान सकते और वे विद्वानोंके वाद विवादके समय बोले जाते हैं। विद्वान भी चकरा जायें, ऐसी क्लिष्ट भाषामें अनुमानसे अवयवोंके साध्यकी सिद्धिकी बात रखना यह पत्र कहलाता है। तो यहाँ अनुमान बनाया है कि स्वान्तवाक अर्थात् सारा विश्व स्वान्तभासित भूत्याद्यन्तात्मतत् है परान्तद्योतितद्दीप्तीमतीतत्स्वात्मकत्व होनेसे। यहाँ उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मक है यह अर्थ कैसे निकला ? सो सुनिये यह शब्द रचना है कठिन रचना है, ध्यानसे सुनिये, स्वान्तका अर्थ है सु का अन्त। व्याकरणमें जहाँ उपसर्गोंके नाम दिये गए हैं परा अप सम अनु अव निस निर् दुस् दुर् वि आङ नि अधि अपि सु उत् अभि प्रति परि उप। इन नामोंमे यह देखेंगे कि सु के अन्तमें कौन सा नाम दिया है ? उद्, सु उत् इससे सु का अन्त क्या हुआ ? उत। तो स्वान्तका अर्थ हुआ उत्। उत् से जो भासित है, मायने उत् उपसर्ग युक्त है, ऐसी भूति अर्थात् उद्भूति। कहना तो था एक उद्भूति शब्द और उसे कहा है स्वान्त भासितभूति। सु का अन्त है उत् और उससे भासित है भूति अर्थात् उद्भूति। वह उद्भूति है शुरूमें जिसके ऐसे वे तीन अर्थात् उत्पादव्यय ध्रौव्य वे ही हैं अन्त जिसके, धम जिसके उसे कहेंगे उद्भूतिव्ययध्रौव्य धम। और, वे ही हैं आत्मा मायने स्वरूप उनको जो तनोति याने विस्तृत करता है अर्थात् उस स्वरूपका जो प्रकाश करता है उसे कहा है स्वान्तभासितभूत्याद्यन्तात्मतत् मायने उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मक।

पत्रमे गूढपदप्रायताका स्थान—कुछ लोग यहाँ सोच सकते हैं कि सीधा ही क्यों न कह दिया ? तो जब तक गूढ पद न होंगे तब तक उसको पत्र न कहा जायगा, और यहाँ पत्रका विचार चल रहा है पत्रमें तीन विशेषतायें होनी चाहिएँ। वादविवाद के समय एक वक्ता प्रतिवादीसे कुछ बोलता है तो उसके उस बोलमें हेतु आना चाहिए, उदाहरण होना चाहिए, साध्य होना चाहिए, पक्ष होना चाहिए याने अवयवोंका प्रयोग होना चाहिए। अनुमानके बलपर ही वादविवाद चलता है तो अनुमानका प्रयोग करे वक्ता तो इस तरह करे कि जिसके शब्द ऐसे हों कि दूसरे लोग उसमें दिमाग भी गडायें तो भी आसानीसे समझमें न आ सके, इस तरहकी भाषा उस वादविवादमे बोलना इसे कहते हैं पत्रका आलम्बन लेना, यदि सीधे सादे शब्दोंमें ही बोल दिया तो भी पत्रका नाम न आ सकेगा। तो पत्रमें अर्थात् बोलचालके वाक्य प्रयोगमें अनुमानके अवयव ध्वनित होना चाहिए, और निर्दोष गूढ पदसे भरा हुआ होना चाहिए, जिसमे प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणोंसे बाधा भी न आना चाहिए। इन तीन विशेषणोंसे युक्त पत्र हुआ करता है, तो उस सम्बन्धमें यहाँ यह कहा जा रहा है कि पाँचो ही अवयव हो तब नाम पत्र पडे ऐसी बात नहीं है। हाँ दो अवयव अवश्य होने चाहिएँ प्रतिज्ञा और हेतु, क्योंकि प्रतिज्ञाकी बात बोले बिना यह कैसे जाना जायगा कि यह क्या सिद्ध करना चाहता है ? और हेतु बोले बिना युक्ति भी कैसे जानी जायगी कि किस युक्तिके आधार पर यह अपना साध्य सिद्ध करना चाहता है ? इस कारण प्रतिज्ञा और हेतु इन दोका

कहना आवश्यक है, जैसे कोई कहे कि पर्वत अग्निमान है धूमवान होनेसे, तो इसमें दो अवयव बोले गए प्रतिज्ञा और हेतु। पर्वत अग्निमान है यह तो है प्रतिज्ञा, पक्ष और साध्य मिलकर बोलनेको प्रतिज्ञा कहते हैं। और, हेतु है धूमवान होनेसे। अब इस प्रसिद्ध उदाहरणसे समझ सकते हैं कि केवल दो अवयवोंके बोलनेसे ही लोग समझ जाते हैं, जैसे किसी भी पुरुषसे कहते हैं कि देखो यहाँ अग्नि है धुवाँ होनेसे। इतने शब्द सुनकर ही वह सब बात भली भाँति जान जाता है। उसे व्याप्ति बनाकर सुनानेकी जरूरत नहीं, न अनेक उदाहरण देनेकी जरूरत है और न उसको दुहरानेकी जरूरत है। यह बात तो किसी नवीन पुरुषके साथकी जाती है। उसे व्याप्ति दृष्टान्त और प्रतिज्ञाका दुहराना, हेतु साध्यका दुहराना ये सब बातें किसी शिष्यको समझानेके लिए तो कही जाती हैं मगर विद्वानोंको, समझदारोंको ये सब प्रयोग नहीं किए जाते। सो प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अवयव प्रयुक्त होते हैं और इन दोसे ही साध्यकी सिद्धि बन जाती है।

दो अवयवोंके प्रयोगवाले पत्रका एक उदाहरण—दो अवयवोंसे सिद्धि होनेके उदाहरणमें यह कहा जा रहा है कि उभान्तवान् (विश्व) स्वान्तभासितभूत्याद्यन्त्यात्मतत् (उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक) है, क्योंकि परान्तद्योतितोद्दीप्तमितीतत्स्वात्मकत्व होनेसे यहाँ जो हेतु दिया है इस हेतुका अर्थ है, प्रमेयत्व होनेसे। केवल इतने शब्द भी कह सकते थे कि प्रमेयपना होनेसे। उस प्रमेयपनेको इतने लम्बे पदसे बोला गया है? इस लम्बे पदका यह अर्थ कैसे निकला? सो इसपर अन्तर दृष्टि देनेसे समझमें आ जायगा। परान्तके मायने परा है अन्तमें जिसके। उपसर्गोंमें प्र परा इन शब्दके प्रयोग होता है। तो परा जिसके अन्तमें है वह क्या हुआ? प्र और बड़ा होता है द्योतित मायने उपसर्ग तो परान्तद्योतित इतनेका अर्थ हुआ प्र उसमें उद्दीप्त मिति अर्थात् प्रमिति। प्र ने व्यक्त मिति। प्रमितिका वाचक शब्द यहाँ दिया है—परान्तद्योतितोद्दीप्रमिति अर्थात् प्रमिति उसके द्वारा इत है याने प्राप्त है स्वात्मा जिसकी उसे कहेंगे परान्तद्योतितोद्दीप्तमितीतत्स्वात्मक... अर्थात् प्रमेय यहाँ स्वार्थमें क से क प्रत्यय किया गया है। उसमें त्व शब्द और जोड़नेसे बन गया परान्तद्योतितोद्दीप्तमितीतत्स्वात्मकत्व यह इसका हेतु है। तो यहाँ यह कहा गया और शब्दोंमें सुनो कि समस्त विश्व उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है प्रमेयत्व होनेसे। तो अब इस पत्रमें परख लीजिये कि दो अवयवोंका प्रयोग किया गया है प्रतिज्ञा और हेतु। प्रतिज्ञा तो इतनी है कि सारा विश्व उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है और हेतु है प्रमेयपना होनेसे। तो यहाँ दृष्टान्त उपनय निगमन आदिकका अभाव होनेपर भी देखो यह हेतु अपने साध्यका प्रतिपादक होगया, और कहा भी है कि प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अनुमानके अङ्ग हैं। इसके अतिरिक्त जो कुछ और आगे बोलना पड़ता है वह सब शिष्यों व नवीन पुरुषोंको समझानेके लिए बोलना पड़ता है। तो यहाँ पत्रवाक्यमें यह [illegible] किया है कि समस्त विश्व उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है प्रमेय होनेसे, जिसको बड़े [illegible] दर्शित किया गया है।

पत्रमे अन्यथानुपपत्तिके नियमका बल होनेसे दो अवयवोकी प्रसिद्धि से अभिप्रेत अर्थकी सिद्धि—पत्र उसे कहते हैं कि जिसमें पद प्रतिवादीसे सुरक्षित रहे, प्रतिवादी उसे आसानीसे न समझ सके और उसमें कोई दोष न दे सके और जिस में कोई बाधा ही न आये और जिसे समझानेके लिए वादी ही स्वयं समझाये जिससे प्रतिवादीकी तोहीनी हो, उसे पत्र कहते हैं। तो इस अनुमानमें अन्यथानुपपत्तिके नियम के बलसे ही हेतु साध्यका गमक हुआ और वह अन्यथानुपपत्ति यहाँ है ही, क्योंकि इस अनुमानमें बताये गये साध्यसे विरुद्ध क्या हुए ? सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य, साध्य है उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक, उससे विपरीत क्या हो सकता सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा अनित्य ? तो सर्वथा नित्य भी प्रमाणका विषयभूत नहीं है व सर्वथा अनित्य प्रमाण का विषयभूत नहीं है। तो यह अनुमान निर्दोष है बाधारहित है और इसमें केवल दो ही अवयव आये। प्रतिज्ञा और हेतु, और यही प्रसिद्धावयवका अर्थ है, जितने अवयवों से वक्ताका अभिप्रेत अर्थ सिद्ध हो उसे ही पत्र कहते हैं। तो अवयव भी प्रसिद्ध हो गए और वक्ताका अभिप्राय भी आ गया और गूढ़ पद भी आ गए, और पदोंमें कोई दोष भी नहीं है और इस पत्रने दो अवयवोंको सिद्धि किया है, तो दो अवयवोंसे अनुमान की सिद्धि होती है, यह सब इस पत्रकथनके द्वारा बताया गया है।

यथासंभव दो तीन चार पांच अवयवोंसे ज्ञातव्य तत्त्वकी सिद्धि बताने में दिये गये एक पत्रमे उल्लिखित प्रतिज्ञाका वर्णन—पत्रमें दो अवयवोंका होना ही पर्याप्त है। पर कभी कभी शिष्यके अभिप्रायके वशसे शिष्यकी योग्यताके वशसे चूंकि उसे समझाना है तो जिस पद्धतिसे वह समझ सके उस पद्धतिके अनुसरण करनेसे ३–४–५ अवयव भी पत्र वाक्यमें कहे जाना चाहिए। उसके उदाहरणमें कहते हैं कि—चित्राद्यदन्तराणीयमारेकान्तात्मकत्वत । यदित्थं न तदित्थं न, यथाऽकिञ्चिदिति त्रयः। तथा चेदमिति प्रोक्तो चत्वारोऽवयवा मताः। तस्मात्तथेति निर्देशे पञ्चपत्रस्य कस्यचित् ॥२॥ इन २ श्लोकोंमें जो अनुमान बताया गया है उस अनुमानमें दो अवयवोंसे भी जानकारी करनेका संकेत है। तीन अवयवोंसे भी जानकारी करनेका संकेत है। चार अवयवोंसे भी जानकारी करनेका संकेत है और ५ अवयवोंसे भी जानकारी करनेका संकेत है। इस अनुमानमें कहा यह गया है कि सारा विश्व अनेकान्तात्मक है प्रमेय होनेसे। इस अनुमानको गूढ़ पदोंमें इस प्रकार बताया गया है कि यदन्तराणीय चित्रात् आरेकान्तात्मकत्वत। यदन्तराणीयका अर्थ है विश्व। यह अर्थ कैसे निकला? तो इस पदमें जो शब्द कहे गये हैं उन शब्दोंको तोड़कर अर्थ देखना है। यदन्तका अर्थ है यत् है अन्तमें जिसके। तो जहाँ सर्वादिगणका पाठ है व्याकरणमें वहाँ सर्व विश्व येत् आदिक सर्वनामका पाठ है। उसमें यह देखलो कि विश्वके बाद यत् आया है। सो यत् जिसके अन्तमें हो वह क्या है ? विश्व शब्द। उसके द्वारा जो राणीय है संवेदनीय है, कहा जाने योग्य है उसे कहते हैं विश्व। अर्थात् लोकालोकात्मक यह सारा विश्व। यह चित्रात् मायने अनेकान्तात्मक है। चित्रात् शब्दसे अनेकान्तात्मक

अर्थ कैसे निकला तो उसकी व्युत्पत्ति कीजिये—चित्र अतति इति चित्रात् चित्र कहते हैं एकानेकरूपको। जो एक रूप भी है अनेक रूप भी है याने मेचक है, चित्र है, विभिन्न है उसे कहते हैं चित्र और चित्रको जो अतति अर्थात् सतत गमन कराये गमाये, व्यापे उसे कहते हैं चित्रात् अर्थात् एकानेकरूप व्यापी। जो एक रूपमें और अनेक रूपमें व्यापक रहे उसीको कहते हैं अनेकान्तात्मक। तो इस अनुमानमें पक्ष और साध्य इन दोका अर्थ बता दिया कि पदन्तराणीय अर्थात् यह सारा विश्व चित्रात् याने अनेकान्तात्मक है।

उक्त प्रतिज्ञाके साधनका वर्णन— अब इसका साधन बताते हैं। यह सारा विश्व क्यों अनेकान्तात्मक है? उसका हेतु देते हैं आरेकान्तात्मकत्वतः याने प्रमेय होनेसे। इस पदका अर्थ प्रमेय कैसे निकला? तो शब्द भिन्न-भिन्न करके उसके अर्थपर दृष्टि कीजिए। आरेका नाम है संशयका। आरेका है अन्तमे जिसके उसे कहते हैं आरेकांत न्यायसूत्रमे जहाँ १६ प्रकारके पदार्थोंके नाम दिये गए हैं प्रमाण प्रमेय संशय आदिक उस पाठमें संशय है अन्तमे जिसके ऐसा शब्द कौन है? प्रमेय। इस पाठमे प्रमेयके बाद संशयका नाम दिया है। सो आरेकान्तका अर्थ हुआ प्रमेय, वह है आत्मा जिसका, स्वरूप जिसका उसे कहते हैं आरेकान्तात्मक और उसके भावको कहते हैं आरेकान्तात्मकत्व। जिसका अर्थ हुआ प्रमेयत्व। सारा विश्व अनेकान्तात्मक है प्रमेयपना होनेसे। यहाँ तक इस अनुमानमे प्रतिज्ञा और हेतु दोका प्रयोग किया गया।

उक्त पत्रमें प्रतिपाद्य शिष्य की पात्रताके अनुसार तीन, चार या पाचो अवयवोका प्रयोग— कोई पुरुष इन दोके प्रयोगसे ही अर्थ समझ सकते हैं। अब प्रतिपाद्य पुरुष यदि कुछ अल्प बुद्धिका है तो उसको इन दो अवयवोमेसे बढ़कर और कुछ भी कहा जायगा याने तीसरा अवयव उदाहरण नामका कहा जायगा। व्याप्ति पूर्वक दृष्टान्तके कहनेको उदाहरण कहते हैं। इस अनुमानमें प्रतिज्ञा और हेतुके प्रयोगके बाद उदाहरण कहा जा रहा है। जैसे कि सारा विश्व अनेकान्तात्मक है प्रयोगपना होनेसे जो अनेकान्तात्मक नही होता है वह प्रमेय भी नहीं होता है। जैसे अकिञ्चित्, अर्थात् जो कुछ नहीं है, असत् है वह अनेकान्तात्मक नहीं और प्रमेय भी नहीं। तो इसमें उदाहरण अवयव और जोड़कर यहां तीन अवयव बताये गए। कोई शिष्य इन तीन अवयवोके द्वारा साध्यको जान जाता है। जो शिष्य इन तीन अवयवोंसे भी न समझ सके उसको आगे उपनयका भी प्रयोग किया जाता है। जैसे कि सारा विश्व अनेकान्तात्मक है प्रमेय होनेसे। जो अनेकान्तात्मक नहीं है वह प्रमेय भी नहीं है। जैसे कि असत्। और, यह सारा विश्व प्रमेय है। इस प्रकार ये ४ अवयव बताए गए तो किसी पात्रके चार अवयवोसे भी काम चल जाता है। यदि कोई शिष्य इन चार अवयवोंके प्रयोग करनेपर भी न समझ सका तो उसके लिए ५वें अवयवका भी प्रयोग किया जाता है। जैसे कहा कि यह सारा विश्व अनेकान्तात्मक

है प्रमेय होनेसे । जो अनेकान्तात्मक नहीं होता, प्रमेय भी नहीं होता । जैसे कि अकिञ्चित् असत्, आकाश और यह सारा विश्व प्रमेय है, इस कारणसे अनेकान्तात्मक है यहाँ अंतमें निगमनका प्रयोग किया गया है, तो कोई शिष्य ५ अवयवोंके प्रयोगसे वक्ता का अभिप्रेत अर्थ समझता है तो पत्रमें कहीं ५ अवयवोंका भी प्रयोग होता है ।

उक्त पत्रावतरित अनुमानमें केवल व्यतिरेक व्याप्तिमें अन्यथानुपपत्ति का महान् बल—उक्त अनुमानमें अन्वयव्याप्तिपूर्वक उदाहरण देनेकी गुञ्जाइश नहीं है । कहीं उदाहरण अन्वय दृष्टान्त और व्यतिरेक दृष्टान्त दोनोंका दिया जाता है और कहीं व्यतिरेकका ही दिया जाता है, कहीं अन्वयका ही दिया जाता है । यहाँ अन्वयव्याप्ति नहीं बन सकती थी । अनुमान है कि सारा विश्व अनेकान्तात्मक है प्रमेय होनेसे । अब यदि अन्वयव्याप्ति बनाते हैं कि जो-जो प्रमेय होते हैं वे सब अनेकान्तात्मक होते हैं तो इसके लिए अब दृष्टान्त क्या मिलेगा ? क्योंकि पक्षमें सारा विश्व कह दिया गया है । अब समस्त प्रमेयको जब पक्ष बनाया गया है तो अन्वयव्याप्तिके लिए कोई पृथक दृष्टान्त नहीं मिलता । और, इसी कारण यहाँ अन्वयव्याप्ति नहीं बनती । अन्वयव्याप्ति न भी बने, पर अन्यथानुपपत्तिका जहाँ नियम पड़ा हुआ है वह अनुमान समीचीन होता है । इस अनुमानमें व्यतिरेक व्याप्ति बताकर अकिञ्चित्का दृष्टान्त दिया है सो अकिञ्चित्का अर्थ क्या है ? न किंचित् इति अकिञ्चित् जो कुछ नहीं है । असत् है वह अकिञ्चित् है जैसे खरविषाण, आकाशपुष्प आदिक । अथवा अकिञ्चित्का यह भी अर्थ है कि जो सर्वथा एकान्तवादियोंके द्वारा माना गया तत्त्व है उसे अकिञ्चित् कहते हैं न कुछ जैसे कि सर्वथा एकान्तवादमें माना गया तत्त्व सर्वथा नित्य, सर्वथा क्षणिक सर्वथा एक आदिक रूपसे माना गया तत्त्व न कुछ है, वह अनेकान्तात्मक नहीं है । अतएव प्रमेय भी नहीं है । सत् भी नहीं है । इस गूढ पदसे भरे हुए अनुमानमें दो अवयवोंसे चार अवयवोंसे और पाँच अवयवोंसे भी समझानेकी बात आयी है और यथायोग्य प्रतिपाद्य शिष्यकी योग्यताके अनुसार ५ अवयवोंमेंसे २का, ३का, ४का और ५का भी प्रयोग किया जा सकता है । इस तरह पत्रका लक्षण निर्दोषतया सिद्ध हुआ कि जिससे प्रसिद्ध अवयव हो और अपने अभिप्रेत अर्थको जो सिद्ध करने वाला हो, जिसमें निर्दोष गूढ पद भरे पड़े हो और अबाधित हो, उसको पत्र कहते हैं ।

यौगसिद्धान्ताभिमत पत्रमें उल्लिखित एक धर्मीका निर्देश—अब नैयायिकोंके द्वारा अपने पक्षकी सिद्धिके लिये जो एक सूत्र वाक्य कहा है जिसका उल्लेख अभी ही तुरत करेंगे उसपर विचार करिये, यह पत्रवाक्य प्रमाण बाधित है । सो अबाधित न हो सकनेसे यह अनुमान वाक्यपत्र संज्ञाको प्राप्त नहीं हो सकता । यौगसिद्धान्तका एक यह अनुमान है कि—स्वान्त्यलङ्घभाक् नाऽनन्तरानर्थप्रस्तावकृदाद्य-रथशोऽनीटोकेनिनऽचुक्तुलोद्भवो वैषोऽप्य नैरयतारस्तनऽनूरहलहेजुट् परापरः तत्त्व-

वित्तदन्योऽनादिवरायनयत्वत एव यदीदृक्तत्सकलविद्वर्गवदेतच्चैवमेव तदिति पत्रम् ।
इसका सीधे शब्दोमें तो यह भाव है कि ये पर्वत, जमीन, सूर्य, चन्द्रमा, मेघ, विजली आदिक सभी पदार्थ जो कि किसी पुरुषके निमित्तसे नही हो सकते वे सब किसी बुद्धि मान एक ईश्वरके द्वारा बनाये गए हैं, कार्य होनेसे। इस अनुमानमे अति विलष्ट गूढ पदोसे यह अर्थ कैसे निकला इसको क्रमसे सुनो, प्रथम पद है सैन्यलङ्भाक् इसका अर्थ है देह । इन मायने आत्मा है । इन कहते हैं प्रभुको, समर्थको । तो चू कि आत्मा ही समस्त इस लोक और परलोकके व्यवहारमे समर्थ है अतएव आत्माको इन कहा गया है और जो इनके साथ रहे उसे कहते हैं सेन । सेनमें दो शब्द हैं—स और इन स का अर्थ हैं साथ । इन का अर्थ है आत्मा । जो आत्माके साथ रहे उसे सेन कहते हैं । तो सेन हुआ ज्ञान, भोग आदिक पदार्थ । अब इस ही सेन शब्दमे स्वार्थिक अर्थमे ही घ्यण् प्रत्यय लगाकर सैन्य शब्द बनाया गया है । जैमे कि कहते है चातुर्वर्ण्य । इसका सीधा अर्थ तो है चार वर्ण पर उस वर्ण शब्दमें स्वार्थिकमे ष्यण् प्रत्यय करके वर्ण्य बना दिया गया है । इसी तरह सेन शब्दमे भी ष्यण् प्रत्यय लगाकर सैन्य बना दिया गया है । तो मतलब यह है कि जो सेन शब्दका अर्थ है वही अर्थ सैन्यका है अर्थात् ज्ञान भोग आदिक पदार्थ । उस सैन्यका जो लङ् है (लङ् विलासे) अर्थात् विलास है उसे कहते हैं सैन्यलङ्, अर्थात् ज्ञान भोग आदिकका विलास उसको जो भजता है, सेवता है उसे कहते हैं सैन्यलङ्भाक् । तो अब सोचिये कि ज्ञान भोग आदिक पदार्थोके विलासको कौन भोगता है ? कौन भजता है ? यह देह । योग-सिद्धान्तमें यह शरीर ही तो ज्ञानको भजता है तो सैंयलङ्भाक्का अर्थ हुआ देह।

उक्त देहधर्मीका विशेषण—यह देह कैसा है उसका विशेषण दिया गया है—नाऽनन्तरानर्थार्थप्रस्वापकृत् जिसका सीधा अर्थ है प्रबोध करने वाली इन्द्रिय आदिक कारणोका समूह रूप । याने ये इन्द्रियाँ ही एक चेत देती हैं, प्रबोध कराती हैं ऐसे इन्द्रिय कारण जिसमें भरे पडे हुए हैं ऐसा देह । अब विशेषणमे यह अर्थ कैसे निकला? इसे भी शब्दोका अलग-अलग अर्थ समझ करके ज्ञात करिये । इसमें अनर्थार्थको अर्थ पहिले समझिये अनर्थार्थमें तीन शब्द हैं न अर्थ, अर्थ । अर्थका अर्थ है प्रयोजन । उसके लिए जो हो उसे कहते हैं अर्थार्थ । याने प्रयोजनके लिए होने वाला । उसमें न का समास कर दिया तो बन गया अनर्थार्थ, अर्थात् प्रयोजनके लिए न होने वाला, याने जहाँ प्रयोजनका प्रयोजन समाप्त हो जाता है ऐसा जो प्रस्वाप है, प्रकृष्ट स्वाप याने लौकिक निद्रासे विलक्षण निद्रा, वह हुआ मोक्ष । जब बुद्धि आदिक गुणोसे मुक्त हो जाता है आत्मा तो उसकी यह लौकिक निद्रासे विलक्षण निद्रारूप अवस्था हो जाती है। इस ही अवस्था विशेषको मोक्ष कहते हैं । और, यह प्रस्वाप याने मोक्ष अनर्थार्थ है, अब इस मोक्षके द्वारा साधने योग्य कुछ भी प्रयोजन न रहा । आत्माके जितने भी प्रयोजन होते हैं उन सब प्रयजनोका अन्तमें व्यवस्थान हो जाता है उसके बाद फिर कोई प्रयोजन नही रहता । अथवा यो कहो कि जो कुछ भी उत्तम समस्त प्रयोजन है

वे सब सिद्ध हो चुके हैं। तो ऐसा अनर्थार्थ प्रस्वाप कहलाया मोक्ष। एक अलौकिक अविनाशी निद्रा ऐसी निद्रा नहीं है जहाँ याने जहाँ विनाशीक निद्रा है उसको करने वाला है यह देह। यहाँ किस शब्दका अर्थ कि यह विनाशीक निद्रा है अविनाशीक निद्रा नहीं है इसका विवरण अभी आगे किया जायगा।

अनर्थार्थप्रस्वापके सम्बन्धमे यौग और सौगतोका वार्तालाप—इस समय इस प्रसंगमे एक शका समाधान उपस्थित हो जाता है। अब यह कहा गया कि अर्थानर्थप्रस्वाप अर्थात् जहा प्रयोजन सब समाप्त हो जाते हैं, पूर्ण हो जाते हैं ऐसा प्रस्वाप याने मोक्ष। तो इस विशेषणको सुनकर क्षणिकवादी एक प्रश्न करते हैं कि इस तरह तो क्षणिकवादियोकी मानी गई निद्राका भी ग्रहण हो जायगा अर्थात् क्षणिकवादियोके सम्मत निर्वाणका भी ग्रहण होगा, क्योंकि क्षणिकवादियोका स्वाप भी अनर्थार्थ प्रस्वाप होता है अर्थात् ऐसी विलक्षण निद्रा है कि यहाँ समस्त प्रयोजन सम्पूर्ण हो जाते हैं, क्योकि सकल सतानकी निवृत्ति हो जानेका नाम मोक्ष है। ऐसा क्षणिकवादियोने माना ही है। यहाँ इस मोक्षका मतलब परम मोक्षसे है, जीवनमोक्ष से नही। जहा परम मोक्ष होता है वहा सकल सतानकी निवृत्ति होती है। अर्थात् आत्मा—आत्मा जैसा रहनेकी सतति जहा समाप्त हो जाती है उसे मोक्ष माना है। जैसे कि क्षणिकवादियोंके ग्रन्थोमें कहा भी है कि दीपक निर्वृत्तिको प्राप्त होता है, वह न पृथ्वीको जाता है न आकाशको जाता है न किसी दिशामें, न किसी विदिशामें, कहीं भी नही जाता, किन्तु स्नेहका क्षय होनेसे, तेलका विनाश हो जानेसे वह दीपक शाति को ही प्राप्त होता है। उसी प्रकार यह जीव जब निर्वाणको प्राप्त होता है तो न वह पृथ्वीको जाता है, न आकाशको, न किसी दिशाको, न किसी विदिशाको, किन्तु क्लेश का क्षय होनेसे केवल शान्तिको प्राप्त होता है। तो क्षणिकवादियोके द्वारा माने गए इस मोक्षका भी ग्रहण हो जायगा। उनके उत्तरमे एक विशेषण यह लगाया है कि वह अनर्थार्थप्रस्वापनानन्तर होना चाहिए।

नाऽनन्तर विशेषणका यौगाभिमत पक्षमें प्रतिपादन करते हुए देह-धर्मोके वर्णनका परिसमापन—नाऽनन्तरका अर्थ है विनाशदायक। यह अर्थ कैसे निकला? इसमे शब्द है न न अन्तर। अन्त मायने विनाश। उसे ला राति ददाति याने पुरुषके लिये आत्माके लिये जो विनाशको देवे उसे कहते हैं अन्तर। न अन्तर इति अनन्तर जो पुरुषके लिये विनाशको न देवे उसे अनन्तर कहते हैं अर्थात् अविनाशी। और न अनन्तर इति नाऽनन्तर याने विनाशीक। जो विनाशदायक नहीं, ऐसा नहीं वह कहलाया नानन्तर अर्थात् विनाशीक। अनन्तरार्थप्रस्वाप अर्थात् अविनाशी प्रयोजन समापक अलौकिक निद्रा याने मोक्ष। अब इस पूरे पदके पहिले न निपात सज्ञक शब्द और जोड दिया जो कि प्रतिषेधका वाचक है। तब अर्थ यह निकला कि जो अविनाशी अलौकिक निद्रा नहीं सो क्या? विनाशीक लोकनिद्रा? यह

अर्थ निकला— नानन्तरानर्थार्थप्रस्वाप इस शब्दसे । ऐसे लोक निद्राके जो कृतशि छिनत्ति अर्थात् नष्ट करता है उसे कहते हैं—नानन्तरानर्थार्थप्रस्वापकृत् जिसका अर्थ निकला कि प्रबोध करने वाले इन्द्रिय आदिक कारणोंका समूहरूप । तो इस विशेषण और विशेष्यका अर्थ निकला इन्द्रिय सहित देह । इन्द्रिय सहित देह इतने शब्दको इन शब्दों द्वारा कहा गया है इस पत्रमें नाऽनन्तरानर्थार्थप्रस्वापकृत् सैन्यलङ्भाक् ।

योगाभिमत पत्रमे आसमुद्र धर्मीका वर्णन—इस पत्र प्रकरणमें योग-सिद्धान्तवादी यह कह रहे हैं कि शरीर, पर्वत, पृथ्वी, रचना, सूर्य, चन्द्रमा, जल समुद्र आदिक ये किसी बुद्धिमानके द्वारा रचे गये हैं, कार्य होनेसे । बात सीधी इतनी है, किन्तु इस तात्पर्यको गूढ पदोंमें रख करके पत्र बनाया जा रहा है । जिसमें देह और देहके विशेषणका अर्थ कहा जा चुका है । अब कहते हैं अशैट्स्यत्को । अशैट्स्यत्का अर्थ है समुद्रपर्यन्त । यह अर्थ कैसे निकला ? तो इसमें शब्द हैं तीन आ, शैत, स्यत् । सैट् शब्द शिशु धातुसे बना है । और शिशुका अर्थ है सेचन करना, जलसे सिंचन करना, सेचन करना, सेक करना । तो शिशु धातुमें भाव अर्थमें घञ् प्रत्यय करनेसे शेष शब्द बना, जिसका अर्थ है शेषण करना, सिंचन करना और उस शेष शब्दमे स्वार्थिकमे अण् प्रत्यय करनेपर शैष यह शब्द बनता है । अब शैष शब्दका धातुसे पद बनाया तो उसका अर्थ हुआ शैष करोति इति शैषी । जो सिंचन करे उसे शैषी कहते हैं । यहाँ शैष शब्दमे णिच् प्रत्यय लगाकर और टीसतका लोप करनेपर शैषी शब्द बनता है । इसके पश्चात् तदन्तावध इस सूत्रसे धातु संज्ञा कर दी गई है और धातु संज्ञा होनेसे उसका आङ्के सम्बन्ध कर दिया तब शब्द बना आशैट् आशैष-यति समन्ताद्भुव सेक करोति इति आशैट् । इसमे याने आशैषीमें क्विप् प्रत्यय करके उसका सर्वापहार लोप करके डत्व करनेपर आशैट् शब्द बना । आशैट्का अर्थ हुआ समुद्रपर्यन्त । जो जमीनको चारों तरफसे सिंचन करे उसे कहते हैं आशैट् । ऐसा कौन हो सकता है ? समुद्र । और, आशैट् है स्यत् अर्थात् लोक प्रसिद्ध समुद्र । तत्पर्यन्तकी बात कही है तो आ उपसर्ग और लगकर अब हुआ आशैट् स्यत् अर्थात् समुद्रपर्यन्त । ये सब चीजे ईश्वरके द्वारा की गई हैं ऐसा सिद्ध करनेके लिये ये धर्मी बताये जा रहे हैं । कौन कौन चीजें ईश्वरकृत हैं ? देह और समुद्रान्त-सारा लोक है ।

योगाभिमत पत्रमे गिरिनिकर व भुवनसन्निवेश धर्मीका निर्देश—अब और देखिये और धर्मी अनीट्क-अनीट्क शब्दका अर्थ है पर्वतसमूह । अब यह अर्थ कैसे निकला ? तो अनीट्क शब्दमें अ, नि, इस ये तीन मूल शब्द हैं । अ का अर्थ नहीं है । नि उपसर्ग है, इस् धातु है, नि पूर्वक इस धातुका अर्थ होता है गमन करना, जाना । तो नीषते गच्छति इति नीट्, अर्थात् जो चले उसे नीट् कहते हैं । और, न नीट इति अनीट् । जो चलने वाला न हो उसे अनीट् कहते हैं । अब, अनीट शब्दमे स्वार्थिकमे क प्रत्यय लगा दिया है। तो शब्द बना अनीट्क । अनीट्कका अर्थ

हुआ अचल। यह शुद्ध अर्थ हुआ। अचल कौन होता है? पर्वत्। तो अनीट्कका अर्थ है पर्वतसमूह। अथवा अनीट्कका अर्थ भुवनोंकी रचना भी है। जो तीन भुवन अथवा १४ भुवन माने हैं वे हुए अनीटक। यह अर्थ कैसे निकला? तो अनीट्का व्युत्पत्त्यर्थ देखिये अ मायने विष्णु उसको जो नीपति, गच्छति यावे जो विष्णुका आश्रय लेवे उसे कहते हैं अनीट्। विष्णु मायने ईश्वर। तो यह सारा समुद्र पर्यन्त समस्त लोक ईश्वरका आश्रय करता है इस कारण अनीट्क शब्दका अर्थ हुआ लोक रचना।

यौगप्रस्तुत पत्रमें सूर्य चन्द्र धर्मोका सकेत— ये सब हैं अना। अनाका अर्थ है न ना यस्य इति अाना। ना का अर्थ है समवायी कारण होना। जिसका समवायी कारण नहीं है उसे अना कहते हैं। ये सब अना है। अर्थात् इनके समवायी कारण नही है, तभी तो बुद्धिमत्कारणके होंगे ये सब। अथवा ईश्वरको अना कहें तो ये बुद्धिमन्निमित्तक होंगे, ईश्वरकी सत्ता अलग है और सारा विश्व जो चराचर है यह रचना अलग है तभी तो इसे ईश्वरने किया। जैसे घडेका रचने वाला कुम्हार अना है अर्थात् समवायी कारणरूप नहीं है। घडेका समवाय कारण तो मिट्टी है तो अना-शब्दने यह सकेत किया कि वह ईश्वर अना है। इन सब रचनाओंका समवायी कारणभूत नहो है निमित्त कारणरूप है। मुख्यतया अना विशेषण इनलडयुकका लगायें क्या क्या चीजें ऐसी अना हैं जो ईश्वरके द्वारा रचित हैं? इनलडयुक। इन मायने सूर्य, लडयुक मायने चन्द्रमा। सूर्य चन्द्रमा ईश्वरकृत हैं। बुद्धिमानके द्वारा रचे गए हैं। इन का अर्थ मानु है। यह तो कोपसे प्रसिद्ध ही है और लड्युकका अर्थ चन्द्रमा कैसे निकला? तो इसमें दो शब्द हैं लड् और युक्। लड् का अर्थ कान्तिसे है। लपायुक यस्य स लड् युक। जिसका सम्बन्ध कान्तिके साथ है उसे कहते हैं लड् युक्। याने जो कान्तिमान वस्तु है उसे लड् युक् बोलते हैं। तो लड् युक् कौन हुआ? चन्द्रमा। तो सूर्य और चन्द्रमा भी बुद्धिमतनिमित्तक हैं।

यौगप्रस्तुत पत्रमें पृथिव्यादि कार्यसमूह व अनित्य गुण कर्म आदि धर्मका निर्देश— और, क्या-क्या चीजें ईश्वरकृत हैं? कुलोद्भव। कुल कहते हैं सजातीय आरम्भक अवयवोंके समूहको। जैसे लोकमें प्रसिद्ध है सजातीय बालक पैदा होते जायें तो उसे कहते हैं कुल। जो कुलकी तरह हो उसका नाम कुल है। उस कुल से अर्थात् सजातीय आरम्भक द्रव्य समूहसे जिसका उद्भव है उसे कुलोद्भव कहते हैं। ऐसा कौन है? पृथ्वी आदिक कार्यद्रव्य। यौगसिद्धान्तमें दो प्रकारके परमाणु माने हैं कारणपरमाणु और कार्य परमाणु। ऐसे ही दो प्रकारके द्रव्य हैं—कारण द्रव्य और कार्यद्रव्य। कारण परमाणुसे कार्य परमाणुका उद्भव होता है। कारण द्रव्यसे कार्य द्रव्यका उद्भव होता है। तो यहाँ कुलोद्भव शब्द कहनेसे कार्यपरमाणुवोंके समूहका अर्थ हुआ। वे हैं—पृथ्वी, जल आदिक। तो यह कुलोद्भव अर्थात् पृथ्वी आदिक कार्य-

समूह भी बुद्धिमन्निमित्तक हैं । और, क्या–क्या ईश्वरकृत हैं ? तो कहते हैं—वैष, वा एष , वा मायने अथवा या तथा, एष मायने यह प्रतीयमान याने अनित्य गुण कर्म । यहाँ वा शब्द उन–उनके ग्रहण करनेके लिए है जिनका नाम लेकर यहाँ ग्रहण नही किया है । उस वा शब्दसे अनित्य गुण और अनित्य कमका भी ग्रहण कर लेना । ईश्वरकृत क्या–क्या चीजें हैं ? इस प्रसगमे धर्म बताये जा रहे हैं—देह समुद्रान्त, पृथ्वी, गिरि, सूय चन्द्रमा आदिक कार्यसमूह और वा शब्दसे यहाँ अनित्य गुण और अनित्य कर्मका ग्रहण किया है । नैयायिकसिद्धान्तमे कुछ गुण नित्य होते हैं, कुछ गुण अनित्य होते है और कम अनित्य होते हैं । तो अनित्य गुण और कर्म भी ईश्वरकृत हैं । ये गुण ये कर्म जो कि हम आप लोगोकी प्रतीतिमे आ रहे हैं वे भी ईश्वरकृत है ।

यौगप्रस्तुत पत्रमे समुद्र अन्धकार ताप मेघ धर्मीका निर्देश अब कहते है – अप्यनैश्यतापस्तन् । अप्य—अप्य नाम है समुद्र आदिकका । अद्भ्य हित, अप्य । जो जलोसे हितरूप हो, घिरा हुआ हो, भरा हुआ हो उसे अप्य कहते हैं । तो यह अप्य भी बुद्धिमन्निमित्तक है । और नैश्यम्—नैश्य मायने है अधकार । निशाया कर्म नैश्यम् – जो रात्रिका काम है उसे नैश्य कहते हैं । यह भी ईश्वरकृत है । ताप मायने उष्णता, यह भी बुद्धिमन्निमित्तक है । और, स्तन् मायने मेघ । स्तनति इति स्तन् जो फैल जाय, विस्तृत हो उसे स्तन् कहते हैं । स्तन्का अर्थ हुआ मेघ । यह सब कैसा है ? अन्टरड्लड्जुट् । अनृ कहते हैं न ना यस्य स अनो (अनृ) । नही है निमित्त कारण जिसका उसे कहते हैं अना (अनृ) । और, रड् का अर्थ है रहन, परिभाषण, बोलना । उसका जो लड है, विलास है, उसको जो सेवता है प्रीतिपूर्वक उसे कहते हैं अनृरड्लड्जुट् । यहाँपर भी कप् प्रत्यय नही किया गया है इस कारणसे निमित्त अर्थ लेना है याने जिन इन चीजोका सामान्य पुरुष निमित्त कारण नहीं हो सकता है ऐसे ये सब सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, उष्णता, समुद्र, देह, आदिक हैं, यहाँ तक धर्मीका वर्णन किया गया है ।

यौगप्रस्तुत पत्रमे साध्यका प्रदर्शन—अब साध्य धर्म बतलाते हैं परापरतत्त्ववित्तदन्य' । यह सारा विश्व परापरतत्त्ववित्तदन्य है । परापरवित्तदन्यका अर्थ है ईश्वरके द्वारा किए गए हैं बुद्धिमत निमित्तक है । यह अर्थ कैसे निकला ? सो सुनिये परका अर्थ है पार्थिव आदिक परमाणु कारणभूत वस्तु और अपरका अर्थ है पृथ्वी आदिक कार्य द्रव्य । याने परापर शब्दमें पर शब्दसे तो लेना कारणभूत द्रव्य और अपर शब्दसे लेना कार्यभूत द्रव्य । ऐसे परापरोका जो तत्त्व है, स्वरूप है उसे कहते हैं परपर तत्त्ववित्, अर्थात् कार्य कारण विषयक बुद्धि वाले पुरुष । ऐसे कारण कार्यतत्त्ववेदी पुरुषसे जो अन्य कोई है उसे कहेंगे परापरतत्त्ववित्तदन्य अर्थात् बडे बडे कारण कार्यका विज्ञान करने वाले पुरुषोसे भिन्न किसी शक्तिके द्वारा, ईश्वरके द्वारा ये रचे गए हैं । तो बडे गूढ पदोंमे नैयायिकसिद्धान्तमें रखे गए इस अनुमानमे यह सिद्ध किया

किया गया है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, समुद्र, सूर्य, चन्द्र, गुण, कर्म आदिक ये पदार्थ बुद्धिमत् निमित्तक हैं, अर्थात् इनका कारण कोई विलक्षण अलौकिक बुद्धिमान है। और वह बुद्धिमान कौन हो सकता है ? ईश्वर। यहाँ तक एक अवयव हुआ प्रतिज्ञा। पक्ष और साध्यके कहनेको प्रतिज्ञा कहते हैं। पक्षमें तो यहाँ सारे विश्व भरकी वस्तु पक्ष दी गई और साध्यमें बुद्धिमन्निमित्तक है यह कहा गया है। पक्ष और साध्यके संयुक्त वचनको प्रतिज्ञा कहते हैं।

योगप्रस्तुत पत्रमें साधनका जुड़ाव—अब उक्त प्रतिज्ञा किस हेतुसे सिद्ध होती है उस हेतुको कहते हैं—अनादिरवायनीयत्वतः यह हेतु है। इसका अर्थ यह है कि कार्य होनेसे। कार्यत्वात। यह अर्थ इतने बड़े पदसे किस तरह निकाला गया ? तो उसे व्युत्पत्तिके ढंगसे सुनो। अनादिमें दो शब्द हैं। न, आदि। आदि नाम है कारणका। जो कार्यका हेतु है उसे आदि कहते हैं। जैसे भी लोकव्यवहारमें बताया जाता कि आखिर इसका आदि क्या है। इसका कारण क्या है ? तो आदि शब्दका कारण अर्थ भी होता है और न आदि इति अनादि जो कारण न हो उसे अनादि कहते हैं। तो आदिका अर्थ है कारण और अनादिका अर्थ है कार्य। आदिका अर्थ कारण यों है कि कार्यसे पहिले ही आदि याने कारण होता है। कार्यसे पहिले जो होता है वह कारण ही तो है। उस आदिसे जो अन्य है उसे कहते हैं अनादि याने कार्यसमूह। अनादि कालका जो रव मायने शब्द है उस अनादि शब्दका जो प्रतिपादक है, उसे कहते हैं अनादि रव अर्थात् कार्य शब्द। अब अनादि रवके द्वारा जो अयनीय हो उसे कहते हैं अनादि रवायनीय अर्थात् कार्य शब्दके द्वारा प्रतिपाद्य मायने कार्य है। एक कार्य तो हुआ शब्दरूप कार्य और शब्दरूप कार्यके द्वारा जो कहा गया वह है वस्तुरूप कार्य, उसका जो भाव है उसे कहते हैं अनादि रवायानीयत्व, मायने कार्यत्व और पञ्चमी विभक्तिके अर्थमें तस् प्रत्यय लग गया, जिसका अर्थ है कार्यत्व होनेसे। यहाँ तक इस बड़े पत्रविवरणमें प्रतिज्ञा और हेतु दो अवयव बताये गए हैं, क्या कि विश्व ईश्वरकृत है इतनी बात कही है इतनी बड़ी विकट जटिल लम्बी पंक्तियोंमें।

योगप्रस्तुत पत्रमें उदाहरणादि अवयवोंका निरूपण—अब यहाँ दो अवयव बोलनेके बाद तीसरा अवयव आता है उदाहरणका। जो कार्य है वह बुद्धिमन्निमित्तक है। जो ऐसा है वह ऐसा है यहाँ तो अन्वयव्याप्ति होती है। जो कार्य है वह बुद्धिमन्निमित्तक है। जैसे कि सकलविद्वर्ण। सकलविद्वर्णका अर्थ है कपड़ा। सकल विद् यस्य इति सकलवित्। कुलोऽपि पाञ्चालवदिति वर्णः सकलवित् स असौ वर्णः। इसका क्या अर्थ हुआ कि जो कलाओंके साथ रहे उसे कहते हैं सकला। कलाका अर्थ है अवयव भाग। जो भागोंके साथ रहे उसका नाम है सकला। कपड़ेमें भाग बहुत होते हैं। जो सकलवित् है जिसके सारे अवयव ही हैं स्वरूप जिसका उसे कहते सकलवित् और सकलवित्को जो [illegible] करे ऐसा जो वर्ण है समूह उसे सकलविद्वर्ण

कहते है, याने कपडा । यह एक उदाहरण दिया है कि जो जो कार्य होते है वे वे बुद्धिमन्निमित्तक होते हैं । जैसे कि कपडा । यहा तक इसमे तीन अवयव आ गए। प्रतिज्ञा हेतु और उदाहरण । अब इसके बाद उपनय बोला जाय कि इसी तरह ये शरीर आदिक भी कार्य हैं, यह हो गया उपनय । इस कारण बुद्धिमन्निमित्तक है यह हो गया निगमन । इस तरह इस पत्रमे ५ अवयवोकी सिद्धि करते हुए समस्त विश्व को ईश्वरकृत सिद्ध करना चाहा है ।

योगप्रस्तुत पत्रमें अबाधित विशेषणकी अघटितता होनेसे पत्रत्वका अभाव—योग प्रस्तुतपत्रमें जो अनुमान किया गया है वह समीचीन नहीं है क्योंकि यह अनुमान अनुमानाभास है । यह अनुमानाभास क्यो हैं ? यो कि इस अनुमानमे दिये गए प्रतिज्ञा हेतु और उदाहरण इन सबमे कालात्ययापदिष्ट आदिक अनेक दोष उपस्थित होते हैं । इस कारण यह अनुमान अनुमानाभास है । उक्त विचारमे बीच बीचमे जो जो भी विशेषण दिए गए हैं वे सब विशेषण पूर्वापर कथनसे विरुद्ध भी हैं । प्रथम तो इसमे हेतु ही विरुद्ध और अनेकान्तिक दोषसे दूषित है, स्वरूपत वह असिद्ध भी है अतएव यह अनुमान अनुमानाभासरूप है । विचार करनेपर न तो किसी ऐसे एक बुद्धिमानकी सिद्धि होती है कि जो इस समस्त पदार्थ समूहका कार्यको अपने आप बनाता रहता हो और फिर ऐसे ईश्वरकी भी सिद्धि नही है जो अपने समता और आनन्दसे च्युत होकर इन कार्योंमें व्यग्र रहता हो । ये सब बातें प्रथम ही जब ईश्वर कर्तृत्वका निराकरण किया गया तो उस प्रकरणसे जान लेनां चाहिएँ । इसका वर्णन विशेषरूपसे द्वितीय अध्यायके १२ वें सूत्रमे किया गया है ।

पत्रनिसृत अर्थको वादी द्वारा मना किये जानेपर प्रतिवादीका कर्तव्य—शकाकार कहता है कि पत्रका जो लक्षण बनाया है वह वही रहे, पर ऐसे लक्षण वाले पत्रका किसी वादीने किसी प्रतिवादीका उद्देश्य करके आलम्बन किया और रचित अवलम्बित पत्र प्रतिवादीको सौंपा और प्रतिवादीने उस पत्रको ग्रहण किया । प्रतिवादीने उस पत्रका अर्थ विचारकर पत्रको फाड दिया अथवा शब्दरूप वाक्य पत्र वादी ने रचा, प्रतिवादीको सुनाया और प्रतिवादी उसका अर्थ विचारकर उसमें कोई खण्डन उपस्थित करता है उसका खण्डनकर देता है । और, उस समय यदि वादी यह बोल उठे, पत्रका देने वाला यदि यह कह उठे कि मेरे पत्रका यह अर्थ नही है तब उस समय प्रतिवादीको क्या करना चाहिए ? इस प्रश्नके समाधानमें कहते हैं कि उस समय प्रतिवादी विकल्प उठाकर वादीसे पूछे कि आपके पत्रका क्या अर्थ है ? क्या जो आपके मनमे बस रहा है वह इस पत्रका अर्थ है या वाक्यरूप पत्रसे जो अर्थ निकलता है क्या वह आपके पत्रका अर्थ है ? या आपके मनमें जो अर्थ वर्तमान हो और वही वाक्य अर्थसे प्रतीयमान हो क्या वह आपके पत्रका अर्थ है ? उस समय वादीके प्रति प्रतिवादी ऐसे तीन विकल्प उठाकर पत्रके अर्थको पूछताछ करे । उक्त विकल्पोंमें

से यदि वादी यह कह उठे कि मेरे पत्रका तो यह अर्थ है जो मेरे मतमें मौजूद है अर्थात् उक्त तीन विकल्पोंमेंसे प्रथम विकल्पको स्वीकार करे तो इस विकल्पका उत्तर यह है कि पत्रका सहारा लेना ही अनर्थक है। क्योंकि उस पत्रको ग्रहण करके प्रतिवादी जिसने कि उस पत्रके अर्थका स्वरूप अच्छी तरह समझ रखा है उस पत्रमें दूषण बोलता है और यह वादी उस प्रतिवादीका प्रतिपक्षी पराजित हो जाता है। इस तरह व्यवहारीजन पत्रके प्रसंगका लाभ लिया करते हैं। लेकिन जो उस वाक्यरूप पत्रसे अर्थ निकलता है उसके विषयमें तो वादी यह कहने लगा, कि मेरे पत्रका यह अर्थ नहीं है तो अब जो वादीके मनमें बात बसी हुई है उस बातका न तो किसी उपायसे साधन किया जा सकता और न दूषण किया जा सकता, क्योंकि उसका कोई उपयोग ही नहीं है। जो वादीके मनमें है वही पत्रका अर्थ है, यह तो कोई तुक ही नहीं है। और, फिर न उसमें कोई दूषण बन सकता है, न साधन बन सकता है। पत्रके आलम्बनकी जरूरत ही क्या रही ? सीधा ही कहदे वह वादी कि मेरे मनमें यह है। न युक्तियाँ, न पत्र, न विचार न रचना, न पढ़ना लिखना, किसी भी बातकी आवश्यकता नहीं है। और यह भी एक बात है कि वादीके चित्तमें प्रथम, जो पत्रका अर्थ है वह किसी प्रमाणसे प्रतीत तो होता नहीं क्योंकि दूसरेके चित्तमें रहने वाले विकल्पोंका निश्चय ही क्या हो ? इसके चित्तमें अभिप्राय क्या है इसका कौन निश्चय करे ? और, फिर चित्तमें वर्तमान जो पत्रका अर्थ है वहाँ न साधन सम्भव है। जो अप्रतीयमान वस्तु है जिसका न कुछ अर्थ निकलता है न जिसकी कोई मुद्रा बनती है, न जिसके बारेमें किसी अन्यका कोई निर्णय बनता है ऐसी अप्रतीयमान बात न साधनके योग्य होती है और न दूषणके योग्य होती है। क्योंकि इसमें अतिप्रसंग दोष है। यों फिर जो चाहे कह उठे कि मेरे मनमें जो अर्थ है बस वही अर्थ है। अब साधन और दूषण से कुछ मतलब ही न रहा।

अन्य प्रमाणसे प्रतिवादी द्वारा वादीहृदयगत पत्रार्थको जानना मानने पर भी अनर्थकताका प्रसंग—यदि प्रतिवादी अन्य किसी प्रमाणसे वादीके मनमें रहने वाले विचारके अर्थको जानकर फिर उन वादीके चित्तमें वर्तमान पत्रके अर्थके सम्बन्धमें वे साधन आदिक अपने अर्थका द्वारा देवे तो इस प्रक्रियामें भी पत्रका आलम्बन लेना अनर्थक है, क्योंकि अर्थ तो वह है जो वादीके चित्तमें बैठा हुआ है। और, उस अर्थकी जानकारी प्रतिवादी करता है किसी अन्य प्रमाणसे उस वादीके पत्रसे, नहीं। तो जब अन्य किसी प्रमाणसे वादीके मनमें रहने वाले अर्थका वह परिज्ञान करता और उसके पश्चात् फिर उस प्रतिवादीके मनमें रहने वाले पत्रार्थका साधन अथवा दूषण करता है तो इसमें पत्रकी आवश्यकता क्या रही ? पत्रके आलम्बनकी अनर्थकता रही। यदि वादी यह कहे कि हमारे दिए गए उस विभ्रम ही हमारे मनमें रहने वाले पत्रके अर्थका ज्ञान होता है तो यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि एक ओर तो यह कहा जा रहा कि मेरे पत्रका यह अर्थ नहीं है, जो पत्रसे अर्थ प्रतीयमान

होता है उनके बारेमे अभी अभी निषेध कर दिया था कि मेरे पत्रका यह अर्थ नही है और अब यह कहा जा रहा है कि मेरे पत्रका अर्थ मेरे चित्तमे बसा हुआ है और वह अर्थ इस पत्रमे प्रतीयमान होता है। तो पत्रका अर्थ भी यह नही है और यह भी कहा जा रहा कि मेरे मनमे बसे हुए अर्थकी इस पत्रम प्रतीति हो रही है। तो जो अर्थ है नहीं उस पत्रका और वह अर्थ उस पत्रसे प्रतीयमान कराया जा रहा तो यो तो कोई भी शब्द बोले और भैंसा घोडा आदिककी प्रतीति होने लगे, क्योंकि अब तो वादीने यह स्वीकार किया है कि मेरे चित्तमे रहने वाला अर्थ है। वही अर्थ है और इस पत्रका यह अर्थ नही है जो कि प्रतिवादी, सभासद, अनेक पुरुष उसमे अर्थ निकाल रहे है। शब्द तो शब्द ही है और उसका परिचय सभीका है और उससे जो अर्थ निकल रहा है उस अर्थको मना किया जा रहा कि यह अर्थ है ही नही। तो पत्र से प्रतीयमान अर्थका निषेध करके कि इस पत्रका यह अर्थ नही है और मेरे मनमे रहने वाले अर्थकी प्रतीति इस पत्रसे हो रही, तो यो व्यवहारमे बिल्कुल विरुद्धता आ जायगी कि किसी भी शब्दसे फिर किसी भी अर्थकी प्रतीति होने लगेगी।

... नसे नही, किन्तु सकेतसे चित्तार्थकी प्रतीयमानता माननेपर पृष्टव्य विकल्प और उसमेसे प्रथम विकल्प माननेपर विरुद्धता—यदि वादी यह कहे कि मेरे मनमे जो वर्तमान पदार्थ है वह पत्रमे प्रतीयमान नही हो रहा है सकेत होने पर मेरे मनमे ठहरे हुए पत्रका अर्थ बन जायगा। तो इस विषयमे यह पूछा जा रहा है कि यह बतलावो कि उस सकेतको कौन करता है और किसमे किया जाता है? यदि कहो कि उस पत्रका सकेत पत्रका देने वाला करता है, पत्रका देने वाला दूसरा हो अथवा वादी ही हो, पत्रदाता वादीके चित्तमे बसे हुए अर्थका सकेत करता है तो यह बतलावो कि वह सकेत क्या पत्र देनेके समयमें किया अथवा वादकालमे किया। साथ ही यह भी बतलावो कि वह सकेत प्रतिवादीमें किया या अन्य किसी पुरुषमे किया? यदि कहो कि पत्र देनेके समयमे प्रतिवादीमे वह सकेत किया गया है तो यह बात सगत नही बनती। क्योंकि पत्र देनेके समयमे प्रतिवादीमे सकेत किया जाय ऐसा व्यवहार ही नही न ऐसा हुआ करता है कि कोई वादी पत्र देनेके समयमे ऐसा सकेत भी देता हुआ कह बैठता हो कि मेरे चित्तमे रहने वाला अर्थ यह है और इस अर्थका यह पत्र वाचक है और इस पत्रसे तुमको यह अर्थ वादके कालमे समझ लेना चाहिए। इस तरहसे न तो न वाद होता है और न ऐसी कोई क्रिया करता है। भला कोई वादी प्रतिवादीसे शास्त्रार्थ कर रहा है, अपने मतव्यकी जयकी घोषणा करोना चाहता है और उस वादीने कोई वाक्य बोला, प्रतिवादीको पत्र सौंपा और पत्र देते समय, वाक्य कहते समय यह कह बैठे कि मेरे मनमे जो अर्थ है जो सिद्धान्त है, जिसकी हम जीत करना चाहेगे वह अर्थ यह है और उस अर्थका वाचक यह पत्र है और इस पत्रसे तुम उस समय लाभ लूटना, अर्थ समझ जाना और वादके समयमे तुम इसका प्रयोग करना। इस तरहसे कोई सकेत किया करता है क्या?

वादी द्वारा संकेत दिये जानेसे ही चित्तार्थ परिचय माननेपर पत्र दानकी व्यर्थताका प्रसंग—यदि कोई इस तरहका संकेत करता है, वादी यों कह बैठता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि पत्र देनेका प्रयोजन क्या? अब वादी पत्र देकर भी मुखसे यह कहता है कि जो पत्रसे प्रतीयमान है वह तो मेरे चित्तमें रहने वाला अर्थ नहीं है, मेरे चित्तमे रहने वाला अर्थ तो यह है और उसका वाचक यह पत्र है और इस पत्रसे तुम यह अर्थ समझ लेना वादके समयमें। इस तरहका कोई संकेत या परिभाषण करता है तब फिर यह बतलावो कि पत्रके देनेका अर्थ क्या रहा? उसकी कोई आवश्यकता न रही। पत्र प्रदान करना अनर्थक रहा। केवल यह ही कह देना चाहिए कि मेरे चित्तमे अर्थ यह है और इस अर्थके सम्बन्धमें तुमको साधन अथवा दूषण कहना चाहिए। इस वक्त भी ऐसे ईर्ष्यारहित पुरुष अब भी देखे जाते और ऐसा बोलते हुए पाये जाते हैं जैसे कि कहा कि शब्द नित्य है अथवा अनित्य है ऐसा हमारे माननेमें प्रतिभास हो रहा है। यदि आपके दूषण अथवा उसका साधन बोलनेमें समर्थ है तब फिर ठीक है, किसी सभ्यके समीप अपन चलें। प्रयोजन यह है कि अपने चित्तमें रहने वाली बात है वही बता दो, अब वह सिद्ध हो पाती है अथवा नहीं। यदि जिज्ञासा रख कर के उस अर्थको साधन अथवा उस अर्थका दूषण समझना चाहते हैं तब तो यह बात एक युक्त है उनके जय पराजयका सम्बन्ध बनाना चाहता हो और फिर ऐसा कहे कि मैंने जो पत्र दिया है उस पत्रका यह अर्थ नहीं है। उस पत्रका अर्थ है यह जो मेरे चित्तमें मौजूद है। और, उसमें इसका साधन अथवा दूषण कहना चाहिए। तो यह विद्वानोंकी गोष्ठामें व्यवहारकी चीज नहीं है। और, यदि यह ही कहते हैं कि मेरे चित्तमें यह अर्थ है, इसमें दूषण दिया जायगा तो ठीक है, यह ही कह देवें, पर पत्रका देना और उसकी इतनी लम्बी चौड़ी रचना बनाना, इसका फिर कोई अर्थ न रहा, यह अनर्थक रहा।

पत्रसे नहीं, किन्तु संकेतसे चित्तार्थकी प्रतीति करानेवाले पत्रका अविस्मरणार्थ देना माननेकी असंगतता—यदि यह कहा जाय अन्य समयमें, उस पत्रका अर्थ प्रतिवादी भूल न जाय, कालान्तरमें उसका स्मरण बना रहे, विस्मरण न हो जाय, इसके लिए पत्रको देना होता है। तो उत्तरमें कहते हैं कि यदि ऐसी ही दया करके पत्र दिया जा रहा है कि यह प्रतिवादी किसी अन्य कालमें इसका अर्थ भूल न जाय अतएव पत्र दिया जा रहा है याने तत्काल तो वादी मुखसे ही बताता है कि इसका अर्थ यह है और यह मेरे चित्तमें है। पत्रसे जो अर्थ निकल रहा है यह अर्थ नहीं है। मेरे चित्तमें रहने वाले इस अर्थका वाचक यह पत्र है और ऐसा पत्र वादी इस कारण दे रहा है कि प्रतिवादी अन्य कालमें इस पत्रके अर्थको भूल न जाय। यदि दयाकी बात है तब तो उसे अगूढ़ पत्र देना चाहिए कि जिसमें अर्थ एकदम सीधा आता हो ताकि वह कभी उस पत्रके अर्थको भूल न जाय। यदि अगूढ़ पत्र नहीं दिया जाता, गूढ़ पदोंसे भरा हुआ पत्र दिया जा रहा है, तो ऐसा पत्र देनेपर भी विस्मरण

सम्भव हो सकता है। जो ऐसे क्लिष्ट शब्दोंसे भरा हुआ पत्र हो कि व्यवहारमे जिसका कोई उपयोग ही नही होता और अनेक शब्दोको मिलाकर एक शब्दवाच्य अर्थकी प्रतीति होती हो, ऐसा गूढ़ पत्र देनेपर भी कालान्तरमें उस अर्थको भूला जा सकता है जैसे कि अभी इसी प्रकरणमे तीन पत्रोका जिकर आया था। दो पत्र तो जैनशासनके रहस्यको बताने वाले थे और एक पत्र योगसिद्धान्तकी वातको बताने वाला था। उनमे समझा होगा कि कितने गूढ पद हैं और विशेषतया योगसिद्धान्तके पत्रमें कितनी क्लिष्ट रचना है? आचार्योंका प्रयोजन यह रहता है शास्त्ररचनामें कि वस्तुस्वरूपको जानकर भव्य जीव अपना कल्याण करें। जब शास्त्ररचनाका प्रयोजन ही यह है तो पत्ररचना भी ऐसे ही स्पष्ट मधुर शब्दोंमें होनी चाहिए कि जिसका प्रयोजनीभूत अर्थ शीघ्र ही समझमें आ सके। इस पत्रविचारके समयमे चूकि पत्रमे गूढ़ पद देना चाहिए इस धुनमे क्या करे जैन शासन सो दो पत्रोमें थोडे गूढ पद दिए गए हैं, अत्यन्त क्लिष्ट गूढ पद फिर भी नही दिये गए, क्योकि आचार्योंका करुणावाला अभिप्राय रहता है, लेकिन जिनकी केवल जीतहारकी ही धुन रहती है और लोग समझ न सकें तथा जिस पत्रको देखकर लोग बुद्धिमानीकी चर्चा कर बैठें, विद्याकी प्रशसा कर बैठें, इस अभिप्रायसे जो रचना चलती है वह तो ऐसे गूढ पदोकी रचना चलेगी कि लिखा हुआ पत्र भी कोई जेबमें रखले और उसे ३-४ वार समझ भी ले तो भी कुछ दिनके बाद उस पत्रका वह अर्थ स्पष्ट चित्तमे नही रह सकता। तो यदि पत्रका देना इस प्रयोजनके लिए हो रहा है कि प्रतिवादी कालान्तरमे उस पत्रका अर्थ भूल न जाय, स्मरण रखे तब फिर पत्र गूढ पदोसे भरा हुआ न होना चाहिए और यदि अत्यन्त क्लिष्ट गूढ अव्यवहाय शब्दोसे भरा हुआ पत्र दिया जाता है तो उस पत्रके ग्रहण करनेमें भी लाभ कुछ नही है। कालान्तरमे उसका विस्मरण हो जायगा। अब यह वतलावो कि पत्र देनेपर भी यदि उस पत्रके अर्थका विस्मरण हो जाता है तब उस समय क्या करना चाहिए?

वादी कहता है कि तब तो फिर उस अर्थका विस्मरण करने वालेका निग्रह करना चाहिए। अर्थात् यह हार गया है ऐसी घोषणा करनी चाहिए, उसका तिरस्कार करना चाहिए। उत्तरमें कहते हैं कि यह उत्तर सगत नही है। फिर तो पूर्वमें जो सकेत दिया गया है उस सकेतके विधानकी व्यर्थता हो जायगी। केवल निग्रहका ही भाव है तो निग्रह तो किसी प्रकार दोष करके तुरन्त भी बनाया जा सकता है, फिर विद्वानों की नजरमें वह प्रक्रिया आदरक योग्य नही है। यदि पत्र देनेपर भी पत्रका मतलब विस्मरण हो जाय और उस समय विस्मरण करने वालेका निग्रह करना ही प्रयोजन है तब तो पहिले सकेत देना ही व्यर्थ है। वादी कहता है कि पहिले सकेत देनेकी बात व्यर्थ नही है। कारण यह है कि उस समय वादीने जो सकेत दिया है। वह प्रतिवादीके लिए पत्रके अर्थका परिज्ञान करानेके लिए दिया है। तो उत्तरमें कहते हैं कि फिर तो यदि उस पत्रके अर्थका विस्मरण हो गया है तो उस पत्रके अर्थका परिज्ञान करानेके लिए फिर सकेत प्रदान कर देवे वादी, निग्रह न करे। यह किसी

तत्त्वस्वरूपको समझनेकी बात चित्तमें है अथवा लोगोंको बतानेकी बात चित्तमें है तो, पत्रका अर्थ एक बार भूल भी जाय कोई, तो भूलने वालेका निग्रह न किया जाना चाहिए किन्तु फिरसे उसका सकेत बता देना चाहिए। तो इन सब युक्तियोंसे यह सिद्ध होता है कि पत्रसे प्रतीयमान अर्थको मना करना कि यह मेरे पत्रका अर्थ नहीं है, मेरे पत्रका अर्थ तो वह है जो मेरे चित्तमें मौजूद है, यह बात नहीं बनती।

शब्दसे नही, किन्तु पत्रदाताके सकेतसे ही चित्तार्थकी प्रतीति मानने पर आपत्तियां—यदि कहो कि वादीके चित्तमें रहने वाला अर्थ सकेतके बलसे पत्रको ही प्रतीत होता है तो सुनिये उससे जो अर्थ प्रतीत होता है वह पत्रका अर्थ सही रहा, पर मनमे जो वर्तमान अर्थ है वह सही न रहा। सकेत देखकर भी पत्रका जो अर्थ बताया गया है वह अर्थ मेरे मनमे रहने वाला अर्थ है, यह बात प्रदर्शित की जाती है। तो भाव तो यही हुआ कि पत्रका प्रतीयमान अर्थ ही अर्थ है वास्तवमें केवल यह कहना कि मेरे मनमें रहने वाला जो अर्थ है वही अर्थ है। चाहे सकेत दिला करके उन पत्र का अर्थ निकलवाया है तो आखिर गूढ़ पदको न जान सके जल्दी, अब सकेत बतानेसे, जान सके, मगर अर्थ तो वही निकला जो पत्रसे प्रतीयमान है, मनमे रहने वाला अर्थ ही अर्थ है, पत्रसे प्रतीतमान अर्थ उसके पत्रका अर्थ नहा है, यह विकल्प तो ठीक न रहा। यदि कहा कि सकतके सहायसे ही पत्रमे उस अर्थकी प्रतीति होनेसे पत्रसे प्रतीयमान जो अर्थ है उसमे अर्थपना न रहा तब तो फिर कुछ भी किसीका अर्थ न होगा। संकेतके बिना किसी शब्दसे फिर किसी भी अर्थकी प्रतीति न होगी, इस कारण यह पक्ष तो सही न रहा कि पत्रके देनेके समय प्रतिवादीसे सकेत किया जाता है।

वादी द्वारा वादकालमे प्रतिवादीको सकेत दिये जानेके विकल्पकी असगतता—यदि कहो कि वादके समयमें प्रतिवादीको वादीने सकेत किया उससे प्रतिवादी पत्रका अर्थ जान जायगा, तो यह कहना भी असगत है, क्योकि उस प्रकार का व्यवहार ही नही होता है कि वादी वादके समयमें पत्रका अर्थ बताये याने पत्र तो पहिले ग्रहण करा दिया अथवा वह पत्ररूप वाक्य तो पहिले बताया और फिर वादके समयमें सभामे वादी प्रतिवादीको उस पत्र शब्दोका सकेत बताये जिससे कि प्रतिवादी अर्थ समझ जाय, ऐसा तो व्यवहार होता ही नही, और मान लो ऐसा करता है वह याने सभामे वादके समयमें वादी प्रतिवादीके लिए स्वय पत्रका अर्थ बताता है तब फिर पत्र ग्रहण करने वाले प्रतिवादीका पहिले कुछ बोलना यह तो मौकेके खिलाफ है अथवा उस प्रतिवादीको प्रथम कुछ बोलनेका मौका ही नही हो सकता है, इस कारण यह पक्ष समीचीन नही है।

वादी द्वारा अन्य पुरुषको सकेत देनेके विकल्पकी असगतता—यदि कहा जाय कि पत्रदाता अथवा वादी अन्य पुरुषोंमें अपने पत्रका सकेत बताते हैं यों

फिर अन्य पुरुष ही उस पत्रके अर्थका जानकार रहेगा। फिर प्रतिवादी कैसे साधन दूषण आदिक बोले। क्योंकि प्रतिवादीको तो पत्रके अर्थका कुछ परिज्ञान ही नही है। सकेत दिया है वादीने अन्य लोगोको, इस कारण यह तीसरा विकल्प भी समीचीन नही है। यदि कहो कि प्रतिवादीको वादीके अर्थका परिज्ञान न रहे यह तो वादीको इष्ट ही है। वादीने गूढ पदोसे भरा हुआ पत्र दिया, अपना मतव्य सुनाया और प्रतिवादी उसके अर्थका ज्ञान न कर सके तो यह तो वादीको इष्ट ही हैं. इसमे वादी अपनी भलाई ही समझ रहा है क्योकि पत्रदान भी इसीलिए किया है। पहिले निबन्धका गूढ पदोसे रच-रचकर पत्र तैयार किया, तो ऐसे गूढ पदोसे परिपूर्ण पत्र देनेका प्रयोजन भी वादीका यही था कि प्रतिवादी इसका कुछ अर्थ ही न जान सके फिर वह बोलेगा ही क्या ? और, सभाके बीचमे उसका तिरस्कार हो जायगा यह कुछ समझता ही नही, चुपचाप खडा हुआ है। यदि यह बात कहते हो तब तो इससे और अच्छा यह है कि कोरा कागज ही सौंप देवे, जिसमे कुछ अक्षर ही न लिखे हो ऐसा ही पत्र दे देना चाहिए क्योकि उससे तो फिर स्वय ही कुछ परिज्ञान न कर सकेगा। यदि कहो कि कोरा कागज सौंप देना यह तो अशिष्टोका काम है। जो अभ्य हैं, गुण्डा टाइपके लोग हैं, उन जैसी चेष्टाका प्रसग फिर तो आ गया। तो उत्तरमे कहते हैं कि अशिष्ट पुरुषो की चेष्टाका प्रसग तो इसमे ही आ गया जो वादी यह कह रहा है कि मेरे मनमे जो अर्थ है वह है अर्थ इस पत्रका इस पत्रका यह अर्थ है ही नही। भला पत्रसे, शब्दोसे, वाक्यसे जो अर्थ निकलता है उसको मना करे और कहे कि मेरे मनमे तो यह अर्थ नही है, इसका अर्थ ही दूसरा है जो कि मेरे मनमें है तो ऐसा कहनेमे ही अशिष्टता साबित होती है।

असगत पत्रदानसे वाद प्रयोजनकी भी सिद्धिकी अशक्यता —और भी देखिये यदि वादी पुरुषान्तरको सकेत दे और प्रतिवादीको परिज्ञान न हो सके ऐसा इष्ट माने तो जैसा पत्रका लक्षण कहा है ऐसे लक्षण वाले पत्रके देनेसे भी क्या प्रयोजन ? शकाकार कहता है कि प्रयोजन कैसे नही है पत्र देनेका ? प्रयोजन है कि वाद-विवाद छिडे। वादकी प्रवृत्ति करना यही वादीका प्रयोजन है पत्र देनेका अर्थात् गूढ पद प्राय वाक्योके कहनेका, और ऐसा पत्र देनेपर वाद शुरु हो ही जायगा। अब रही साधन दूषण कहनेकी बात, सो यह तो वादीके मनमे जो अर्थ बसा हुआ है उसमे साधन दूषण कहनेकी बात अन्य वचनोसे प्रतीयमान होगी। उत्तरमे कहते हैं कि यदि आपका यह अभिप्राय है और यहाँ तक आप उतर आये है तब तो इतना भी पत्र लिखकर क्यों कष्ट करते ? दूसरेको खूब गाली देकर पत्र दे दीजिए, उससे भी वाद छिड जायगा। यदि पत्रदानका प्रयोजन इतना ही समझा है कि वादकी प्रवृत्ति हो जाय तो वादप्रवृत्ति तो गाली गलौज भरे पत्रके देनेसे भी हो जायगी। फिर अत्यन्त गूढ पदोसे भरे हुए पत्रकी रचनाका प्रयास करनेसे क्या लाभ ? अत. सिद्ध हुआ कि पत्रका आलम्बन प्रथम पक्षमे फलयुक्त नही बैठता, अर्थात् निष्फल है पत्रावलम्बन। वादी यह कहे कि

मेरे पत्रका अभिप्राय यह नहीं है जो वादी कहता है, क्योंकि अभिप्राय तो मेरे मनमें है और वह भिन्न है, ऐसा अपना उद्देश्य रख करके प्रतिवादीको पत्र सौंपे, यह प्रश्न घटित नहीं होता।

वाक्यरूप पत्रसे प्रतीयमान अर्थके विकल्पकी अभीष्टता और अन्याय-कल्पनाकी मीमांसा—अब यदि दूसरा पक्ष लेते हो कि पत्रके शब्दसे जो अर्थ प्रतीयमान हो वह है पत्रका अर्थ। तो उत्तरमें कहते हैं कि वाह, भला हुआ। अब तो आकाशसे पुष्पवृष्टि हुई, इसकी तरह वातावरण बन गया। यह बात तो इष्ट ही है कि जो वाक्य बोला जाय और गूढ़पदप्राय पत्र हो, उसमें जो पद हैं उनसे जो अर्थ निकले वह अर्थ माना जाय, उसे सभासद भी मान लें, प्रतिवादी भी मानलें, वादी भी माने, निर्णायक भी माने। प्रकृति प्रत्यय आदिकसे जो अर्थ निकलता है उस अर्थ-विभागसे जो प्रतीयमान अर्थ है वही पत्रका अर्थ है। यह व्यवस्था बिल्कुल समीचीन है। शंकाकार कहता है कि नहीं, यह उस पत्रका अर्थ नहीं है, जो प्रतिवादी अर्थ निकालता है शब्दोंसे वह अर्थ नहीं है, किन्तु जो मैं अर्थ निकालता हूँ वह अर्थ है। देखो भैया ! यहाँ एक ऐसी घटना हो गई कि किसी वाक्यके दो अर्थ भी निकल सकते हैं। अब उन अर्थोंमेंसे प्रतिवादीने अर्थ निकाला। अब प्रतिवादीके अर्थको सुन कर वादी दूसरा अर्थ पेश करके कहे कि वह अर्थ नहीं है किन्तु जो मैंने बताया है, वह अर्थ है। तो उत्तरमें कहते हैं कि वह दूसरा अर्थ ही पत्रका अर्थ बन जाय, यह कैसे सम्भव है ? प्रतिवादी जो अर्थ निकालता है वह तो माना नहीं और पत्रका अर्थ जो वादी करे वह पत्रका अर्थ माना जाय। मानो जिस वाक्यमें दो अर्थ निकलते हैं उनमेंसे जो सीधा स्पष्ट अर्थ निकलता है, प्रतिवादीने उस अर्थको बताया और सुनने वाले सभासद लोग भी उस अर्थको सुगमतया समझलेते हैं, उस अर्थको छोड़कर दूसरे अर्थकी पुष्टि करे वादी कि यह अर्थ नहीं है, किन्तु यह अर्थ है तो एक अर्थका निरा करण किया तो अन्य अर्थ कैसे सुरक्षित रह जायगा, कोई कहेगा कि यह अर्थ नहीं है।

अनेक अर्थ सम्भव न होनेपर भी वादीके चाहे हुए अर्थको ही पत्रार्थ माननेकी अनीति—शंकाकार कहता है कि उस पत्रका अन्य अर्थ सम्भव होनेपर भी उस पत्रका आलम्बन लेने वाले वादीने जो अर्थ चाहा है वही पत्रका अर्थ है क्योंकि पत्र भी तो वादीने ही दिया। तो उस पत्रका जो अर्थ वादी माने वही है उस पत्रका अर्थ। तो उत्तरमें पूछते हैं कि यह बात कैसे निश्चित की है ? यदि कहो कि उस पत्रसे ही ऐसी प्रतीति हो रही है। वादी जो अर्थ बता रहा है और चाह रहा है वह अर्थ इस पत्रसे भी निकल रहा है। इससे हम मानते हैं कि वादीने जिस अर्थका आलम्बन लिया है वही अर्थ है। तो उत्तरमें कहते हैं कि उस ही पत्रसे तो दूसरा भी अर्थ निकल रहा जो प्रतिवादी बता रहा। उन दो अर्थोंमेंसे प्रतिवादीका अर्थ तो माना नहीं और वादीका अर्थ मान लिया जाय यह हुआ कैसे ? शंकाकार कहता

एक अर्थको अपना स्वीकार किया कि यह है मेरे वाक्यका अर्थ तो पत्रसे भी} अर्थ निकले और वादीके चित्तमें भी जो अर्थ हो अर्थ तो वह कहलायेगा। तो इसके उत्तरमें यह पूछा जा रहा है कि यह किसके द्वारा जाना गया कि वादीके चित्तमें यह अर्थ है यह किसने जाना ? वादीने जाना या प्रतिवादीने ? या जो प्रश्नपर विचार करनेके लिए बैठे हैं ऐसे जो निर्णायक हैं क्या उन्होंने जाना ?

पत्रदाता द्वारा विज्ञात स्वयके चित्तके अर्थसे पत्रार्थता माननेकी असङ्गतता—उक्त तीन विकल्पोंमेंसे यदि प्रथम विकल्प लेते हो कि पत्रदाताके पत्रमें जो अर्थ है उसे वादीने जाना, तो सुनिये ! प्रतिवादीने वादीके मनमें जो अर्थ है उसके अनुकूल भी अर्थ लगा दिया, पत्रका व्याख्यान कर दिया और वादीने भी उसी अर्थको अपने मनमें मान लिया कि हाँ, अर्थ तो ठीक लगा दिया और इतनेपर भी वह वादी यदि धृष्टतासे यह बोल उठे कि मेरे पत्रका तो यह अर्थ नहीं है याने वादीके चित्तमें जो अर्थ पड़ा हुआ है वही अर्थ प्रतिवादी भी लगाकर बोल देता है और इतनेपर भी वादी झूठ कह जाय कि उसका यह अर्थ नहीं है, मेरे चित्तमें तो अन्य ही अर्थ बसा हुआ है तुमने तो इसके विपरीत अर्थ जान लिया इसलिए तुम निगृहीत हो, अज्ञानकार हो, इस तरहसे तिरस्कार भरी बात बोलदे, उसका निग्रह करे तो उस समय प्राश्निकोंको क्या करना चाहिये सो तो बताओ ? जो उस सभामें निर्णायक लोग बैठे हैं उनका इस घटनाके होनेपर क्या कर्तव्य है सो तो बताओ ? यदि कहो कि जैसा वादी कह रहा है वैसा ही मान लेना चाहिए। तो कहते हैं कि वाह रे वाह, वे बड़े महामध्यस्थ हो गए निर्णायक लोग कि जो सच्चे अर्थका प्रतिपादन करने वाले भी प्रतिवादीके निग्रहकी व्यवस्था बनाता है। पत्रसे जो अर्थ निकलता है वही अर्थ वादीके मनमें था, वह भी बता दिया फिर भी वादी झूठ कहदे कि मेरे वाक्यका यह अर्थ नहीं है और तुम इस अर्थको पकड़ ही न सके तो तुम निग्रहके योग्य हो और वादीके कहनेपर जिसको निर्णायक मान रखा था वादी प्रतिवादी दोनोंने जिसे निर्णायक पदपर बिठाया वह वादीकी हाँमे हाँ कर बैठे और प्रतिवादीके निग्रहकी व्यवस्था करदे वादीके कहने मात्रसे, तो यह कोई मध्यस्थताकी बात हुई ? यह तो उनका अन्याय है। यहाँ शंका-कार कहता है कि वादीके कहनेमात्रसे प्रतिवादीका निग्रह नहीं किया जा रहा, किन्तु जब वादी अपने मनमे आये हुए अर्थान्तरका निवेदन कर रहा है कि मेरा अर्थ यह है, अपने अर्थको न छिपाकर जब वह बता रहा है तो उससे निग्रह किया जा रहा है। तो इसके उत्तरमें पूछते हैं कि यह तो बतलावो कि वादीके द्वारा निवेदन किया गया जो अन्य अर्थ है वह पत्रका अभिधेय है, पत्रका अर्थ है यह बात कैसे जानी जाय ? यदि कहो कि पत्रके शब्दोंके अनुकूल जो पत्र शब्दसे प्रतिकूल न हो, इस प्रकारसे वादी ने निवेदन किया इससे जाना जायगा कि वादीके द्वारा कहा गया अन्य अर्थ इस पत्रका अभिधेय है। तो उत्तरमे कहते है कि तब तो फिर इसी बुनियादपर प्रतिवादीके द्वारा कहा गया अर्थ भी पत्रका अभिधेय मान लेना चाहिए क्योंकि शब्दके अनुकूल वह

प्रतिवादी भी अर्थ लगा रहा है । जिन शब्दोंमे दो अर्थ बसे हैं ऐसा पत्र वादीने उप-स्थित कर दिया, अब उसमे प्रतिवादी जो अर्थ निकाल रहा है उस अर्थको झुटलाकर वादी अन्य अर्थका ही समर्थन करे तो उसपर प्राश्निक लोग यह निर्णय कैसे कर जायें कि जो वादीने कहा वह अर्थ ठीक है ? प्रतिवादीने जो समझाया है वह अर्थ भी तो उस पत्रसे निकलता है, उसे मान लीजिये ।

वादीके बताये जाने मात्रसे पत्रार्थत्वकी व्यवस्था बनानेकी असंगतता

शंकाकार कहता है कि जो प्रतिवादी अर्थ बता रहा है वह वादीके चित्तमे नही है । वादीके चित्तमे उस अर्थके स्फुरित न होनेसे प्रतिवादीका बताया गया अर्थ पत्रका अर्थ न माना जायगा । तब तो उत्तरमे पूछते हैं कि यह भी कैसे जाना जाय कि यह अर्थ वादीके चित्तमें स्फुरित नही हुआ है ? यदि कहो कि वादीके चित्तमें इस ही अर्थका दर्शन हुआ है इस कारण उसकी बात मान ली जायगी तो यह तो बताओ कि वहाँ जो प्राश्निक लोग हैं, निर्णायक लोग हैं उनको क्या वादीका हृदय प्रत्यक्षभूत हो गया जिससे वे निर्णायक यह मानलें कि वादीका चित्र हमने खूब देख लिया और यही अर्थ वादीके चित्रमें पडा हुआ है । यदि ऐसी बात हुई है तो हम यह समझेंगे कि ये सर्वज्ञ लोग बैठे हुए हैं वादविवादका निर्णय करनेके लिए । यह यहाँके पंडित मनुष्य नही हैं । याने फिर ना प्राश्निक लोगोंको सर्वज्ञ ही होना चाहिए और वे ही जान सकेंगे कि वादीके चित्तमें यह बात समाई हुई है और तभी वे निर्णायक निर्णय देंगे । और, ऐसा अगर मान लेते हो कि सर्वज्ञ ही प्राश्निक हो सकेंगे और वे ही वादीके चित्तका प्रत्यक्ष करेंगे और बतावेंगे कि वादीके मनमे यह अर्थ है तब तो प्रत्यक्षसे ही वादी और प्रतिवादीके अर्थकी सारता और असारता जान ली, फिर कुछ बताये बिना ही और सभा बनाये बिना ही सम्बन्ध लगाये बिना ही एकदम जय पराजयकी व्यवस्था बना देवे । जब निर्णायक सर्वज्ञ बैठा है तब फिर तुरन्त ही वह क्यों न कह दे कि इसमें इसकी जय है इसकी पराजय है । फिर वहाँ जुडाव, रचना, विचार, युक्ति इसकी क्या आवश्यकता है ? और यदि कहो कि वे प्राश्निक लोग सर्वज्ञ नही हैं तो फिर वे यह कैसे जान सकेंगे कि वादीके चित्तमें इस अर्थका तो स्फुरण हुआ और इसका स्फुरण नही हुआ है । यह अर्थ तो विराजमान है और यह नही इसका कैसे निश्चय करेंगे ? जैसे जिसने जमीनको ही नही देखा वह यह कैसे कह सकेगा कि इस जमीनपर घडा है अथवा नही है ? जिसने कमरा ही नही देखा वह यह कैसे कह सकेगा कि इस कमरेमे घडा है अथवा इस कमरेमे घडा नही है ? इसी तरह जब निर्णायक असर्वज्ञ है और वह वादीके चित्तका साक्षात्कार नही कर सकता है तो वह कैसे निर्णय कर देगा कि वादीके चित्तमे यह अर्थ बैठा है ? निर्णायक भी तो शब्दोंको निरख निरखकर निर्णयकी बात कह सकता है । यदि कहो कि यह वादी स्वयं ही तो अपना अर्थ कह रहा है कि मेरा यह अर्थ मनमे है । यह अर्थ मनमें नही है । उस वादीकी बात सुनकर वे निर्णायक लोग भी निर्णय दे सकते हैं कि

के महामध्यस्थ बन गए देखो जिन निर्णायकोंने पहिले तो पत्रका अर्थ जाना नहीं और जो वादी और प्रतिवादी दोनोकी सम्मतिसे जो चुने गए और वहाँ वादी मौका पा कर निर्णायकोंको कुछ समझा दे, पटा ले, और वहींपर अकस्मात् ही कुछ सभ्यजनो का बुला लिया तो यह तो सब एक नाटकका रूप हो गया। पहिलेसे ही कही बदी बात बन गयी, फिर सभ्योके बीचमे और उन प्राश्निकोंके बीचमें विवाद करनेमें क्या लाभ रहा ? वह तो कोई निर्णयका साधन भी न रहा। यदि कहो कि भले ही वादी ने प्राश्निकोको प्रतिपादन कर दिया मगर वह अर्थ तो पत्रसे भी प्रतीत हो रहा। सो जो अर्थ पत्रसे प्रतीत हो रहा वह ही वे बतला रहे हैं। इसमें क्या दोष आया ? तब फिर यह पूछा जा सकता है कि वादी प्रतिवादोमेंसे एक वादी ही निर्णायक लोगोसे प्राश्निक लोगोमे पहिले उस वादके सम्बन्धमे क्यो सम्मतिके ढगसे बात करता है ? और प्राश्निक व निर्णायक लोग भी क्यो वादीकी बातचीतमे शामिल होते हैं। यदि कहा कि सभ्य लोगोने तो वादीसे कुछ नही सुना पत्रका जो अर्थ ध्वनित होता है वह अर्थ तो सभ्योकी दृष्टिमे है। तो उत्तरमें कहते हैं कि जैसे सभासदोको दृष्टिमे वह अर्थ आया जो पत्रसे प्रतीत हुआ और सभ्य लोग उस अर्थको मानते हैं तब तो प्राश्निकोंसे भी पहिले वादीसे सम्बन्ध न बनाकर पत्रसे अर्थ जानकर वही अर्थ मानना चाहिए, क्योकि पत्रसे अर्थ जैसे सभ्य लोगोका प्रतीत हो जाता है उस ही प्रकार वही अर्थ प्राश्निकोको भी प्रतीत हो जाता है। इससे यह पक्ष तो युक्त रहा नही कि पत्रदाताके चित्तमे जो अर्थ है वही पत्रका अर्थ है, और उसे वादीने जान रखा है। वादीके जान रखेका क्या विश्वास ? अब यदि दूसरे पक्षकी बात कहोगे कि वादीके मनमे ठहरे हुए अर्थका प्रतिवादीने जान कर लिया तो यह बात यो असगत है कि प्रतिवादी वादीके मनको जानता तो नही है जिससे कि प्रतिवादी यह जान सके कि जो इस वादीके मनमें अर्थ बसा हुआ है वह ही अर्थ मेरे द्वारा निश्चित किया गया है। इससे यह दूसरा पक्ष भी असगत है कि प्रतिवादी जान लेता है वादीके मनमें रहने वाले अर्थको। इसी तरह तीसरा पक्ष भी विचारणीय है, अर्थात् यह मानना कि जो अर्थ पत्रसे प्रतीत होता है वह दाताके चित्तमें जो बसा है वही है और इस बातको प्राश्निक लोगोंने जान लिया है, यह तीसरा पक्ष भी सही नही बैठता। क्योंकि प्राश्निक लोगो व सभ्य लोगों को भी इस बातके निश्चयका कोई उपाय नही है कि वे निश्चय कर सकें कि वाद मनमें पत्रका वही अर्थ बसा हुआ है।

पत्रदाताके पत्रकी परीक्षाकी अन्तिम मीमासा—और भी सुनिये। अब यह, बतलावो कि पत्रदाताकका वह पत्र किस वचनरूप है ? क्या पत्रदाता के स्वपक्षके साधनको कहने वाला वचन है अथवा परपक्षके दूषणको बताने वाला वचन है या स्वपक्षका साधन और परपक्षका दूषण इन दोनोको बताने वाला वचन है ? अथवा वह पत्र अनुभय वचनरूप है ? इन चार विकल्पोमेसे यदि आदिके तीन विकल्प कहते हो तो देखिये उस वादीको सभासदोके आगे तीन बार उसका उच्चारण

प्रतिवादीने जो अर्थ बताया है वह वादीके चित्तमें नहीं है। और जो वादीने कहा वह स्फुरित है। तो इसपर यह संदेह हो जायगा कि प्रतिवादीने जो अर्थ निश्चित किया वह इसके मनमे है या तो वह अन्य बोल रहा है कि यह मेरा अर्थ नहीं है, किन्तु मनमें अन्य अर्थ ही विद्यमान है जिसे मैं जानता हू क्या वह अन्य अर्थ है? यह निश्चय नहीं हो सकता, उसमे भी सन्देह हो जायगा इसलिए वादीके कहने मात्रसे यह अर्थ मान लेना चाहिए।

वादीके कहने मात्रसे पत्रार्थको निश्चय करनेकी असमीचीनता—वादीके कहने मात्रसे पत्रके अर्थका निश्चय बनाना एक धोखा भी हो सकता है, क्योंकि देखे जाते हैं ऐसे अनेक वादी कि ऐसा पत्र रखते हैं जिसमें कि अनेक अर्थ गर्भित हो जायें और वे पहिलेसे ही यह निर्णय बना लेते हैं कि यदि प्रतिवादी इस पत्रका यह अर्थ जानेगा कहेगा तो हम इस प्रकार दूसरा अर्थ बोलेंगे वह कहेंगे कि यह इस पत्रका अर्थ नहीं है, किन्तु यह है। यदि प्रतिवादी इस अर्थको जानेगा तब हम अन्य प्रकार कहेंगे। इस प्रकारका पहिलेसे मनमें निर्णय कर लेने वाले वादी देखे जाते हैं इस कारण वादीके कथन मात्रसे पत्रके अर्थका निश्चय बनाना यह तो नीति नहीं है। शंकाकार कहता है कि वह वादी गुरु आदिकसे पहिले निवेदन करता है और उसके बाद फिर प्राश्निक पुरुषोंको गुरु आदिकी द्वारा भी उनका निश्चय होता है कि पत्रका यह अर्थ है, याने वह वादी पहिले गुरुजनोंको बता आया और उसके बादमें वही अर्थ बोलता है और उससे फिर प्राश्निक लोग निश्चय कर लेते हैं उन गुरुवोंसे भी पूछ करके कि क्या यही अर्थ इस वादीने आपको बताया है और उन गुरु आदिकसे फिर वे प्राश्निक लोग उस अर्थका निश्चय करते हैं। समाधानमें कहते हैं कि यह भी बात संगत नहीं है, क्योंकि इस घटनामें भी अर्थात् उन्होंने गुरुसे कुछ निवेदन किया हो और प्राश्निक लोग फिर उन गुरुवोंसे वादीके कहे हुए अर्थका निश्चय कर लें, इसमें भी आशंका दूर नहीं होती है, क्योंकि अपने शिष्यके पक्षपातसे उन गुरुजनोंमें अन्य प्रकार बोलनेकी भी बात सम्भव हो सकती है। वे गुरुजन कहीं वीतराग ऋषिसत तो नहीं हैं। जैसे ये हैं वैसे ही उसके गुरु भी हो सकते हैं। तो गुरु भी पक्षपातसे अन्यथा बोल दे कि ठीक है। जो वादी कह रहा है यही अर्थ मुझे बताया है तो गुरुजनोंसे वादीने निवेदन किया और प्राश्निक लोग उन गुरुवोंसे पूछकर निश्चय करदे यह बात भी युक्ति संगत नहीं है।

किसी भी ढग चालसे वादीके अभ्युपगममात्रसे वादीदर्शित पत्रार्थकी मान्यताकी अयुक्तता—शंकाकार कहता है कि यदि वादी वादकी प्रवृत्ति पहिले ही निर्णायक लोगोंसे यह कह दे कि देखिये मेरे पत्रका यह अर्थ है, इसमें यदि प्रतिवादी अन्य अर्थको बोल दे तो आपको निवारण करना चाहिए और उसका निग्रह आदिक करना चाहिये। तो उत्तरमे कहते हैं कि इस प्रसंगमें तो फिर वे बड़े खुसी मिली, अगर

के महामध्यस्थ बन गए देखो जिन निर्णायकोंने पहिले तो पत्रका अर्थ जाना नहीं और जो वादी और प्रतिवादी दोनोंकी सम्मतिसे जो चुने गए और वहाँ वादी मौका पा कर निर्णायकोंको कुछ समझा दे, पटा ले, और वहींपर अकस्मात् ही कुछ सभ्यजनों का बुला लिया तो यह तो सब एक नाटकका रूप हो गया। पहिलेसे ही कही बदी बात बन गयी, फिर सभ्योंके बीचमें और उन प्राश्निकोंके बीचमें विवाद करनेमें क्या लाभ रहा ? वह तो कोई निर्णयका साधन भी न रहा। यदि कहो कि भले ही वादी ने प्राश्निकोंको प्रतिपादन कर दिया मगर वह अर्थ तो पत्रसे भी प्रतीत हो रहा। सो जो अर्थ पत्रसे प्रतीत हो रहा वह ही वे बतला रहे हैं। इसमें क्या दोष आया ? तब फिर यह पूछा जा सकता है कि वादी प्रतिवादीमेंसे एक वादी ही निर्णायक लोगोंसे प्राश्निक लोगोंसे पहिले उस विवादके सम्बन्धमें क्यों सम्मतिके ढंगसे बात करता है ? और प्राश्निक व निर्णायक लोग भी क्यों वादीकी बातचीतमें शामिल होते हैं। यदि कहो कि सभ्य लोगोंने या वादीसे कुछ नहीं सुना पत्रका जो अर्थ ध्वनित होता है वह अर्थ तो सभ्योंकी दृष्टिमें है। तो उत्तरमें कहते हैं कि जैसे सभासदोंकी दृष्टिमें वह अर्थ आया जो पत्रसे प्रतीत हुआ और सभ्य लोग उस अर्थको मानते हैं तब तो प्राश्निकोंसे भी पहिले वादीसे सम्बन्ध न बनाकर पत्रसे अर्थ जानकर वही अर्थ मानना चाहिए, क्योंकि पत्रसे अर्थ जैसे सभ्य लोगोंका प्रतीत हो जाता है उस ही प्रकार वही अर्थ प्राश्निकोंको भी प्रतीत हो जाता है। इससे यह पक्ष तो युक्त रहा नहीं कि पत्रदाताके चित्तमें जो अर्थ है वही पत्रका अर्थ है, और उसे वादीने जान रखा है। वादीके जान रखेका क्या विश्वास ? अब यदि दूसरे रक्षकी बात कहोगे कि वादीके मनमें ठहरे हुए अर्थका प्रतिवादीने ज्ञान कर लिया तो यह बात यों असंगत है कि प्रतिवादी वादीके मनको जानता तो नहीं है जिससे कि प्रतिवादी यह जान सके कि जो इस वादीके मनमें अर्थ बसा हुआ है वह ही अर्थ मेरे द्वारा निश्चित किया गया है। इससे यह दूसरा पक्ष भी असंगत है कि प्रतिवादी जान लेता है वादीके मनमें रहने वाले अर्थको। इसी तरह तीसरा पक्ष भी विचारणीय है, अर्थात् यह मानना कि जो अर्थ पत्रसे प्रतीत होता है वह दाताके चित्तमें जो बसा है वही है और इस बातको प्राश्निक लोगोंने जान लिया है, यह तीसरा पक्ष भी सही नहीं बैठता। क्योंकि प्राश्निक लोगों व सभ्य लोगों को भी इस बातके निश्चयका कोई उपाय नहीं है कि वे निश्चय कर सकें कि वाद मनमें पत्रका वही अर्थ बसा हुआ है।

पत्रदाताके पत्रकी परीक्षाकी अन्तिम मीमांसा—और भी सुनिये ! अब यह, बतलावो कि पत्रदाताका वह पत्र किस वचनरूप है ? क्या पत्रदाता के स्वपक्षके साधनको कहने वाला वचन है अथवा परपक्षके दूषणको बताने वाला वचन है या स्वपक्षका साधन और परपक्षका दूषण इन दोनोंको बताने वाला वचन है ? अथवा वह वचन अनुभय वचनरूप है ? इन चार विकल्पोंमेंसे यदि आदिके तीन विकल्प कहते हो तो देखिये उस वादीको सभासदोंके आगे तीन बार उसका उच्चारण

प्रतिवादीने जो अर्थ बताया है वह वादीके चित्तमें नही है। और जो वादीने कहा वह स्फुरित है। तो इसपर यह संदेह हो जायगा कि प्रतिवादीने जो अर्थ निश्चित किया वह इसके मनमे है या तो वह व्यर्थ बोल रहा है कि यह मेरा अर्थ नही है किन्तु मनमें अन्य अर्थ ही विद्यमान है जिसे मैं जानता हू क्या वह अन्य अर्थ है? यह निश्चय नही हो सकता, उसमे भी सन्देह हो जायगा इसलिए वादीके कहने मात्रसे यह अर्थ मान लेना चाहिए।

वादीके कहने मात्रसे पत्रार्थको निश्चय करनेकी असमीचीनता – वादीके कहने मात्रसे पत्रके अर्थका निश्चय बनाना एक धोखा भी हो सकता है क्योंकि देखे जाते हैं ऐसे अनेक वादी कि ऐसा पत्र रचते हैं जिसमें कि अनेक अर्थ गर्भित हो जायें और वे पहिलेसे ही यह निर्णय बना लेते हैं कि यदि प्रतिवादी इस पत्रका यह अर्थ जानेगा कहेगा तो हम इस प्रकार दूसरा अर्थ बोलेंगे वह कहेंगे कि यह इस पत्रका अर्थ नही है किन्तु यह है। यदि प्रतिवादी इस अर्थको जानेगा तब हम अन्य प्रकार कहेंगे। इस प्रकारका पहिलेसे मनमें निर्णय कर लेने वाले वादी देखे जाते हैं इस कारण वादीके कथन मात्रसे पत्रके अर्थका निश्चय बनाना यह तो नीति नही है। शंकाकार कहता है कि वह वादी गुरु आदिकसे पहिले निवेदन करता है और उसके बाद फिर प्राश्निक पुरुषोंको गुरु आदिकों द्वारा भी उसका निश्चय होता है कि पत्रका यह अर्थ है, याने वह वादी पहिले गुरुजनोंको बता आया और उसके बादमें वही अर्थ बोलता है और उससे फिर प्राश्निक लोग निश्चय कर लेते हैं उन गुरुवोंसे भी पूछ करके कि क्या यही अर्थ इस वादीने आपको बताया है और उन गुरु आदिकसे फिर ये निर्णायक लोग उस अर्थका निश्चय करते हैं। समाधानमें कहते हैं कि यह भी बात संगत नही है, क्योंकि इस घटनामें भी अर्थात् उन्होंने गुरुसे कुछ निवेदन किया था और प्राश्निक लोग फिर उन गुरुवोंसे वादीके कहे हुए अर्थका निश्चय कर लें, इसमें भी आशंका दूर नही होती है, क्योंकि अपने शिष्यके पक्षपातसे उन गुरुजनोंमें अन्य प्रकार बोलनेकी भी बात सम्भव हो सकती है। वे गुरुजन कहीं वीतराग ऋषिसंत तो नही हैं। जैसे ये हैं वैसे ही इसके गुरु भी हो सकते हैं। तो गुरु भी पक्षपातसे अन्यथा बोल दे कि ठीक है। जो वादी कह रहा है यही अर्थ मुझे बताया है तो गुरुजनोंसे वादीने निवेदन किया और प्राश्निक लोग उन गुरुजनोंसे पूछकर निश्चय करदें यह बात भी युक्ति संगत नही है।

किसी भी ढंग मात्रसे वादीके अभ्युपगममात्रसे वादीदर्शित पत्रार्थकी मान्यताकी अयुक्तता – शंकाकार कहता है कि यदि वादी वादको प्रारम्भसे पहिले ही निर्णायक लोगोंसे यह कह दे कि देखिये मेरे इस पत्रका यह अर्थ है, इसमें यदि प्रतिवादी अन्य अर्थको कहे तो आपको निवारण करना चाहिए और उसका निग्रह करना चाहिये। तो इसपर कहते हैं कि इस प्रसंगमें भी जिसने पहिले मुझसे जितने शब्द

निर्णय सम्भव नहीं है। पत्रपरीक्षाके सम्बन्धमें उद्देश्य, व्यवहार्यत्व, परिणाम हितपरक होना चाहिए, अन्य कुछ कहना व्यर्थ है।

अब इस परीक्षामुख ग्रन्थके अन्तमे परीक्षामुखसूत्रके रचयिता माणिक्यनन्दी आचार्य अपनी की हुई रचनाकी समाप्ति तथा अभिमानके परिहारको सूचित करते हुए कहते हैं—

परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयो ।
संविदे मादृशो बाल परीक्षादक्षवद्व्यधाम् ॥१॥

ग्रन्थकार द्वारा ग्रन्थसमापनकी औद्धत्यपरिहारगर्भित सूचना व ग्रन्थ की परीक्षामुखरूपता तथा आदर्शरूपता—हेय उपादेय तत्त्वके ज्ञानके लिए आदर्शरूप इस परीक्षामुखसूत्रकी मुझ जैसे बालने परीक्षादक्ष पुरुषोकी तरह रचना की है। परीक्षामुखका अर्थ क्या है? परीक्षा नाम है तर्कका। परीक्षा शब्दमें दो शब्द पडे हैं परि और इच्छा, परि उपसर्ग है जिसका अर्थ है कि सर्व ओरसे समस्त विशेषोंसे ईक्षाका अर्थ ईक्षण है, निरीक्षण करना। सर्व ओरसे समस्त विशेषताओंके साथ जहाँ पर अर्थका निरीक्षण किया जाता है उसे परीक्षा कहते हैं। और, उस परीक्षाका यह ग्रन्थ मुखरूप है। मुख होता है प्रवेशद्वार जैसे कि प्रवेश चाहने वाले पुरुषोंको जो कि ग्रन्थमें दर्शनशास्त्रमें, तत्त्वकी व्युत्पत्तिमे प्रवेश चाहते हैं उन पुरुषोके लिए यह शास्त्र प्रवेशद्वार है। ऐसे तत्त्व व्युत्पत्तिमे प्रवेश चाहने वालोके लिए प्रवेशद्वार स्वरूप इस परीक्षामुख ग्रन्थको मैंने किया यह परीक्षामुखसूत्र आदर्श रूप है। आदर्शके धर्मका सद्भाव होनेसे यह सूत्र भी आदर्श है। आदर्श नाम दर्पणका है। जैसे कि आदर्श शरीरके अलंकार चाहने वाले पुरुषोको स्पष्ट दिखा देता है उनके मुखपर जो शोभा है, आभूषण हैं उनको आदर्श स्पष्ट दिखा देता है। और, यो दिखा देता है कि उसमें यदि कुछ विरूपक है, कुछ अनिष्ट है तो उसे वह छोड दे और उसमे यदि सुरूपक है तो उसे वह ग्रहण करे। इस रूपसे वह आदर्श स्पष्टतया शरीर शोभा चाहने वाले पुरुषोको दिखा देता है और लोग करते भी हैं यही। इसी उद्देश्यसे दर्पणमे अपना मुख देखते हैं कि यदि कुछ कमी रह गयी हो कहीं कुछ विरूपकपना आ गया हो तो उसे दूर करदें और सही शोभाके रूपमे अपने मुखको सजालें इसी भावसे दर्पणको देखा करते हैं। तो यह परीक्षामुखसूत्र उस दर्पणकी तरह ही आदर्श है कि इसके द्वारा तत्त्व निर्णय करके जो हेय तत्त्व है उसे छोडदे और जो उपादेय तत्त्व है उसे ग्रहण करले।

ग्रन्थरचनाकी प्रयोजकता—यहाँ कोई यह सोचे कि ऐसा शास्त्र किस लिए बनाया है आचार्यने? तो उसका उत्तर मिलता है संविदे शब्दसे अर्थात् सम्यग्ज्ञानके लिए इस शास्त्रकी रचना आचार्यने की है। किनके ज्ञानके लिए? उसका उत्तर दिया

करना चाहिए। जो गूढपदप्राय पत्र उपस्थित किया है, जिसमें कि पत्रदाताने अपने पक्षके साधनकी बात कही और पक्षके दूषणकी बात कही है एवं स्वपक्ष, साधन, परपक्ष दूषण दोनो ही बात कही है ऐसा ही पत्र वादीका तीन बार उच्चारण करके बताना चाहिए, क्योंकि उस पत्रमें भी तो विषमता है। कठिन पद हैं। गूढ पद हैं। और फिर यह बतलावो कि तीन बार उच्चारण करनेपर भी जब प्राश्निक लोगोंने प्रतिवादीने उसका अर्थ नहीं जाना, जैसा कि वादीका अभिप्राय है उस अर्थके अनुकूल नहीं जाना तो पत्रदाताका क्या होगा ? शंकाकार उत्तरमें कहता है कि निग्रह होगा, क्योंकि अज्ञात नामका निग्रह स्थान ऐसा ही है कि तीन बार कहा जानेपर भी कष्ट-प्रयोगसे शीघ्र उच्चारणसे आदिक कारणोंसे परिषदके लोग यदि उस अर्थको न जानें तो वह अज्ञात नामका निग्रह स्थान है। उत्तरमें कहते हैं कि यह बात तो ऐसी हुई जैसे कि कोई पुरुष अपने वधके लिए राक्षसीको जगाये। देखो इसमें वादीका या प्रतिवादीका निग्रह किया इतनी ही बात नहीं किन्तु इस विधिसे तो परिषदके लोग प्राश्निक लोग सभीको ही अज्ञान सम्भव है। उस पत्रका अर्थ न जानें तो अज्ञान नामका निग्रह फिर सभीको लग जाना चाहिए और फिर तत्त्वविचारकी बात ही क्या रही ? स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषण करने वाले पत्रके प्रयोगसे ही तो स्वपक्ष साधन परपक्षदूषण मान लिया जाता है, तो अर्थ समझनेकी तो कोई बात ही न रही, इतने मात्र प्रयोगसे स्वपक्षसाधन परपक्षदूषण मान लिया जानेपर फिर तो प्रतिवादीके किसी भी कथनकी अपेक्षा न करके ही सभ्य लोग प्राश्निक लोग वादी और प्रतिवादीकी जय और पराजयकी व्यवस्था कर डालें। इस कारण ये तीन विकल्प तो युक्त रहे नहीं कि पत्र जो है वह पत्रदाताके स्वपक्ष साधन वचनरूप है या परपक्ष दूषण वचन रूप है या स्वपक्षसाधन, परपक्षदूषण दोनो ही वचनरूप है ? अब यदि चतुर्थ पक्ष मानते हो, कि वह पत्र तो अनुभय वचनरूप है, न उसमें स्वपक्ष साधनकी बात है और न परपक्ष साधनकी बात है, तो उत्तरमें कहते हैं कि इससे तो वादीका निग्रह प्रसिद्ध ही हो गया, क्योंकि वादीने उस पत्रमें न तो अपने पक्षके साधनकी बात कही है और न परपक्षके दूषणकी बात कही है। इस कारण अनुभय वचन वाले पत्रको देने वाले वादीका निग्रह तो स्वयं ही सिद्ध हो गया।

पत्रमीमांसाका उपसंहार—इस पत्र परीक्षामें विशेष बात कहनेसे क्या ? सीधी बात यह मान लेनी चाहिए कि वचन यद्यपि गूढ भी हों तो भी इतने तो स्पष्ट हों कि जिनमें प्राश्निक लोग उसका अर्थ लगा सकें और उसमें साधन दूषण दे सकें। अन्य प्रकारके छल करके, कई अर्थ विचारकर यह पहिले निर्धारण करलें कि प्रतिवादी यों कहेगा तो मैं यों बोलूंगा, उसे अन्यथा कर दूंगा। इन सब अभिप्रायोंसे कोई हित की सिद्धि नहीं है। जितना भी तत्त्वनिर्णय है उसका प्रयोजन यह है कि वास्तविक तत्त्वकी श्रद्धा करके और उसके अनुसार उपयोग बनाकर संसारके संकट मेट लिए जायें। वाद–विवादमें, जय–पराजयकी धुनमें केवल लौकिक उद्देश्य बनानेमें तो तत्त्व-

निर्णय सम्भव नहीं है। पत्रपरीक्षाके सम्बन्धमें उद्देश्य, व्यवहार्यत्व, परिणाम हितपरक होना चाहिए, अन्य कुछ कहना व्यर्थ है।

अब इस परीक्षामुख ग्रन्थके अन्तमें परीक्षामुखसूत्रके रचयिता माणिक्यनन्दी आचार्य अपनी की हुई रचनाकी समाप्ति तथा अभिमानके परिहारको सूचित करते हुए कहते हैं—

परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयोः ।
संविदे मादृशो बालः परीक्षादक्षवद्व्यधाम् ॥१॥

ग्रन्थकार द्वारा ग्रन्थसमापनकी औद्धत्यपरिहारगर्भित सूचना व ग्रन्थ की परीक्षामुखरूपता तथा आदर्शरूपता—हेय उपादेय तत्त्वके ज्ञानके लिए आदर्शरूप इस परीक्षामुखसूत्रकी मुझ जैसे बालने परीक्षादक्ष पुरुषोंकी तरह रचना की है। परीक्षामुखका अर्थ क्या है? परीक्षा नाम है तर्कका। परीक्षा शब्दमें दो शब्द पड़े हैं परि और इच्छा, परि उपसर्ग है जिसका अर्थ है कि सर्व ओरसे समस्त विशेषोंसे ईक्षाका अर्थ ईक्षण है, निरीक्षण करना। सर्व ओरसे समस्त विशेषताओंके साथ जहाँ पर अर्थका निरीक्षण किया जाता है उसे परीक्षा कहते हैं। और, उस परीक्षाका यह ग्रन्थ मुखरूप है। मुख होता है प्रवेशद्वार जैसे कि प्रवेश चाहने वाले पुरुषोंको जो कि ग्रन्थमें दर्शनशास्त्रमें, तत्त्वकी व्युत्पत्तिमें प्रवेश चाहते हैं उन पुरुषोंके लिए यह शास्त्र प्रवेशद्वार है। ऐसे तत्त्व व्युत्पत्तिमें प्रवेश चाहने वालोंके लिए प्रवेशद्वार स्वरूप इस परीक्षामुख ग्रन्थको मैंने किया यह परीक्षामुखसूत्र आदर्श रूप है। आदर्शके धर्मका सद्भाव होनेसे यह सूत्र भी आदर्श है। आदर्श नाम दर्पणका है। जैसे कि आदर्श शरीरके अलंकार चाहने वाले पुरुषोंको स्पष्ट दिखा देता है उनके मुखपर जो शोभा है, आभूषण हैं उनको आदर्श स्पष्ट दिखा देता है। और, यों दिखा देता है कि उसमें यदि कुछ विरूपक है, कुछ अनिष्ट है तो उसे वह छोड़ दें और उसमें यदि सुरूपक है तो उसे वह ग्रहण करे। इस रूपसे वह आदर्श स्पष्टतया शरीर शोभा चाहने वाले पुरुषोंको दिखा देता है और लोग करते भी हैं यही। इसी उद्देश्यसे दर्पणमें अपना मुख देखते हैं कि यदि कुछ कमी रह गयी हो कहीं कुछ विरूपकपना आ गया हो तो उसे दूर करदें और सही शोभाके रूपमें अपने मुखको सजालें इसी भावसे दर्पणको देखा करते हैं। तो यह परीक्षामुखसूत्र उस दर्पणकी तरह ही आदर्श है कि इसके द्वारा तत्त्व निर्णय करके जो हेय तत्त्व है उसे छोड़दे और जो उपादेय तत्त्व है उसे ग्रहण करले।

ग्रन्थरचनाकी प्रयोजकता—यहाँ कोई यह सोचे कि ऐसा शास्त्र किस लिए बनाया है आचार्यने? तो उसका उत्तर मिलता है संविदे शब्दसे अर्थात् सम्यग्ज्ञानके लिए इस शास्त्रकी रचना आचार्यने की है। किनके ज्ञानके लिए? उसका उत्तर दिया

है कि जो मुझ सरीखे बाल हैं, अज्ञ हैं उनके ज्ञानके लिए यह शास्त्र रचा है। इसमें आचार्यने अपनी उद्धतताका परिहार किया है। जो पुरुष मेरे समान अल्प प्रज्ञा वाले हैं उनको हेय उपादेय स्वके सम्यग्ज्ञान करानेके लिए यह शास्त्र रचा गया है। किस तरह? परीक्षादक्षोंकी तरह। जैसे कि परीक्षादक्ष पुरुष महापुरुष धुरन्धर आचार्य अपने ही समान शिष्योंको व्युत्पन्न करनेके लिए उनके सम्यग्ज्ञानको रचते और वृद्धि करनेके लिए विशिष्ट शास्त्र रचते हैं तो उसी प्रकार मैंने भी इस ग्रन्थको बनाया है।

अनल्पप्रज्ञ होनेपर भी ग्रन्थकर्ताका औद्धत्य परिहारपरक वचन—यहाँ शंकाकार कहता है कि यह बात तो कुछ विरुद्ध जैसी जच रही है। जो अल्पप्रज्ञ हों, जिनकी बुद्धि अल्प है वे परीक्षादक्ष आचार्योंकी तरह ऐसे ग्रन्थोंको कैसे बना सकते हैं। और, प्रारम्भ किए हुए ऐसे विशिष्ट शास्त्रको कैसे समाप्त कर सकते हैं? इस श्लोक में कहा यह गया है कि मुझ सरीखे जो अल्पबुद्धि वाले लोग हैं उनके ज्ञानके लिए परीक्षादक्ष चतुर ऊँचे आचार्योंकी तरह यह ग्रन्थ बनाया है। तो इसमें विरोध जच रहा कि अल्पप्रज्ञ वाले परीक्षादक्षकी तरह ग्रन्थ कैसे बना सकते हैं? अथवा ग्रन्थ बनाना प्रारम्भ करें तो उसका निर्वहण याने विधिपूर्वक समाप्ति तक निभाना कैसे कर सकते हैं? और, यदि ऐसे परीक्षादक्ष महान आचार्योंकी तरह ग्रन्थ बनायें अथवा प्रारम्भ किए हुए ऐसे विशिष्ट ग्रन्थोंको समाप्त कर सकें तो फिर उनको अल्पबुद्धि कैसे कहा जा सकता है? इसमें तो परस्पर विरोधकी बात आती है। समाधानमें कहते हैं कि यह भी बात शंकामें न रखनी चाहिए। क्योंकि ग्रन्थकारने तो अपनी उद्धतताका परिहारमात्र ही दिखाया है। वे आचार्य समर्थ थे। माणिक्यनन्दी आचार्य जिन्होंने परीक्षामुखसूत्र ग्रंथ रचा है, वे अल्प बुद्धि वाले न थे। और, परीक्षादक्षोंकी तरह इस न्यायसूत्र की अमर कृतिकी व्याख्या करनेमें अपने मुखसे ऐसी ही बात कह सकते हैं जिसमें उद्धतताका परिहार हो। तो यहाँ ग्रन्थकारने इन शब्दोंको कहकर अपनी अहंकारताका परिहार किया है? उनमें विशेष बुद्धि थी, यह बात तो उनके विशिष्ट शास्त्ररूप कार्यकी उपलब्धिसे ही निश्चित हो जाती है। ऐसे तर्कयुक्त दार्शनिक ग्रन्थ जैसी कुञ्जीको बहुत संक्षिप्त रूपसे बनाया है, इतना महान ग्रन्थ आज यहाँ उपलब्ध है। इससे ही यह सिद्ध होता है कि आचार्य महाराजको इस विषयका बहुत बड़ा ज्ञान था इसलिये यह शंका नहीं की जा सकती कि इस सूत्रके रचयिता अल्पबुद्धि वाले थे। यह विशिष्ट ग्रन्थ उनकी अद्भुत बुद्धिका परिचय करा रहा है। विशिष्ट कार्य किसी साधारण कारणसे सम्भव नहीं हो सकता, ऐसा सम्यग्ज्ञान परिपूर्ण ग्रन्थ अल्प बुद्धि वाले आचार्यसे सम्भव नहीं हो सकता।

ग्रन्थकर्ता व ग्रन्थावधारयिताके अनल्पप्रज्ञत्वके प्रकाशक शब्दान्वय—अथवा इस ही श्लोकमें मादृशो बाल: इस शब्दके बीच एक अकार लगा लिया जाय तो शब्दार्थ यह निकलेगा कि मादृश: अबाल: अर्थात् जो मुझ सदृश अबाल

है, महान प्रज्ञाके धनी हैं उन पुरुषोंके हेय उपादेय तत्त्वका ज्ञान करनेके लिए मैंने इस शास्त्रको रचा है, जैसे कि परिक्षादक्ष महान आचार्य हेय उपादेय तत्त्वके ज्ञानके लिए ग्रन्थ रचते हैं। परीक्षादक्ष पुरुष जैसे परिक्षादक्ष लोगोंके लिए विशिष्ट शास्त्रोंको रचते हैं इसी प्रकार अनल्प बुद्धि वाले मैंने अनल्प बुद्धि वाले लोगोंके हेय उपादेय तत्त्वज्ञान के लिए इस ग्रन्थ को रचा है। अब शकाकार कहता है कि यह ग्रन्थ यदि बहुत बड़े बुद्धिवाले विद्वान पुरुषोंके सम्यग्ज्ञानके लिए रचा है तो जब वे बहुत तीक्ष्ण बुद्धिवाले हैं तो उनको ज्ञान स्वत ही सम्भव है। उनके लिए इस शास्त्रका रचना भी व्यर्थ है, जब कि यह कहा जा रहा है कि मुझ अनल्पप्रज्ञने अनल्पप्रज्ञ विद्वान महापुरुषोंके सम्यग्ज्ञानके लिए यह ग्रन्थ रचा, तो जब वे महान बुद्धिके धारी हैं तो उनको सम्यग्ज्ञान होना स्वत ही सम्भव है, फिर उनके प्रति शास्त्रो की रचना करना व्यर्थ ही है। समाधानमे कहते हैं कि ऐसी शका न करना चाहिए क्योंकि उन पुरुषोंको जिनमें कि हम यहाँ अनल्पप्रज्ञाका सद्भाव बता रहे हैं, इस सूत्रग्रन्थके अर्थके ग्रहणमें ही उक्त विशेषणको लगाया जा रहा है। और ऐसा ही यहाँ कहनेका भाव है जिससे कि यह अर्थ ध्वनित होता है कि जैसे मैं इस ग्रन्थके करनेमे विशिष्ट बुद्धि वाला हू, उसका जानकार हूँ उसी प्रकार इस सूत्रके अर्थके ग्रहण करनेमे जो विशिष्ट बुद्धि वाले हैं ऐसे महान बुद्धि वाले पुरुषोंके लिए यह शास्त्र रचा है अर्थात् महान बुद्धिके कहनेसे यह अर्थ लेना है कि इस ग्रन्थके अर्थके ग्रहण करनेमे जिनको बुद्धि महान है उन पुरुषोंके लिए यह शास्त्र रचना की गई है, परन्तु जो पुरुष अन्य शास्त्रोंके द्वारा हेय उपादेय तत्त्वके स्वरूपको भली भाँति जान लेते हैं उनके लिए यह सूत्र नहीं रचा ऐसा अर्थ लेना।

ग्रन्थाध्ययन करके कल्याणलाभ प्राप्त करनेमे ग्रन्थकर्ताके प्रति वास्तविक भक्ति—इस ग्रन्थमे आचार्यदेवने तत्त्वपरीक्षाके साधनका पहिले भली प्रकार वर्णन किया है। इस समस्त वर्णनको जानकर और इससे परीक्षा करनेकी युक्ति समझकर हम तत्त्वके स्वरूपका निर्णय करें और तत्त्व स्वरूपका निर्णय करके हम उसके अनुसार चलें। जैसे कि समस्त पदार्थ अपने स्वरूपसे उत्पादव्ययध्रौव्य वाले हैं सत् होनेमे प्रमेय होनेसे आदिक युक्तिया द्वारा निर्णय करके कि वस्तु इस प्रकार स्वतन्त्र है तो हम ऐसा ही उपयोग बनाकर स्वतन्त्र दृष्टि करके अपने मोह रागद्वेषको हटाये और इस अकल्याणमय जगतसे छूटकर अपने शाश्वत कल्याणमय ब्रह्मपदको पायें। ऐसे ही शुभ पुरुषार्थके लिए दर्शनशास्त्रके द्वारा वस्तुस्वरूप की परीक्षा की जाती है इसीलिए भव्य प्राणियोंपर करुणा करके आचार्यदेवने इस मुक्तिपथक कुञ्जीरूप न्यायसूत्रकी रचना की है। अब हम उनके इस करुणासे परिश्रमसे लाभ उठायें यही हमारी उनके प्रति वास्तविक भक्ति है।